आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
व्यक्तित्व और कृतित्व

लेखिका

कुमारी पी० वासवदत्ता एम० ए०
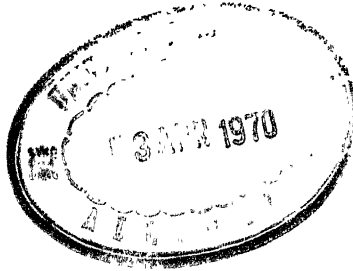
युगवाणी

प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन, कानपुर

प्रकाशक:—युगवाणी प्रकाशन कानपुर

प्रकाशनकाल:—अप्रैल सन् १९६५

मुद्रक:—विवेक प्रिंटर्स कानपुर

गुरुदेव

आचार्य-प्रवर पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी

को

सादर

समर्पित

प्राक्कथन

साधना के लिए आकांक्षा अपेक्षित है। मेरी प्रबन्ध-लेखन की आकांक्षा मेरे मानस में प्रारम्भ से ही विद्यमान थी और वह तभी पूर्ण रूप से पल्लवित हुई जब मुझे एम०ए० उत्तरार्द्ध की हिन्दी परीक्षा में अष्टम प्रश्नपत्र के विकल्प में किसी निर्धारित साहित्यिक विषय पर एक लघु प्रबन्ध लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वास्तव में प्रबन्ध लेखन का उद्देश्य परीक्षार्थी की साहित्यिक चेतना को जागृत करना और उसके अन्तर्गत व्यवस्थित साहित्यिक लेखन शैली को जन्म देना ही है जोकि उसके आगामी साहित्यिक जीवन की पूर्व पीठिका का कार्य कर सके। प्रबन्ध-लेखन की यह आकांक्षा मैंने हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष आचार्य वाजपेयी जी के सम्मुख व्यक्त की। उन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान कर मुझे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के समीक्षा और शोध सम्बन्धी कार्य पर समीक्षात्मक प्रबन्ध लेखन का आदेश दिया। उनके इस आदेश से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई और उनके आदेश को कार्यान्वित करने के लिए मैं अध्ययन में प्रवृत्त हुई। प्रबन्ध लेखन के अन्तराल मे विषय से सम्बन्धित सामग्री प्राप्त करने में मुझे संघर्ष का सामना करना पड़ा, परन्तु अपने पूज्य गुरुदेव की कृपा और आशीर्वाद सदा कार्य में प्रेरणा ही प्रदान करते रहे और इस प्रकार आठ माह के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् मैं इस प्रबन्ध को प्रस्तुत कर सकी हूँ।

- आधुनिक हिन्दी समीक्षा का भविष्य उज्ज्वल है और वह अपने नव्यतम रूपों में विभिन्न प्रवृत्तियों को समाहित किए हुए एक नवीन दिशा की ओर गतिशील है। शुक्लोत्तर समीक्षा में जहां एक ओर स्वच्छंदतावादी समीक्षा पद्धति उदित हुई हैं वहाँ आधुनिक हिन्दी समीक्षा में समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक शैलियां भी प्रचलित है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा के प्रणेता आचार्य वाजपेयी जी हैं। उन्होंने अपनी नवीन मौलिक उद्भावनाओं और साहित्यिक प्रतिभा द्वारा इस समीक्षा को जीवन्त रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार मानवतावादी और समाजशास्त्रीय समीक्षा शैलियों का भी आधुनिक हिन्दी समीक्षा में विशेष योगदान एवं प्रदेय है। मानवतावादी समीक्षा आधुनिक हिन्दी समीक्षा को एक विशेष स्वरूप प्रदान करती है। अन्य शब्दों में मानवतावादी समीक्षा आधुनिक हिन्दी समीक्षा का एक प्रमुख अंग है। मानवतावादी समीक्षा के प्रवर्तक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी हैं जिन्होंने समीक्षा क्षेत्र में एक नव्यतम स्वरूप प्रस्तुत किया है। अपने इस प्रबन्ध में मैंने डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के शोध और समीक्षा कार्यों पर प्रकाश डाला है जिससे उनका समीक्षक और शोधकर्त्ता व्यक्तित्व अधिक स्पष्ट रूप से उद्घाटित हो सके।

प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के जीवन एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। उनकी प्रारम्भिक जीवन की झांकियां, स्वभाव और अध्ययन का क्षेत्र, विभिन्न रुचियां इस अध्याय के विषय हैं। अन्य साहित्यकारों की भांति द्विवेदीजी को भी प्रारम्भ से संघर्षों और जीवन में झंझावतों का सामना करना पड़ा है। प्रबन्ध के इस अध्याय की सामग्री एकत्रित करने के लिए अत्यधिक कठिनाइयां और बाधाय उपस्थित हुई हैं फिर भी अपने गुरुदेव द्वारा समय-समय पर प्राप्त आशीर्वाद के फलस्वरूप मैंने सामग्री का संचयन किया है। आचार्य द्विवेदीजी के पत्र-सम्पर्क आदि द्वारा प्राप्त एवं स्वत: यत्र-तत्र से आकलित सामग्री ही इस अध्याय का एकमात्र आधार बन पाया है।

प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय द्विवेदीजी के साहित्यिक निर्माण कार्य से सम्बन्धित है जिसमें कि उनकी समस्त साहित्यिक कृतियों और रचनाओं पर एक विहंगम दृष्टिपात किया गया है। उनकी समस्त साहित्यिक कृतियों का विभिन्न रूपों में वर्गीकरण भी किया गया है। प्रथम कोटि में उनके समीक्षात्मक ग्रन्थ हैं। इसके अन्तर्गत उनकी 'सूर-साहित्य' 'साहित्य का साथी', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर 'विचार' आदि समीक्षात्मक कृतियां हैं। साहित्यिक कृतियों का द्वितीय रूप उनके शोध-ग्रंथों में प्रस्फुटित हुआ है। 'कबीर', 'मध्यकालीन धर्मसाधना', 'नाथ संप्रदाय', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' आदि उनके शोध-ग्रन्थ हैं जो इस प्रबन्ध का प्रमुख प्रतिपाद्य बने हैं। तृतीय प्रकार की रचनायें द्विवेदीजी की निबन्ध पुस्तकें हैं जिनमें द्विवेदीजी का निबन्धकार का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हुआ है। उनके सम्पादित ग्रन्थों में 'संदेशरासक', 'पृथ्वीराज रासो', 'नाथसिद्धों की बानियां' आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। द्विवेदीजी के कथा-साहित्य से सम्बन्धित तीन पुस्तकें हैं 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'मेघ-दूत एक पुरानी कहानी' तथा 'चारु चन्द्रलेख'। वस्तुत: 'मेघदूत एक पुरानी कहानी'—मेघदूत का कलात्मक अनुवाद है। इस प्रकार इस अध्याय में उनकी समस्त कृतियों का वर्गीकरण कर उनका रचनातिथि सहित परिचय दिया गया है।

प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में द्विवेदीजी के समीक्षक व्यक्तित्व का निरूपण किया गया है। उनकी समीक्षा के प्रमुख पीठिका उनकी मानवतावादी दृष्टि है जिसको उनकी समस्त समीक्षात्मक कृतियों में देखा जा सकता है। मानवतावादी समीक्षक के अतिरिक्त इस अध्याय में द्विवेदीजी की साहित्य एवं कलागत मान्य-ताओं एवं प्रतिमानों का भी प्रतिपादन हुआ है। प्राचीन साहित्य सम्बन्धी विचारों के अतिरिक्त द्विवेदीजी की आधुनिक साहित्य सम्बन्धी समीक्षाओं एवं आदर्शों पर भी प्रकाश डाला गया है। आधुनिक समीक्षादर्श के संदर्भ में द्विवेदीजी के वाद सम्बन्धी (छायावाद, प्रगतिवाद, आदर्शवाद) दृष्टिकोणों का भी उल्लेख

किया गया है । समग्रत: उनकी समस्त कृतियों का आधार उनकी व्यापक मानवीय दृष्टि ही प्रतीत हुई है ।

चतुर्थ अध्याय में द्विवेदीजी के शोध सम्बन्धी कार्यों पर दृष्टिपात किया गया है । अध्याय के प्राथमिक अंश में शोध के स्वरूप, शोध और समीक्षा का अन्तर एवं हिन्दी में शोध-कार्य की परम्परा आदि पर विचार किया गया है । हिन्दी की शोध-कार्य की परम्परा का आलेख करते हुए द्विवेदीजी के शोध संबन्धी कार्यों का विवरण दिया गया है । द्विवेदीजी के शोध-कार्य सम्बन्धी क्षेत्रों को भी इस अध्याय के अन्तर्गत रखा गया है ।

समीक्षक एवं शोधकर्त्ता व्यक्तित्व के साथ ही उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का एक अन्य अंग इतिहास लेखक के रूप में प्राप्त होता है । अध्याय के प्रारंभिक भाग में इतिहास लेखन सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों को प्रदर्शित किया गया है । द्विवेदीजी के इतिहास लेखन सम्बन्धी आदर्श और विशेषतायें क्या हैं ? शुक्लजी और द्विवेदीजी के हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन सम्बन्धी विचार और उनके औचित्य पर भी विचार किया गया । इसके अतिरिक्त इस अध्याय में द्विवेदीजी की इतिहास सम्बन्धी उपलब्धियों और प्रदेयों का भी विवेचन किया गया है ।

समीक्षक एवं शोधकर्त्ता के अतिरिक्त प्रबन्ध के छठे अध्याय में द्विवेदी जी के आचार्यत्व की भी चर्चा की गई हैं । आचार्यत्व को प्राचीन परम्परा का उल्लेख करते हुए आधुनिक हिन्दी साहित्य में उसकी विकसित परम्परा इस अध्याय का विषय वस्तु बनी है । आचार्य द्विवेदीजी के आचार्यत्व के उपकरण क्या हैं, इस प्रश्न का भी समाधान इस अध्याय में हुआ है ।

सातवाँ अध्याय शैलीकार द्विवेदी का है । इसमें हमने द्विवेदीजी के अन्तरंग और बहिरंग शैली प्रसाधनों पर विचार किया है । नवां अध्याय उप-संहार और प्रदेय का है । इसमें प्रथम अध्याय से अष्ट अध्याय तक के विषय के सारांश को प्रस्तुत किया गया है ।

द्विवेदीजी के समीक्षक व्यक्तित्व के प्रतिपादन के साथ ही युगीन समीक्षकों एवं शोधकर्त्ताओं से उनकी तुलना प्रबन्ध के अष्टम अध्याय में की गई है । इस अध्याय के अन्तर्गत हिन्दी समीक्षा एवं शोध की परम्पराओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार कर द्विवेदीजी की समीक्षात्मक एवं शोध सम्बन्धी उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है । अध्याय के द्वितीय चरण में द्विवेदीजी की शोध संबन्धी दिशाओं और विशेषताओं को भी देखा गया है । नवम अध्याय में द्विवेदीजी का हिन्दी साहित्य को प्रदेय क्या है, इस पर विचार किया गया है ।

इस प्रबन्ध के प्रस्तुत किये जाने का पूर्णरूपेण श्रेय परम पूज्य गुरुदेव आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी को है जिनसे मुझे पितृवत् स्नेह और आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। उन्होंने मेरी साहित्यिक चेतना को अपने परम ज्ञान के आलोक से एक नवीन ज्योति प्रदान की हैं। मेरी साहित्यिक अभिरुचियों को जागृत ही नहीं किया वरन् उसे व्याप्ति भी प्रदान की है। मेरा यह प्रबन्ध उनकी निरन्तर प्रेरणा और आशीर्वाद का परिणाम मात्र है

मैं अन्य गुरुजनों को भी धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकती जिन्होंने समय-समय पर मुझे इस प्रबन्ध सम्बन्धी पुस्तकें प्रदान कर इस कार्य को अवि-रल रूप से आगे बढ़ाने में सहायता प्रदान की है। साथ ही बहिन पद्मा वाजपेयी को अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकती जिन्होंने मुझे इस प्रबन्ध लेखन में पूर्ण रूप से स्नेह एवं प्रेरणा प्रदान की है। समय-समय पर उन्होंने मुझे सामग्री के संचयन हेतु अनेकानेक पुस्तकों से लाभान्वित किया है। अत: मैं उनके प्रति आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

मेरा यह प्रबन्ध लेखन का प्रथम प्रयास है। मैं अपने विचारों को कहाँ तक प्रतिपादित कर सकी हूँ और कहां तक सफलता प्राप्त कर सकी हूँ इसका निर्णय विद्वज्जनों पर ही छोड़ती हूँ।

हिन्दी विभाग
सागर विश्वविद्यालय

पी० वासवदत्ता

भूमिका

सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की एम० ए० की परीक्षा के निमित्त एक लघुप्रबन्ध लिखने की स्वीकृति दी जाती है। प्रतिवर्ष एम० ए० के कुछ चुने हुए विद्यार्थी इस प्रकार के प्रबन्ध लिखते हैं जिनमें कभी किसी साहित्यकार, लेखक या कवि के समग्र लेखन का अध्ययन किया जाता है और कभी किसी साहित्यिक धारा, प्रवृत्ति, समस्या आदि का विचार किया जाता है। यद्यपि इन्हें लघुप्रबन्ध की अभिधा दी जाती है, परन्तु कभी-कभी ये आकार में दीर्घ हो जाते हैं और इनमें विषय का समग्र स्थापन किया जाता है। कु० वासवदत्ता का प्रस्तुत प्रबन्ध इसी प्रकार का है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक, शोधकर्ता और पंडित आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की संक्षिप्त जीवनी के साथ उनके व्यक्तित्व और साहित्यिक निर्माण कार्य का विशद रूप में उल्लेख किया गया है। प्रबन्ध को आवश्यक-अध्यायों में बांटकर प्रत्येक अध्याय में पक्ष-विशेष का आकलन और अध्ययन किया गया है। यों तो द्विवेदी जी एक रचनात्मक साहित्यस्रष्टा भी हैं, परन्तु मूलतः वे एक सांस्कृतिक-चिंतक हैं। इस प्रबन्ध में द्विवेदी जी के रचयिता रूप की केवल प्रासंगिक चर्चा की गई है, प्रमुखतः उनके चिंतक रूप का विस्तार के साथ आलेख किया गया है। प्रबन्ध-लेखन के समय इसी आशय का शीर्षक दिया गया था, पर पुस्तक रूप में प्रकाशित होते समय शीर्षक कुछ बदल दिया गया है। इसीलिये यह स्पष्टीकरण आवश्यक था।

कु० वासवदत्ता ने परिश्रमपूर्वक और श्रद्धापूर्वक यह प्रबन्ध लिखा है। द्विवेदी जी की साहित्यिक और चिंतनात्मक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हुए यत्र-तत्र कतिपय अन्य साहित्यिकों और विचारकों से उनकी तुलना भी की गयी है, परन्तु वहां आशय इतना ही रहा है कि द्विवेदी जी की विशेष प्रवृत्ति-दिशा को समझ लिया जाय और उनकी मौलिक उपलब्धियों को उन्हीं भूमिकाओं पर देखा जाय। तुलना का आशय कहीं भी किसी की श्रेष्ठता या अवरता प्रदर्शित करना नहीं रहा है। एक श्रद्धालु विद्यार्थी के लिये ऐसा करना न सम्भव ही था, न उचित ही।

यह कहना तो समीचीन न होगा कि इस प्रबन्ध में द्विवेदी जी के साहित्य का विवेचन एकदम निर्भ्रान्त रूप से हुआ है, परन्तु उनके प्रदेय को यथासंभव

अविकल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है। निर्देशक के रूप में मैंने इस प्रबन्ध के प्रणयन में यथेष्ट रुचि ली है, इसलिए इसके गुण दोषों में मेरा भी दायित्व किसी-न-किसी मात्रा में स्वीकार करना होगा, और उसे मैं स्वीकार करता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर मुझे विशेष प्रसन्नता है। कु० वासवदत्ता प्रथम श्रेणी में एम० ए० करने के पश्चात् प्राचीन और नवीन साहित्य-सिद्धान्तों का विकासात्मक अध्ययन कर रही है। मुझे आशा है कि उसके लेखन में क्रमश: अधिक प्रौढ़ता आएगी और वह हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य कर सकेगी।

सागर विश्वविद्यालय
१५-४-६५

—नन्ददुलारे बाजपेयी

अनुक्रमणिका

१

जीवन और व्यक्तित्व

जीवनी

इतिहास इसका साक्षी है कि प्राचीनकाल से अब तक जितने भी प्रसिद्ध साहित्यकार हुए हैं, उनमें से अधिकांश को आरंभिक जीवन में या अपने जीवन-काल में कुछ-कुछ कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ा है। आधुनिक युग में भी कवियों और लेखकों पर सरसरी दृष्टि दौड़ाने पर भी यह बात अवगत होती है। अपवाद स्वरूप कुछ उदाहरण अवश्य मिल जायें, यह दूसरी बात है। विदेशों में भी यही बात हमें नजर आती है, उदाहरणार्थ जानसन को ले सकते हैं। उन्होंने भी अपने जीवनकाल में अनेक कठिनाइयों का सामना किया था, फिर भी साहित्य रचना में कोई अवरुद्धता नहीं आने दी। हमारे द्विवेदी जी भी इसके अपवाद न थे। उन्हें भी अपना प्रारम्भिक जीवन कठिनाइयों में बिताना पड़ा था और इन्हीं कठिनाइयों की कसौटी में जीवन रूपी स्वर्ण को कसकर खरा स्वर्ण के रूप में अपने जीवन को बनाया तथा अपनी कृतियों द्वारा गिरी हुई जनता को साहस देने का भार उठाया। इसलिए भी वे मानवतावादी लेखकों में शीर्ष स्थान रखते हैं। अब हम उनके साहित्यिक जीवन के साथ-साथ व्यक्तिगत जीवन संबंधी घटनाओं, व्यक्तित्व सम्बन्धी विचारों, व्यक्तित्व की विशेषताओं, साहित्यिक रचनाओं और उनके क्रमिक विकास, तथा उनके अन्य कार्यों, पर विचार करेंगे।

उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में एक छोटा सा ग्राम था जहाँ द्विवेदी जी के प्रपितामह के पिता के नाम पर ही 'आरत दुबे' का छपरा बसाया गया था। वह जिस बड़े गांव का हिस्सा था उस गांव का नाम ओझबलिया था। उसी गांव में उनके बाबा रहते थे। द्विवेदी जी के वृद्ध प्रपितामह (आरत दुबे) ने यह छोटा-सा टोला बसाया था। उनको ज्योतिष शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। इसी ज्योतिष से काफी पैसा भी कमाया था। पारिवारिक आर्थिक दशा फिर भी दीन थी। इसी परिवार में आचार्य जी का जन्म संवत् १९६४ शुद्ध श्रावण शुक्ला एकादशी को अर्थात् अगस्त १९०७ ई० में हुआ था। इनके पिता पं० अनमोल द्विवेदी बड़े अध्ययनशील एवं संत स्वभाव के व्यक्ति हैं। ये महावीर हनुमान के परम भक्त हैं। द्विवेदी जी की माता का नाम परमज्योतिदेवी है। आजकल दोनों वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके हैं और भगवान विश्वनाथ की पुरी काशी में निवास कर रहे हैं।

द्विवेदी जी के बचपन का नाम बैजनाथ द्विवेदी था। एक बार की बात है कि इनके पिता मुकदमा लड़ रहे थे। उस समय मुकद्दमे में रुपयों की बड़ी आश्यकता थी। पास में रुपए नहीं थे पर भाग्यवश उनको कहीं से १००० रुपयों की अचानक प्राप्ति हुई उससे अनमोल द्विवेदी जी बड़े प्रसन्न एवं संतुष्ट हुए। पास-पड़ोस के लोगों ने द्विवेदी जी का नाम बैजनाथ से बदल कर हजारीप्रसाद रख दिया और उसी दिन से ये इसी नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनका विवाह सन् १९२७ में श्रीमती भगवती देवी के साथ हुआ था। इनके चार पुत्र और तीन पुत्रियाँ हैं।

द्विवेदी जी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने जिले के प्राइमरी स्कूल रेपुरा में हुई। सन् १९२० में अपने चाचा की देखरेख में बसरिकापुरा मिडिल स्कूल से उन्होंने प्रथम श्रेणी में मिडिल परीक्षा पास की। मिडिल पास करने के पश्चात् उन्होंने संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ किया। इन्होंने संस्कृत की पढ़ाई पहले पराशर ब्रह्मचर्याश्रम में, जो गांव के पास ही था, शुरू की। पश्चात् रणवीर संस्कृत पाठशाला काशी विश्वविद्यालय से सन् १९२३ में प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की। १९२९ में साहित्य की परीक्षा, फिर १९३० में शास्त्राचार्य परीक्षा पास की। अंग्रेजी स्कूलों में नियमित अध्ययन नहीं हुआ। घर वालों की स्थिति आर्थिक दृष्टि से बहुत सामान्य थी। स्वयं इधर-उधर से संग्रह करके अंग्रेजी की एडमिशन परीक्षा (हाईस्कूल) सन् १९२७ ई० में काशी विश्वविद्यालय से ही पास की। सन् १९२९ ई० में इण्टरमीडियेट परीक्षा एवं आचार्य परीक्षायें पास कीं।

वह अपनी रचनाएँ इन्हें बड़े चाव से सुनाया करते थे और इन्हें कविताएँ लिखने के लिये सदैव प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया करते थे। द्विवेदी जी का कहना है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पास जाते मुझे डर लगता था। बाबू श्यामसुन्दरदास जी भी मेरी पहुंच से बाहर थे। हरिऔध जी और लाला भगवानदीन दोनों की मुझ पर बड़ी कृपा रहती थी। तब मैं ब्रजभाषा में कविताएं लिखा करता था। मेरी रचनाएं वीर रस पूर्ण हुआ करती थीं, मैं उनका पाठ भी बड़े जोरशोर से किया करता था। हरिऔध जी मुझे कभी-कभी आधुनिक भूषण कहा करते थे।

शांतिनिकेतन में एक हिन्दी अध्यापक की आवश्यकता थी। उन दिनों आशा देवी (अब श्रीमती आशा आर्यनायकम्) वहां रेक्टर थीं। वे एक अच्छे हिन्दी अध्यापक की खोज में थीं। हरिऔध जी ने द्विवेदी जी का परिचय इतने प्रभावपूर्ण शब्दों में दिया कि एकदिन आशादेवी जी बहुत प्रभावित हुईं और इनको शांतिनिकेतन ले गईं। यह घटना नवम्बर १९३० ई० के प्रारंभ की है।

कृतियाँ

शांति निकेतन पहुंचने पर दूसरे प्रकार के संस्कार पड़ने लगे। द्विवेदी जी ६ नवम्बर को चलकर ७ नवम्बर १९३० को शांति निकेतन पहुंचे और उन्होंने ८ नवम्बर को कार्य भार संभाला। द्विवेदी जी इन तिथियों को 'द्विजत्व' प्राप्ति की तिथि मानते है। यहां से वे अपना दूसरा जन्म मानते हैं। इसीलिये तिथियाँ द्विजत्व प्राप्ति की तिथियां हैं। धीरे-धीरे महान व्यक्तियों से परिचय हुआ। वहां कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महामहोपाध्याय पं० विधु शेखर भट्टाचार्य, आचार्य क्षितिमोहन सेन, आचार्य नंदलाल बसु, श्रीमान दीनबंधु सी० एफ एण्ड्रूज और अन्य अनेक देशी-विदेशी विद्वानों के संपर्क में आए। वहीं पं० बनारसीदास चतुर्वेदी से परिचय हुआ और 'विशाल भारत' में लिखना शुरू किया। इन व्यक्तियों से आचार्य जी काफी प्रभावित हुए। वे स्वयं नहीं कह सकते उन्होंने किससे क्या लिया? यहीं से इनको साहित्य-सेवा की प्रेरणा मिली। इनका यश क्रमश: फैलने लगा। शांतिनिकेतन में कार्य करते हुए उनका हिन्दी, अंग्रेजी बंगला आदि के विद्वानों से संपर्क हुआ और वे इन यशस्वी विद्वानों एवं साहित्यकारों से प्रभावित हुए और बहुत कुछ सीखा भी। परिणामत: उनकी साहित्यिक प्रतिभा चमक उठी। सन् १९३० के आसपास आरम्भ कर आज तक एक अखंड तपस्वी की भांति द्विवेदी जी साहित्य की साधना में संलग्न हैं। शांतिनिकेतन में रहते हुए उन्होंने कई ग्रंथों का निर्माण किया है।

'सूर साहित्य' इन्होंने सन् १९३२ में लिखा था तथा इसका प्रकाशन सन् १९४० में हुआ था। यही उनका सर्वप्रथम ग्रंथ है। इस ग्रंथ के बारे में

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भूमिका में इस प्रकार लिखा है, "श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्तितत्व, प्रेमतत्व, राधाकृष्ण मतवाद आदि के संबंध में जो कुछ भी उल्लेख योग्य जहां कहीं से पा सके हैं उसे इस ग्रंथ में संग्रह किया है और उस पर भली भांति विचार किया है।" दूसरा ग्रंथ उनका 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' है जिसका रचनाकाल सन् १९३९–४० है। हिन्दी साहित्य को एक नवीन दृष्टिकोण से पाठकों के सामने लाने की तीव्र इच्छा थी जिसकी पूर्ति द्विवेदी जी ने इस पुस्तक के द्वारा की है। इस पुस्तक में नवीन दृष्टिकोण को जिस स्पष्टता और योग्यता से व्यक्त किया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह पुस्तक हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं है और न यह ऐसे किसी इतिहास का स्थान ही ले सकती है। आधुनिक इतिहासों को यह अधिक स्पष्ट करती है और भविष्य में लिखे जाने वाले इतिहासों की मार्गदर्शिका है। इसी में इसका महत्व है। तीसरी पुस्तक 'नख दर्पण में हिन्दी कविता' नामक छोटी-सी पुस्तिका का प्रकाशन भी सन् १९३४ में हुआ है। चौथी पुस्तक 'कबीर' है। द्विवेदी जी ने शांतिनिकेतन में रहकर कबीर की रचना की है। इसका रचनाकाल सन् १९३४ है। इसमें कबीर के व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारों की आलोचना की गई है। साथ ही साथ यह एक शोधात्मक ग्रंथ है। इसका छठा संस्करण निकल चुका है। इससे इसकी प्रसिद्धि का अनुमान लगा सकते हैं। सन् १९४० में 'मध्यकालीन धर्मसाधना' पाठकों के सामने प्रस्तुत हुआ। इस पुस्तक में कुल मिलाकर ३७ निबन्धों का संग्रह है। पर इनको क्रम से बैठाकर एक ग्रंथ का रूप देने की सफल चेष्टा की गई है। इस पुस्तक से मध्यकाल पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सन् १९४४ में उन्होंने 'सूर और उनका काव्य' नामक पुस्तिका की रचना की। इस पर भी सूर तथा उनकी कृतियों पर संक्षेप में विचार किया गया है। यद्यपि यह पहले एक लेख का स्वरूप लेकर पाठकों के सामने आया तत्पश्चात् उसी लेख को एक पुस्तिका का स्वरूप दे दिया गया। इसके बाद सन् १९४० में बाणभट्ट की रचना हुई जिसके लिखने की पृष्ठ-भूमि ही अलग है। अभी उसी पर विचार करेंगे।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखे जाने की कहानी भी अजीब है। आचार्य द्विवेदी जी ने एक वराह मूर्ति देखी थी जिसमें परम तेजोमय वराह नन्हीं-सी सलज्जा धरित्री का उद्धार कर रहे हैं। इस प्रतीक को उन्होंने चंन्द्रगुप्त, रामगुप्त से जोड़ा। दूसरे जब वे बी० ए० में रत्नावली पढ़ाते थे तब विवादग्रस्त, मंगलाचरण को लेकर उनका मन बाणभट्ट की ओर गया। तीसरे इसी बीच जब राहुल जी ने 'वोलगा से गंगा' में बाणभट्ट को नाचगान, व्यसनी,

लंपट तथा शठ अंकित किया (यही बात श्रीहर्ष ने भी उसके बाबत कही थी) तो आचार्य जी ने इसी तथ्य को रोमांटिक तथा प्रतीतात्मक परिवेश देने के लिए राहुल जी के दो अध्यायों से अधिक चार पांच अध्याओं में बाणभट्ट की एक जीवनी लिखने तथा अंत में दीदी का पत्र छापने और हावेलकृत कादम्बरी भूमिका का खंडन करने के लिये उन्हें प्रेरणा मिली। उन्होंने इसे उपन्यास के लिये नहीं लिखा था, किन्तु 'विशाल भारत' में पहली दो किस्तों के छपते ही सबसे पहले राहुल जी का प्रशंसात्मक पत्र और फिर स्व० चतुरसेन शास्त्री का पत्र मिला। फिर पांच अध्यायों में समाप्त किए जाने के लिए संकलित यह नावलेट एक अप्रतिम उपन्यास बन गया।[१]

बाणभट्ट एक ऐतिहासिक उपन्यास है। आजकल कई उपन्यास निकलते रहते हैं। फिर भी बाणभट्ट की कथा अधिकाँश उपन्यासों से भिन्न है। यह निराला और अनूठा उपन्यास है। श्री गोवर्द्धन शर्मा एम० ए० ने बाणभट्ट की आत्मकथा के बारे में लिखा है कि सफल आलोचक बनने के लिए विश्लेषण की जिस सूक्ष्मता को पाना आवश्यक है वही आलोचनात्मक तत्व (क्रिटिकल फ्ैकलटी) संभवतया उपन्यास की सहृदयता में बाधा पहुँचा सकता है लेकिन द्विवेदी जी की आलोचनाओं और निबन्धों में पाठक के हृदय को गुदगुदाने, सांस्कृतिक स्मृति को जगाने और बहा ले जाने की जो शक्ति है, वही बाणभट्ट की आत्मकथा को सफल उपन्यास बना सकी है। द्विवेदी जी रचित इस आत्मकथा में न तो कहीं इतिहास तत्व की अवहेलना हुई है और न उपन्यास तत्व का बलिदान ही। इस रचना में कहीं भी वस्तुगत अस्वाभाविकता नहीं मिलती।[२] इतिहास के अच्छे विद्वान भगवतशरण उपाध्याय सप्रयास ढूढ़ने के बाद भी श्री द्विवेदी जी के ऐतिहासिक निरूपण में कहीं कोई छिद्र न पा सके। शैली, भाषा, स्वाभाविकता, तत्कालीन समाज के चित्रण की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ उपन्यास भी है। 'बाण-भट्ट की आत्मकथा', यह नाम ही पाठकों के हृदय में भ्रम उत्पन्न कर देता है। बाण की अन्य रचनाओं की भाँति इसका भी अधूरा होना बाण की दीर्घ प्रलंबय-मान अलंकृत भाषा शैली, तत्कालीन समाज व संस्कृति का सजीव उभरा हुआ चित्र, बाण भट्ट, हर्षवर्द्धन, कुमार कृष्ण वर्द्धन लोरिकदेव आदि ऐतिहासिक चरित्रों की अवतारणा और आत्मकथा की सहज स्वाभाविक विशेषतायें भावुकता प्रवाहमय अभिव्यंजना सब इस भ्रम को पैदा करने में सहायक होते हैं कि बाण

१—उद्धृत-धर्मयुग-फरवरी १९६२।
२—साहित्य संदेश दिसम्बर १९५४।

भट्ट की आत्मकथा शायद वास्तविक आत्मकथा का हिन्दी रूपान्तर हो। संस्कृत के उद्भट विद्वान् डा०शान्तिकुमार नानूराम व्यास भी एक बार इसी भ्रम में पड़ गये यह है द्विवेदी जी की प्रतिभा का चमत्कार। इसके साथ ही उन्होंने एक आस्ट्रियन महिला केथेरायन को मिली पाण्डुलिपि की कथा की मौलिक उद्भावना करके इस भ्रम को अधिक दूर तक बढ़ा दिया है।[1]

तत्पश्चात् 'नाथ संप्रदाय' का प्रकाशन सन् १९५० में हुआ। भारतीय धर्म साधना के इतिहास में नाथ संप्रदाय बहुत महत्वपूर्ण संप्रदाय रहा है पर उसके बारे में पुस्तक लिखना बड़ा कठिन कार्य है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही डा० बड़थ्वाल और राहुल सांस्कृत्यायन ने यद्यपि थोडा बहुत काम किया था, तो भी यह संप्रदाय एक प्रकार से उपेक्षित रहा है। शोधात्मक ग्रन्थों में इसकी गणना की जाती है। हिन्दी साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

अनेक पुस्तकों के अतिरिक्त द्विवेदी जी समय-समय पर निबंध भी लिखते रहते हैं। ऐसे ही निबन्धों का संग्रह अब तक कई निकल चुके हैं। द्विवेदी जी ने इन निबन्धों में संस्कृति, इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विविध विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जो एक तरह गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक कहे जा सकते हैं। जिनमें अशोक के फूल, विचार और वितर्क, हमारी साहित्यिक समस्यायें आदि निबन्ध संग्रह क्रमशः सन् १९४७, १९४९ एवं १९५० को निकले हैं।

इन निबन्ध संग्रहों के अलावा अनूदित ग्रंथ भी हैं जिन्हें इन्होंने शान्तिनिकेतन में रहते समय तैयार किया था। द्विवेदी जी रवीन्द्रनाथ से बहुत प्रभावित हुए थे साथ ही बंगला भाषा से भी। अनूदित ग्रन्थ रवीन्द्रनाथ द्वारा लिखे और बंगला भाषा के हैं। इनमें मेरा बचपन, लाल कनेर आदि, कई कवितायें हैं। संस्कृत से इन्होंने प्रबन्ध चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध संग्रह आदि ग्रंथों का अनुवाद किया है जो इतिहास के पुनर्गठन के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

सन् १९५५ में 'मेघदूत' एक पुरानी कहानी भी लिखी है जिसकी भाषा सरल एवं प्रवाहमान है। उपन्यास का स्थान भी रिक्त नहीं छोड़ा है। यद्यपि कहने के लिए उपन्यास एक ही लिखा है पर उसके लिखने की शैली नवीनतम है जो पाठक को आकृष्ट किए बिना नहीं रहती, जिसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार शान्तिनिकेतन में रहकर अनेक स्वतन्त्र पुस्तकों, अनेक निबन्धों,

---

१—साहित्य सदेश—दिसम्बर १९५४।

अनेक अनूदित पुस्तकों की रचना की है जो इनके यश रूपी सौरभ को चतुर्दिक फैलाने में समर्थ हैं।

इनकी इस चतुर्दिक प्रतिभा को पं० अमरनाथ जी झा ने अच्छी तरह पहचाना और इन्हीं दिनों बिना आवेदन पत्र दिए ही उन्होंने द्विवेदी जी को काशी विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग के रीडर पद पर इनकी नियुक्ति कर दी। इस पद को इन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार शान्तिनिकेतन में ही हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद को ये बीस वर्षों तक सम्मान के साथ सुशोभित करते रहे। इसी बीच श्री गोविन्द मालवीय जी हिन्दू विश्वविद्यालय के नये कुलपति पद पर प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने बिना आवेदन पत्र भेजे ही द्विवेदी जी को हिन्दी प्रोफेसर तथा हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रूप में नियुक्त कर दिया। ये बड़ों का दबाव न टाल सके और सन् १९५० से १९६० तक वे इसी पद पर रहे। यहाँ रहकर भी आप साहित्य की निरन्तर सेवा करते रहे। इसी संदर्भ में उन दिनों लिखी पुस्तकों पर विचार कर लेना ज्यादा उचित मालूम होता है।

सन् १९५० में 'साहित्य का साथी' नामक पुस्तक की रचना की थी जो विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है, इस दृष्टि से बहुत ही उपयोगी एवं ज्ञानवर्द्धक है। समिति की उपाधि परीक्षाओं (कोविद तथा रत्न) के विद्यार्थियों को एक ऐसी पुस्तक की कमी अनुभव की जा रही थी जिसके द्वारा विद्यार्थियों को साहित्य के विभिन्न अङ्गों की जानकारी मिल सके। इसी जानकारी के लिए इस पुस्तक की रचना हुई और यह पुस्तक गुजरात विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षाओं में सन् १९५८-१९६० तथा उस्मानिया विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा में सन् १९५८-५९ के लिए स्वीकृति की गई थी। अब तक इसके चार संस्करण निकल चुके हैं। साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर साहित्य का साथी पूर्ण प्रकाश डालता है। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह भाषण बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद के दूसरे वर्ष की भाषणमाला का प्रथम व्याख्यान है जो १३ मार्च १९५२ ई० में पटना में परिषद के तत्वावधान में हुआ था। यह एक शोधग्रंथ है। जिन विषयों को पूर्व इतिहासकारों ने उपेक्षित एवं संदेहास्पद कहकर प्रकाश में लाने की कोशिश न की ऐसे काल को लेकर विस्तार से विचार किया गया है। पांच व्याख्यानों का यह संग्रह आदिकाल के सम्बन्ध में काफी प्रकाश डालने में समर्थ है। इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों की सम्मतियां निकली हैं जो निम्न प्रकार हैं—डा० अमरनाथ झा ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' पर अपने विचार अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' बड़े मूल्य की वस्तु है।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक समय का इसमें बहुत ही सुन्दर दिग्दर्शन है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत भी द्रष्टव्य है। निस्संदेह यह पुस्तक अमूल्य है। वास्तव में यह हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति और विकाश पर विशद प्रकाश डालती है। इससे शोध सम्बन्धी विद्वान अत्यधिक लाभान्वित होंगे। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत ध्यान रखने योग्य है 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' के सम्बन्ध में इसमें बहुत सी नवीन सामग्री है। पं० रामनरेश त्रिपाठी जी का मत इस प्रकार है। "इस पुस्तक में लेखक की सूक्ष्म विवेचना शक्ति और ऐतिहासिक गवेषणा के प्रमाण मिलते हैं। यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए बड़ी ही उपयोगी है।"

इसके पश्चात् 'हिन्दी-साहित्य' सन् १९५३ में प्रकाशन में आया। इस ग्रन्थ में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और महत्वपूर्ण वाह्य रूपों के मूल और वास्तविक स्वरूप का परिचय देने की चेष्टा की गई है। यद्यपि यह पुस्तक भी विद्यार्थियों को ध्यान में रख कर लिखी गई है। फिर भी अन्य इतिहासों से कम महत्व नहीं रखती। सन् १९५४ में 'साहित्य का मर्म' जो लखनऊ विश्व-विद्यालय में दिये गये तीन व्याख्यानों का संग्रह है – प्रकाश में आया। इसमें भारतीय समीक्षा सिद्धांत: रस, एवं काव्य रूपों आदि पर विचार प्रकट किया गया है।

उपर्युक्त स्वतन्त्र ग्रन्थों के आलावा अनेक फुटकर निबन्ध भी लिखे हैं, व्याख्यान भी दिये हैं और ग्रन्थों का संपादन भी किया है। निबन्ध संग्रह जैसे कल्पलता का सं० २००८ में प्रथम प्रकाशन हुआ और दूसरा संकरण सं० २०१२ में निकला। दूसरा निबन्ध एवं भाषण संग्रह 'विचार प्रवाह' है जो प्रथम बार जुलाई १९५९ में पाठकों के समक्ष आया। यद्यपि इसके कुछ लेख व भाषण पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके थे पर पुस्तक के रूप में सन् १९५९ में ही सामने आया। निबन्ध संग्रहों के अतिरिक्त कई ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। इन सम्पादित ग्रन्थों में सर्व प्रथम ग्रन्थ 'संदेश रासक' है जिसका सम्पादन कार्य १९६० में हुआ है। इसकी प्रस्तावना में द्विवेदी जी ने लिखा है। अनेक खोज के पश्चात् इनकी प्रतियों का पता लगाकर उनका हवाला इसमें स्पष्ट रूप से दिया गया है। इसका सम्पादन अपने शिष्य श्री विश्वनाथ त्रिपाठी (लेक्चरर के० एम० कालेज, दिल्ली) के साथ किया है। अन्य एक ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' का संक्षिप्त संशोधित संस्करण ई० १९५७ में निकाला है। इसका सम्पादन द्विवेदी जी ने नामवर सिंह के साथ किया है। इसकी भूमिका हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखी है तीसरा सम्पादित ग्रन्थ 'नाथसिद्धों की वाणियाँ' हैं जिसका

सम्पादन सं० २०१४ में हुआ। इसमें चौबीस नाथसिद्धों की रचनाएँ सम्पादित हैं।

आजकल द्विवेदी जी पंजाब युनिवर्सिटी चण्डीगढ़ के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर से पद को सुशोभित कर रहे हैं। उनकी विद्वता और अध्ययनशीलता से मुग्ध हो १९४७ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपने करांची अधिवेशन में साहित्य परिषद का अध्यक्ष निर्वाचित किया। १९४९ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टर आफ लिटरेचर की आनरेरी उपाधि से विभूषित किया।

द्विवेदी जी आजकल पंजाब विश्वविद्यालय चण्डी गढ़ के हिन्दी अध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित हैं। आज वे एक कुशल अध्यापक और शिक्षाविद् होने के साथ ही साथ कई भाषाओं के मर्मज्ञ और प्रकाण्ड विद्वान तथा कुशल गद्यकार हैं। उनकी रचनाएँ आज हिन्दी जगत में अपना विशेष स्थान रखती हैं। उनके 'सूर साहित्य' को साहित्य समिति, इन्दौर ने स्वर्णपदक से समादृत किया है। इसी प्रकार उनके 'कबीर' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें अपना मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया है। वाणभट्ट की आत्मकथा' पर नागरी प्रचारिणी सभा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदीं स्वर्णपदक' देकर सम्मानित किया। भारत-सरकार ने पद्मभूषण देकर उन्हें सम्मानित किया है। सन् १९६१ में रवीन्द्र शताब्दी के अवसर पर साहित्य अकादेवी (नई दिल्ली) ने इन्हें ढाई हजार रुपये का पुरस्कार दिया। द्विवेदी जी ने पुरस्कार की पूरी रकम पंजाब विश्वविद्यालय को दे दी। इसमें द्विवेदी जी के कुछ अन्य मद के धन को मिला कर पंजाब विश्वविद्यालय प्रति वर्ष भारतवर्ष की भावनात्मक एकता पर सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लिखने वाले विद्यार्थी को उपाधि वितरण उत्सव के अवसर पर 'हजारी-प्रसाद द्विवेदी स्वर्ण पदक' दिया करता है। सन् १९६२ के अक्टूबर महीने में भारत सरकार ने उन्हें रूस में एक सांस्कृतिक शिष्ठमण्डल के सदस्य के रूप में भेजा।

चण्डीगढ़ में द्विवेदी जी ने 'लालित्य मीमांसा' सन् १९६२ में लिखा है जो अभी प्रेस में है। दूसरा भारतीय नाट्य परम्परा और दशरूपक 'जिसको डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और श्री पृथ्वीनाथ द्विवेदी ने मिलकर सम्पादन किया है, प्रेस में है। इसके अतिरिक्त आजकल एक ग्रन्थ 'चारुचन्द्रलेख' लिख रहे हैं जिसमें अभी तीस अध्याय लिखे या प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ का उद्देश्य, मध्यकालीन साधनाओं को प्रकट करना था जिसमें चारुचन्द्रलेख सिद्धि

प्राप्त करके अपनी कहानी प्रथम पुरुष में कहती है, नागसेन प्रेम साधना में झिझक, कुन्ठादि का प्रतीक होकर अपनी कहानी मध्य पुरुष में कहता है तथा राजा प्रेम साधना के पूर्व विश्वास का प्रतीक होकर अपनी कहानी 'उत्तम पुरुष' में कहता है।[1]

इसके अलावा इन्होंने प्रारम्भ से अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकायें लिखी हैं। जैसे संतों का सूक्ष्मवेद, 'अपभ्रंस का रसात्मक साहित्य' कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्रसाधन सामग्री रवीन्द्रनाथ की कवितायें हैं। इस प्रकार ये हिन्दी की सेवा सन् १९३० से आजतक अनवरत रूप से करते आ रहे हैं। इसके अलावा इनकी कई कवितायें लिखी हैं एक कविता स्केच भी मिलती है। यद्यपि लिखते समय कविता लिखने का उद्देश्य न था पर लिख गये कविता – अब उस गद्य रूप कविता का अवलोकन करें।

"एक सहृदय मित्र ने पूछा कि तुम क्या जानते हो कवि भवानी मिश्र को, जिसकी कविता हुआ करती असाधारण मगर पहले बहुत सामान्य, जबां ऐसी कि हर कूचे गली के लोग समझें अदा ऐसी कि भारी ठूंठ – बौड़म रीझ जायें और बातों बात में बातें निकल आयें फकीरों की, वली की, पीर मुर्शिद की। स्मरण आया कि हाँ, मैं जानता हूँ एक फक्कड़ राम को जो नाम ऐसा ही बताता है, मगर वह सरल सुन्दर आदमी है, और ये हैं कह रहे, 'कवि हैं' अजब हैरान हूँ क्या मस्त मौला लोग ही कवि कहे जाते हैं यहाँ पर।

सोचकर मैंने कहा – भाई, जरा हुलिया बताओ वेश कैसा है, सकूनत क्या कि पेशा क्या? बताया है मझोला कद, खदरिया एक धोती, एक कुर्ता बस यही है वेश। सीपी का चमकता एक मोती है कि फेरी में कटी हैं उम्र, रहता कभी वर्धा, कभी बाम्बे, कभी उत्तर, कभी दक्खिन कभी पूरब, कभी पश्चिम, पैर में बाँधे सनीचर, गा न सकता, रो न सकता, मगर कुछ-कुछ सिखा सकता, भटकतों को सही रास्ता दिखा सकता और कुछ लिख लिखा सकता, यह गरम अफवाह है यह कवि प्रयोगी हो नहीं सकता कदाचित् योग से विभ्रक्त योगी है, वियोगी से नहीं हरगिज।

मुझे बिलकुल नहीं शक रह गया यह मिश्र जी है और कोई नहीं 'बस मेरे पिछाने वे भुलक्कड़ राम ही हैं। याद आयी सैकड़ों बातें बुन्देले मिश्र जी की बोल उनके हैं कि धरती से सटे ही सरकते हैं मगर कुछ जब छोड़ दो तो नाग से फुफकार उठते हैं—फण का रूप देखे ही बने हैं। हवा में यों उड़ा करते वे कि

---

१ – उद्धृत-धर्मयुग–फरवरी १९६२।

सम्पादन सं० २०१४ में हुआ। इसमें चौबीस नाथसिद्धों की रचनाएँ सम्पादित हैं।

आजकल द्विवेदी जी पंजाब युनिवर्सिटी चण्डीगढ़ के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर से पद को सुशोभित कर रहे हैं। उनकी विद्वता और अध्ययनशीलता से मुग्ध हो १९४७ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपने करांची अधिवेशन में साहित्य परिषद का अध्यक्ष निर्वाचित किया। १९४९ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टर आफ लिटरेचर की आनरेरी उपाधि से विभूषित किया।

द्विवेदी जी आजकल पंजाब विश्वविद्यालय चण्डी गढ़ के हिन्दी अध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित हैं। आज वे एक कुशल अध्यापक और शिक्षाविद् होने के साथ ही साथ कई भाषाओं के मर्मज्ञ और प्रकाण्ड विद्वान तथा कुशल गद्यकार हैं। उनकी रचनाएँ आज हिन्दी जगत में अपना विशेष स्थान रखती हैं। उनके 'सूर साहित्य' को साहित्य समिति, इन्दौर ने स्वर्णपदक से समादृत किया है। इसी प्रकार उनके 'कबीर' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें अपना मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया है। वाणभट्ट की आत्मकथा' पर नागरी प्रचारिणी सभा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वर्णपदक' देकर सम्मानित किया। भारत-सरकार ने पद्मभूषण देकर उन्हें सम्मानित किया है। सन् १९६१ में रवीन्द्र शताब्दी के अवसर पर साहित्य अकादेवी (नई दिल्ली) ने इन्हें ढ़ाई हजार रुपये का पुरस्कार दिया। द्विवेदी जी ने पुरस्कार की पूरी रकम पंजाब विश्वविद्यालय को दे दी। इसमें द्विवेदी जी के कुछ अन्य मद के धन को मिला कर पंजाब विश्वविद्यालय प्रति वर्ष भारतवर्ष की भावनात्मक एकता पर सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लिखने वाले विद्यार्थी को उपाधि वितरण उत्सव के अवसर पर 'हजारी-प्रसाद द्विवेदी स्वर्ण पदक' दिया करता है। सन् १९६२ के अक्टूबर महीने में भारत सरकार ने उन्हें रूस में एक सांस्कृतिक शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में भेजा।

चण्डीगढ़ में द्विवेदी जी ने 'लालित्य मीमांसा' सन् १९६२ में लिखा है जो अभी प्रेस में है। दूसरा भारतीय नाट्य परम्परा और दशरूपक 'जिसको डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और श्री पृथ्वीनाथ द्विवेदी ने मिलकर सम्पादन किया है, प्रेस में है। इसके अतिरिक्त आजकल एक ग्रन्थ 'चारुचन्द्रलेख' लिख रहे हैं जिसमें अभी तीस अध्याय लिखे या प्रकाशित हो चुके हैं। इस ग्रन्थ का उद्देश्य, मध्यकालीन साधनाओं को प्रकट करना था जिसमें चारुचन्द्रलेख सिद्ध

प्राप्त करके अपनी कहानी प्रथम पुरुष में कहती है, नागसेन प्रेम साधना में झिझक, कुन्ठादि का प्रतीक होकर अपनी कहानी मध्य पुरुष में कहता है तथा राजा प्रेम साधना के पूर्व विश्वास का प्रतीक होकर अपनी कहानी 'उत्तम पुरुष' में कहता है ।[1]

इसके अलावा इन्होंने प्रारम्भ से अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकायें लिखी हैं। जैसे संतों का सूक्ष्मवेद, 'अपभ्रंस का रसात्मक साहित्य' कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्रसाधन सामग्री रवीन्द्रनाथ की कवितायें हैं। इस प्रकार ये हिन्दी की सेवा सन् १९३० से आजतक अनवरत रूप से करते आ रहे हैं। इसके अलावा इनकी कई कवितायें लिखी हैं एक कविता स्केच भी मिलती है। यद्यपि लिखते समय कविता लिखने का उद्देश्य न था पर लिख गये कविता – अब उस गद्य रूप कविता का अवलोकन करें।

"एक सहृदय मित्र ने पूछा कि तुम क्या जानते हो कवि भवानी मिश्र को, जिसकी कविता हुआ करती असाधारण मगर पहले बहुत सामान्य, जबां ऐसी कि हर कूचे गली के लोग समझें अदा ऐसी कि भारी ठूंठ – बौड़म रीझ जायें और बातों बात में बातें निकल आयें फकीरों की, वली की, पीर मुर्शिद की। स्मरण आया कि हाँ, मैं जानता हूँ एक फक्कड़ राम को जो नाम ऐसा ही बताता है, मगर वह सरल सुन्दर आदमी है, और ये हैं कह रहे, 'कवि हैं' अजब हैरान हूँ क्या मस्त मौला लोग ही कवि कहे जाते हैं यहाँ पर।

सोचकर मैंने कहा – भाई, जरा हुलिया बताओ वेश कैसा है, सकूनत क्या कि पेशा क्या? बताया है मझोला कद, खदरिया एक धोती, एक कुर्ता बस यही है वेश। सीपीं का चमकता एक मोती है कि फेरी में कटी है उम्र, रहता कभी वर्धा, कभी बाम्बे, कभी उत्तर, कभी दक्खिन कभी पूरब, कभी पश्चिम, पैर में बाँधे सनीचर, गा न सकता, रो न सकता, मगर कुछ-कुछ सिखा सकता, भटकतों को सही रास्ता दिखा सकता और कुछ लिख लिखा सकता, यह गरम अफवाह है यह कवि प्रयोगी हो नहीं सकता कदाचित् योग से विभ्रक्त योगी है, वियोगी से नहीं हरगिज।

मुझे बिलकुल नहीं शक रह गया यह मिश्र जी है और कोई नहीं 'बस मेरे पिछाने वे भुलक्कड़ राम ही हैं। याद आयी सैकड़ों बातें बुन्देले मिश्र जी की बोल उनके हैं कि धरती से सटे ही सरकते हैं मगर कुछ जब छोड़ दो तो नाग से फुफकार उठते हैं—फण का रूप देखे ही बने हैं। हवा में यों उड़ा करते वे कि

---

१ – उद्धृत-धर्मयुग–फरवरी १९६२।

जैसे बाज पंखे छोड़ उड़ता है मगर है देखता रहता धरित्री को झपटता फिर अचानक देखकर आखेट वांछित, चला जाता है वही फिर आसमां में ओर पंखे खोल वहता है कि गोया कुछ हुआ ही नहीं।

क्या वह आदमी कवि हो गया है।
याद आया आदमी यह शहर में प्रायः भटक जाता रहा पाता न रास्ता खोज। शायद फिर विचारा भटक कर कविया गया है। हाय, वह भोला परेशानी भरे जाने कहाँ है, पूछता फिरता कहाँ उनचास नम्बर है, गली का नाम जो पूछो, मगज खुजला रहा है।

सच बताऊँ मित्र, भोला मिश्र सुन्दर गद्य है, चचल मनोहर सरस झंकृत गद्य, ऐसा गद्य जो है लोचवाला, तर्जवाला, जरा कुछ झुक जाय तो उस मर्जवाला जिसे दुनिया छन्द कहती है। विचारा क्या अजब जो इस तरफ भी भटक जाये।

सच बताओ मित्र, क्या तुमने सुना वह इन दिनों किस ओर है ? मैं जानता हूँ सहज जन वह है हृदय के अतल से निस्सृत अकृत्रिम प्रेमवाला, शील-मृदुता सरलता से खचित मणिमय हेमवाला, जरा कुछ झुक जाय तो वह सरस योग क्षेमवाला जिसे दुनिया कवि कहा करती। विचारा क्या अजब वह इस तरफ भी भटक जाए।

स्वभाव और व्यक्तित्व :

द्विवेदी जी का जीवन बड़ा सरल है, कृत्रिमता का आभास तक नहीं मिल पाता इनका सरल, सहज स्वभाव बड़ा ही आकर्षक है। सादगी के अवतार हैं मानों। हमेशा खद्दर का कुर्ता और धोती पहने हुए, कन्धे पर लापरवाही से भागलपुरी चादर डाले हुए जब वे बैठते है उस समय उनका एक पांव चिंतन की की धारा में हमेशा तरंगित होता रहता है। वे बातचीत के सिलसिले में तरह तरह के विनोद करते रहते हैं ठहठहाकर हंसना मानों उनमें सरल एवं निष्कपट स्वभाव का प्रतीक है। बड़े स्पष्ट भाषी हैं। ऐसा लगता है अपनी हंसी के बीच वे इस दुनियाँ की चिंता को ही भूल जाते हैं। उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं, वे कभी अपने दृष्टिकोण को दूसरों पर रखकर नहीं परखते। उनका कहना है सब लोगों का दृष्टिकोण भिन्न भिन्न होता है। भारतीय दृष्टिकोण अलग है और पश्चिमी दृष्टिकोण अलग। हम यह नहीं कह सकते कि यही ठीक है और वही ठीक है। अपने अपने देश की संस्कृति के अनुसार रीतिरिवाज का

निर्माण होता है। हम उनके बात-चीत के सिलसिले में उपर्युक्त बातों को अच्छी तरह पा सकते हैं। समुचित दृष्टिकोण के द्वारा किसी देश की संस्कृति को मापदंड बनाकर दूसरे देश की संस्कृति को नहीं परखना चाहिए। वह दृष्टिकोण एकांगी दृष्टिकोण बनकर रह जायगा। उनकी इस विशालदृष्टि ने गिरती हुई मानव जाति को उठाने की प्रेरणा दी। इसी मानवतावादी दृष्टिकोण एवं स्वभाव के कारण शीघ्र ही पाठक व श्रोता से आत्मीय संबन्ध स्थापित हो जाता है।

उच्च आदर्शों को अपने जीवन में महत्व देते हैं इसीलिए इनको महात्मा गांधी एवं कवीन्द्र रवीन्द्र से इतनी भक्ति व श्रद्धा है। परिश्रम करने से कभी नहीं डरते। इसी परिश्रम के द्वारा उन्होंने अपने जीवन को आज इस रूप में परिवर्तित कर लिया है। प्रातः ४ बजे उठकर अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त हो दो तीन घंटा पढ़ना तो मानों इनका अनिवार्य नियम सा बन गया है। ये बड़े उदार स्वभाव के हैं। सरस्वती तो उन पर खुश हैं पर लक्ष्मी भी प्रसन्न रहती है। किसी को कोई वस्तु देने के पश्चात् लेने का ध्यान ही नही रहता। हमेशा सादगी को अपनाने वाले है।

सामाजिक सम्पर्क :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के स्वभाव में सामाजिकता और विनय भावना इतनी विशिष्ट रूप में पायी जाती है और वे स्वतः एक ऐसे प्रभावशाली वक्ता हैं कि साहित्यिक क्षेत्र के अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्रों में भी उनकी अबाध गति रही है। किसी भी विषय पर किसी भी समय में वे उत्तम प्रकार की वक्तृता दे सकते हैं इसके कारण भिन्न भिन्न प्रकार की संस्थाएँ उनको प्रायः बुलाया करती हैं। कुछ लोगों ने उनके इस मनोभाव को देख कर उन्हें किसी केन्द्रीय और परिनिष्ठित विचारधारा का उन्नायक न मान कर उन्हें धुरीहीन साहित्य की संज्ञा दी थी इस संबन्ध में श्री धर्मवीर भारती का वक्तव्य हमारे सामने है। परन्तु जिस व्यक्ति ने अपने विचारों को अपनी स्पष्टता के साथ इतने विशद् रूप में व्यक्त किया है उसे धुरीहीन कहना आरोपकर्त्ता की एकांकी धारणा का ही परिचायक है। द्विवेदी जी जब साहित्य में लोक जीवन के कवियों का महत्व प्रदर्शित कर चुके हैं और स्वयं एक उदार मानवतावादी भावना के व्यक्ति हैं तब आधुनिक जीवन के प्रगतिशील तत्वों का पक्ष लेना उनके लिए स्वाभाविक है। जब जब लेखकों की विचारधारा अथवा उनकी किसी विशेष समस्या का प्रश्न आया है तब तक द्विवेदी जी के प्रगतिशील शक्तियों का हिसाब दिया है। अपने साहित्यिक निबन्धों में उन्होंने प्रेमचन्द जी

को जो महत्व प्रदान किया गया है उससे उनकी सामाजिक दृष्टि का अच्छी तरह परिचय मिल जाता है। अतएव केवल भिन्न-भिन्न सभाओं में जाकर अपनी बात कहने के अधिकार का उपयोग करने के कारण उनको धुरी ही कहना संगत जान पड़ता है।

द्विवेदी जी साहित्यिक क्षेत्र के बाहर एक अविरोधी दृष्टि रखते हैं और साहित्य में भी प्रत्येक नये आन्दोलन में कुछ न कुछ सार्थकता देखते हैं जिस किसी व्यक्ति में उन्हें प्रतिभा दिखाई देती है उसकी प्रशंसा करने में वे नहीं हिचकते यही कारण है अनेकानेक नये लेखकों को उनका आशीर्वाद और उनकी आशंसा प्राप्त हुई है परन्तु इसका यह आशय नहीं कि वे विभिन्न प्रतिभाओं की तुलनात्मक स्थिति का बोध नहीं रखते। विभिन्न लेखकों की विभिन्न पुस्तकों की भूमिका व प्रशस्ति पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने मूल विचारों को डांवाडोल नहीं होने देते। उनकी प्रशंसाओं में भी विभिन्न प्रकार की व्यंजनायें रहा करती हैं। कृति के अनुरूप स्तर पर ही वे सम्मति या आशंसा देते रहते हैं। द्विवेदी जी इस प्रकार की सम्मतियाँ और भूमिकाओं में विलक्षण प्रकार का संतुलन रहा करता है जिसको समझना सबके लिए सम्भव नही। उनके ऐसे वक्तव्यों को गहराई से देखने और समझने की आवश्यकता है।

द्विवेदी जी यों तो ज्योतिषाचार्य होने के कारण उक्त विद्या में काफी निष्णांत हैं परन्तु ज्योतिष की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत भी अनेक बार व्यक्त हुआ है। जब हमारे प्रधान मन्त्री ने ज्योतिष विद्या की वैज्ञानिकता पर संदेह प्रकट किया और जनता को यह चेतावनी दी कि उस पर आंख मूंदकर विश्वास न करें तब आचार्य द्विवेदी जी ने भी अपनी अनौपचारिक वक्तव्यों में उनका समर्थन किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि द्विवेदी जी किसी प्रकार के अन्धविश्वास से अपना नाता नहीं जोड़ते। ज्योतिषों के पंडित होते हुए भी ज्योतिष विद्या पर उनकी अपूर्ण आस्था इस बात का प्रमाण है।

द्विवेदी जी प्रत्येक प्रकार के भाग्यवाद या नियतिवाद के विरोधी हैं। भारतीय इतिहास में नियतिवादी धारणायें इतनी बद्धमूल हो गई थी कि उनको जनता के मस्तिष्क से दूर करना एक महान अभियान बन गया है। जो कुछ लिखा है वही होगा अथवा जिसने जैसे पिछले जन्म में किया है उसको उसी प्रकार का फल मिलेगा ऐसी धारणा में द्विवेदी जी के विचारों के विरोध में पड़ते हैं। रवीन्द्रनाथ के संपर्क रहने के कारण द्विवेदी जी नवीन विचारों और जीवन दृष्टियों के एकदम समीप हैं। और उनके साथ किसी भी पौराणिक या गता–

नुगतिक विचार प्रभाव नहीं रखता । वे सच्चे अर्थों में बुद्धिवादी विचारक हैं।

ऊपर हम द्विवेदी जी की विनयशीलता का उल्लेख कर चुके हैं। विनयशीलता के कारण उनके प्रति सभी का आकर्षण रहता है । उच्चतर क्षेत्रों में उनका संपर्क उनके अन्य गुणों के साथ उनकी विनयशीलता के कारण हो सका है । उसके बंगाल प्रवास में अनेक बंगदेशीय विद्वानों से उनका संपर्क हुआ है। शांतिनिकेतन में सी० एस० एन्डूज जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त व्यक्तियों से भी उनका सम्बन्ध रहा है । नेहरू जी की कन्या इन्दिरा गांधी शांतिनिकेतन में विद्याभ्यास करती हुई द्विवेदी जी के संपर्क में आयीं थीं । और अब भी उनका उसी प्रकार सम्मान करती हैं। द्विवेदी जी के वैयक्तिकशील विचार के कारण आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश नारायण जैसे लोगों से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । इसके अतिरिक्त उनकी राष्ट्रीयता और हिन्दी सम्बन्धी कार्यों के कारण राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद और पुरुषोत्तमदास टंडन जी भी उनके प्रति सदाशय रहे हैं। केन्द्रीय मंत्रीमण्डल के श्री हुमायूं कबीर द्विवेदी जी से स्नेह सम्बन्ध रखते हैं। इनके अतिरिक्त देश भर में द्विवेदी जी के अनेक मित्र और स्नेह भी प्राप्त होते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में द्विवेदी जी ने जो प्रगति की है उसमें भी उनका क्रमिक उन्नयन उनकी योग्यता का आग्रह उनके वैयक्तिक गुणों के आग्रह पर ही हुआ है । शांतिनिकेतन में उनका प्रवेश उस स्थिति में हुआ था जब वे उत्तर प्रदेश के साधारण संस्कृत पंडित थे । सहसा उनकी ओर लोगों की दृष्टि इसलिये गई थी कि ये एक अतिशय सहृदय, सज्जन और विनीत व्यक्ति थे । शांतिनिकेतन में उनका स्थिर होकर रहना भी उनके वैयक्तिक गुणों का परिणाम है। उनके पास अंग्रेजी की कोई उपाधि नहीं थी फिर भी अपनी योग्यता और लगन के कारण उन्होंने अपने अधिकारियों को बराबर संतुष्ट रखकर और शांतिनिकेतन के पारिवारिक सदस्य बन गये ।

इस समय उनका स्थानान्तरण शांतिनिकेतन से काशी विश्वविद्यालय को हुआ उस समय विश्वविद्यालय में पच्चीसों वर्षों के अध्यापक और पंडित भी हिन्दी विभाग में उपस्थित थे । स्वभावत: अपने ऊपर किसी व्यक्ति का आना उन्हें पसन्द न था । इसके कुछ पूर्व ही द्विवेदी जी को 'आनरेरी' डाक्टरेट की उपाधि मिल चुकी थी अन्यथा उनके पास किसी प्रकार की उपयुक्त उपाधि न थी और काशी विश्वविद्यालय में कुछ उपाधि धारी लोगों की कमी न थी । वैसी स्थिति में द्विवेदी जी की सर्वोच्च प्रोफेसर पद की नियुक्ति उनके सामाजिक व्यक्तित्व का ही परिणाम था । इस पद पर पहुँचकर उन्होंने अपने साथियों के साथ सदैव

सद्व्यवहार करने की पद्धति अपनायी थी। अपने सह अध्यापकों को वे पूरे अधिकार और पूरा सम्मान दिया करते थे। इतने पर भी थोड़ा बहुत असंतोष बना ही रहा। परन्तु उनके कारण काशी विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग में अध्यापन एवं शोध कार्य सम्बन्धी विक्षेप नहीं आने पाया और नियमित रूप से सारा कार्य चलता रहा। यहां आकर द्विवेदी जी ने अपने कतिपय शिष्यों को शोधकार्य के लिये प्राचीन साहित्य सम्बन्धी अनेक विषय दिये जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य के इतिहास के अनेक अपरिचित पक्ष प्रकाश में आये द्विवेदी जी के तत्वाधान में जितने शोध प्रबन्ध प्रकाशित हुए उन पर द्विवेदी जी के निजी विचारों, दृष्टियों और ज्ञान की छाया है। इस प्रकार द्विवेदी जी एक सफल निर्देशक तो रहे ही हैं उनके समय में दूसरे प्राध्यापकों के निरीक्षण और निर्देशन में बहुत ही संतोष-जनक कार्य हुआ। इसे हम द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के गुणों का ही परिणाम कह सकते हैं।

काशी में रहते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने नागरी प्रचारिणी सभा के उपाध्यक्ष और कार्यकारी अध्यक्ष का पदवी भी ग्रहण किया था। इस समय सभा के प्रधान मंत्री डा० राजबली पाण्डेय जी थे। यद्यपि दोनों का व्यक्तित्व अंशत: भिन्न प्रकार का था। पर दोनों ने मिलकर अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। नागरी प्रचारिणी सभा को केन्द्रीय शासन द्वारा हिन्दी विश्वकोष और हिन्दी का बृहत-इतिहास संग्रह, सोलह भागों में प्रस्तुत करने के निमित्त कुशकल सहायता प्राप्त हुई। इस कार्य का का बहुत दूर तक संचालन द्विवेदी जी और पाण्डेय जी के सम्मिलित प्रयास द्वारा संपन्न हुआ।

काशी विश्वविद्यालय में यद्यपि द्विवेदी जी का सम्मान अक्षुण्ण था परन्तु वहां की व्यवस्था ने एक ऐसा अप्रत्याहित मोड़ लिया कि द्विवेदी जी को वह स्थान छोड़ना पड़ा। परन्तु एक बार स्थान छोड़ देने पर द्विवेदी जी ने उस ओर कभी झांककर भी नहीं देखा। अन्य अध्यापक भी इसी समय पदच्छिन्न किये गये थे वर्षो तक मुकद्दमे और अंत में उनकी विजय भी हुई परन्तु द्विवेदी जी इस झगड़े में पड़ना ठीक नहीं समझते थे। उनके जैसे साहित्यिक और अपने काम से काम रखने वाले व्यक्ति का इस प्रकार के संघर्षो में पड़ना स्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों के विचार में यह द्विवेदी जी का कच्चापन हो सकता है परन्तु अपनी प्रकृति के अनुरूप उन्होंने इस टीका टिप्पणी की भी अधिक चिंता नहीं की।

केन्द्रीय सरकार के जिन सूत्रों से काशी विश्वविद्यालय में इस प्रकार की हलचल हुई थी जिसके परिणामस्वरूप द्विवेदी जी के साथ अनेक वरिष्ठ

अध्यापक पदच्युत कर दिये गये थे उन्हीं सूत्रों के सहयोग से आचार्य द्विवेदी जी को चंडीगढ़ के पंजाब विश्वविद्यालय में प्रोफेसर और अध्यक्ष का पद प्राप्त हुआ विलक्षण बात यह है कि उस समय पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से जो स्थान विज्ञापित हुए थे उनमें हिन्दी के प्रोफेसर का उल्लेख नहीं था। सामान्यत: वैसी स्थिति में एक भिन्न प्रान्तीय व्यक्ति को एक अविज्ञापित पद पर नियुक्त कर देना विश्वविद्यालय को भी कठिन था। परन्तु यह द्विवेदी जी के पाण्डित्य के साथ साथ उनकी व्यवहार कुशलता ही थी कि जि के कारण यह असंभावित कार्य भी संभव हुआ।

पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में पहुँच कर द्विवेदी जी ने विभाग का संघठन बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। उनके सहयोगियों का स्नेह और सम्मान उन्हें परिपूर्ण रूप से प्राप्त था। पंजाब सामान्यत: वीरों का प्रदेश है। काव्य और कला सम्बन्धी अभिरुचियाँ वहां शान्तिनिकेतन वा काशी जैसी नहीं थी परंतु द्विवेदी जी के जाते ही चंडीगढ़ विश्वविद्यालय हिन्दी का एक समृद्ध केन्द्र बनता जा रहा है और द्विवेदी जी के तत्वावधान में उच्चतर अध्यापन और शोध की सुचारु परम्परा बनती जा रही है।

द्विवेदी जी का संबन्ध भारतवर्ष के अनेकानेक विश्वविद्यालयों से किसी न किसी प्रकार बना हुआ है। वे उनकी विभिन्न समितियों के सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त वे केन्द्रीय सरकार की अनेकानेक योजनाओं की पूर्ति में सहयोग देते रहते हैं। केन्द्र में संस्थापित साहित्य एकेडेमी के वे सदस्य हैं। और उनकी हिन्दी भाषा की प्रबन्ध समिति के भी सक्रिय सभासद् हैं। जब से भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ तब से शास्त्रीय माध्यम से साहित्यिक विकास के जो अनेकानेक कार्य होते रहते हैं उनमें द्विवेदी जी का योगदान उल्लेखनीय है। जिस किसी कार्य को वे अपने हाथ में लेते हैं उसे पूरा करने का उन्हें ध्यान रहता है। उनके समय का पर्याप्त अंश इन कार्यों में अधिवाहित होता है।

द्विवेदी जी की साहित्यिक प्रवृत्ति उनकी सामाजिक साथ ही उनके राष्ट्रीयता वादी विचारों से परिचित होकर कुछ वर्ष पूर्व राष्ट्रपति ने उन्हें पद्म-भूषण उपाधि से विभूषित किया था। यद्यपि उनकी यह उपाधि सदैव सुयोग्य व्यक्तियों को ही नहीं दी जाती परन्तु आचार्य द्विवेदी जी को यह उपाधि उनकी राष्ट्रीय सेवाओं के उचित पारितोषिक रूप में दिया गया। खेद की बात हैं यह राष्ट्रपति ने सर्वदेश की ओर से द्विवेदी जी को जो सम्मानित उपाधि दी थी उसमें कुछ ही समय पश्चात् काशी विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उन्हें अपने विश्व-

विद्यालय से पृथक कर दिया। यह उक्त विश्वविद्यालय की व्यवस्था के स्वरूप पर आशंका उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं परन्तु और भी खेद है कि केन्द्रीय शासन ने इस अनाकांक्षित घटना का कोई प्रतिवाद नहीं किया। किसी भी दूसरे देश में इस प्रकार का व्यतिरेक क्षम्य नहीं होता। परन्तु भारतवर्ष की नवीन जनतांत्रिक जनता अभी इतनी पुष्ट नहीं हो पाई है कि ऐसी घटनायें सुनने को न मिले।

ऊपर द्विवेदी जी के सार्वजनिक, शैक्षणिक और साहित्यिक क्षेत्रों के कार्यों का जो संक्षिप्त विवरण दिया गया है इससे उनके श्रेष्ठ व्यक्तित्व और उपलब्धि का कुछ परिचय मिल जाता है परन्तु व्यक्ति रूप में द्विवेदी जी और भी अधिक विशिष्ट अपने मित्रों और साथियों के प्रति उनका सौजन्य पूर्व व्यवहार तो प्रसिद्ध ही है परन्तु अपने से छोटे साथियों और शिष्यों के प्रति उनका बड़ा ही शिष्ट और सहृदय व्यवहार रहता है। यही कारण है कि द्विवेदी जी के प्रति हिन्दी के असंख्य विद्यार्थिओं और विद्वानों का समान रूप से सम्मान और सौहार्द्र हैं।

द्विवेदी जी की बात चीत में अपूर्व विनोद को क्षमता रहा करती है। जब वे कोई बात कहते हैं जिसमें प्रच्छन्न हास्य निर्मित रहता है, तब सुनने वाला यदि नहीं हंसता तो वे स्वयं अट्टहासपूर्वक हंस पड़ते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप श्रोता मण्डली को भी उनका साथ देना पड़ता है। जिस किसी गोष्ठी में द्विवेदी जी पहुँच जाते हैं वहां प्रायः हंसी का तांता लग जाता है और गंभीर से गंभीर व्यक्ति भी हंसी रोक नहीं पाता। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि द्विवेदी जी पूरे हंसोड़ हैं। गंभीरता के अवसर पर वे यथेष्ठ गंभीर भी रहते हैं परन्तु उनकी प्रकृति में विनोद का गुण विशेष मात्रा में उपस्थित है। जो उनमें व्यक्तित्व को आकर्षक और अभीप्सित बनाने में सदैव सहायक होता है।

द्विवेदी जी की भाषण शैली बड़ी रोचक होती हैं। भाषणों में उनकी मूल प्रवृत्ति भावात्मक रहा करती है। परन्तु वह भावात्मकता विचारों से उच्छिन्न नहीं होती। सामान्य मानसिक स्तर पर बैठे हुए श्रोताओं को अपनी ओजस्वी वक्तृता द्वारा क्रमशः भावोद्वेलन की भूमिका पर ले जाने की क्षमता द्विवेदी जी के भाषणों में होती है। वे अपनी वक्तृताओं में छोटे छोटे आख्यानों और चुटकुलों का भी उपयोग करते रहते हैं जिसके कारण रोचकता बढ़ जाती है और विषय हृदयंगम हो जाता है। बीच बीच में द्विवेदी जी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का नाम भी ले लेते हैं। और उनसे संबन्धित किसी संस्मरण का उल्लेख कर

देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि रवि बाबू की वाणी में और उनके विचारों में अद्‌भुत आकर्षण रहा करता है।। उन संस्मरणों को सुनाकर द्विवेदी जी श्रोतामण्डली को मुग्ध कर देते हैं। यद्यपि उनके व्याख्यानों में भावनात्मक पक्ष की प्रधानता रहती है परन्तु उनके संस्कृत हिन्दी साहित्य के गंभीर अध्ययन की भी छाया रहा करती है। यदा कदा द्विवेदी जी प्राचीनतम और आगम ग्रन्थों के आधार पर भी साहित्य के सैद्धांतिक विवेचन किया करते हैं।

इन दिनों द्विवेदी जी लालित्य मीमांसा नामक एक कला शास्त्रीय ग्रंथ लिखने में संलग्न हैं। भारतीय कला शास्त्र के कुछ विवेचन अंग्रेजी और बंगला आदि के माध्यम से तो उपलब्ध हैं परन्तु हिन्दी में सौंदर्य शास्त्र पर अभी अधिक सामग्री नहीं पायी जाती। द्विवेदी जी जैसे प्राचीन साहित्य के विद्वान और बहुश्रुत व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि उनका लालित्य मीमांसा ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को उनकी मूल्यवान देन होगा। वर्तमान समय में पश्चिम के सौंदर्यशास्त्र को आधार बनाकर विश्वविद्यालयों में अधिकांश विवेचन किया जाता है। इस नवीन ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर बहुत संभव है कि भारतीय सौंदर्यशास्त्र की कोई सम्बद्ध रूपरेखा हमारे समक्ष आ सकेगी। ऐसा होने पर भारतीय विद्यार्थियों को अपने देश के एक ऐसे गंभीर विवेचन का परिचय मिलेगा जिसकी अब तक कुछ छुटपुट प्रकरण ही हमें ज्ञात हैं।

अध्ययन का क्षेत्र :

यद्यपि आरम्भ में द्विवेदी जी ज्योतिष के विद्यार्थी रहे हैं परन्तु इस विषय के साथ उनका कोई स्थायी सम्बन्ध निर्मित नहीं हो पाया। जान पड़ता है कि अपने अभिभावकों के आदेश से ही उन्होंने यह विषय अध्ययनार्थ लिया था। इसके साथ उनकी आन्तरिक अभिरुचियों का अधिक योग नहीं था यही कारण है कि ज्योतिषाचार्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होंने के पश्चात् उन्होंने इस विषय में कुछ भी नहीं लिखा।

द्विवेदी जी का वास्तविक अध्ययन क्षेत्र साहित्यिक सीमा में आता है। यद्यपि इस विशाल साहित्यिक क्षेत्र में उसकी विशेष अभिरुचि उन्हें उन दिशाओं में ले गई जिन्हें रहस्यवादी या आध्यात्मिक काव्य कहा जा सकता है। कालिदास भवभूति और भारवि की अपेक्षा उन्होंने अपभ्रंश साहित्य सिद्ध और नाथों का साहित्य, जैन और बौद्धों का साहित्य अधिक संपन्नता के साथ पढ़ा और समझा है। सूर, तुलसी और केशव की अपेक्षा उन्होंने कबीर आदि निर्गुणिया सन्त कवियों पर

अधिक अभिनिवेश दिखाया है। साहित्य में भी उन्होंने उस मानवतावादी और आध्यात्मिक साहित्य की ओर दृष्टिपात किया जो चाहे परिनिष्ठित साहित्य की श्रेणी में न आने पर लोकजीवन और लोक संस्कृति की भूमिका पर जिसका महत्व अविस्मरणीय है। आधुनिक भारतीय साहित्य में उन्होंने रवीन्द्रनाथ और प्रेमचंद को सर्वाधिक महत्व दिया है इनमें से प्रथम कवि अपनी रहस्योन्मुख रचनाओं के कारण विश्व प्रसिद्ध हो गये हैं और दूसरे लेखक प्रेमचन्द अपने मानवतावादी और प्रगतिशील कथा साहित्य के कारण द्विवेदी जी के अधिक समीप हैं। यहाँ हम उस अध्ययन की चर्चा कर रहे हैं जो द्विवेदी जी के विशेष अभिरुचि का विषय रहा है। यों उन्होंने संस्कृत, हिन्दी और बंगला साहित्य की सभी पार्श्वों का अध्ययन किया है जिसका प्रमाण उनके निबन्धों से ज्ञात होता है।

साहित्यिक अध्ययन की अभिरुचि में द्विवेदी जी की केन्द्रीय आस्था सामाजिक और संस्कृतिक पक्षों से रही है। वे साहित्य का अनुशीलन कला की बारीकी पर करने के उतने पक्षपाती नहीं हैं जितने मानव विकास के सहायक उपकरण के रूप में हैं यही कारण है कि द्विवेदी जी ने साहित्यिक वैशिष्ठय पर अधिक लक्ष्य न देकर जनजीवन के विकासात्मक लक्ष्यों को साहित्य में अधिकाधिक देखने का प्रयत्न किया है। बाणभट्ट की आत्मकथा नामक अपने उपन्यास में उन्होंने लोकजीवन के और युगीन संस्कृति के पक्षों को बाण तथा उनके समकालीन कवियों के ग्रंथों को ढूढ़ निकाला है। यदि उनका ध्यान केवल बाण की ही भाषा सौन्दर्य और वलात्मक वैशिष्ट्य पर ही होता तो ऐसे उपन्यास की रचना कदाचित न कर पाते। जहां कहीं किसी साहित्यिक कृति का उन्होंने विवेचन किया है वहां सामाजिक भूमिका बराबर बनी रही है बल्कि यह कहना अधिक युक्त होगा कि काव्य और साहित्य के विवेचन में द्विवेदी जी का ध्यान जीवन पक्षों पर ही रहा करता है।

द्विवेदी जी के अध्ययन का दूसरा क्षेत्र ऐतिहासिक और दार्शनिक भी है। उन्होंने भारतीय इतिहास के विविध पक्षों का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया है। और उन ऐतिहासिक युगों की लोक संस्कृति के विषय में पर्याप्त जिज्ञासा प्रदर्शित की है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल नामक पुस्तक में राजनीतिक इतिहास के प्रति उनकी दिलचस्पी का परिचय मिलता है। ऐसे तो उन्होंने हिन्दी साहित्य का पूरा इतिहास ही लिखा है अब एक हजार वर्ष के साहित्य में जो जो परिस्थितियां इतिहास की भूमिका पर मौजूद हैं उनका आलेखन भी किया है परन्तु राजनीतिक इतिहास की अपेक्षा उनका ध्यान सामाजिक और सांस्कृतिक इतिवृत्त की ओर अधिक रहा है।

जहाँ तक अंग्रेजी साहित्य का सम्बन्ध है द्विवेदी जी ने उसमें अध्ययन का अभ्यास किया है। पाश्चात्य साहित्य की रचनात्मक ग्रन्थों का ही नहीं समीक्षात्मक ग्रंथों का भी आधार उनकी विवेचनाओं में उपलब्ध होता है। यद्यपि नियमित रूप से उन्होंने विदेशी साहित्यों का आनुक्रमिक अनुशीलन करने में अधिक दिलचस्पी नहीं दिखाई परन्तु जहाँ तक संस्कृत ग्रन्थों के सम्बन्ध में किये गये पश्चिमी कार्य और विवेचना का सम्बन्ध है वे उससे अच्छी तरह परिचित हैं।

दर्शन की भूमिका पर द्विवेदी जी ने तन्त्र, शास्त्र और आगमों का यथेष्ठ निरीक्षण किया है उनकी प्रमुख अभिरुचि जिन रहस्यवादी और मानवतावादी तथ्यों से है उसी के अनुरूप उन्होंने अपनी दार्शनिक अभिरुचि और अध्ययन का भी पथ ग्रहण किया है। पिछले कुछ वर्षों से इनका विशेष ध्यान योग, तंत्र और आगमों की उस धारा पर केन्द्रित हो रहा है जिनमें उन्होंने भारतीय साधनायें और विचारों की गहनतायें, उपलब्ध होती हैं।

सारत: यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने परिनिष्ठित साहित्य और परिनिष्ठित इतिहास और दर्शन को गौणता देकर मानव अभिमुखी साहित्य इतिहास और दर्शन को प्रमुखता प्रदान की है।

रुचियां :

द्विवेदी जी का साहित्यिक अध्ययन तत्सम्बन्धी रुचियों के परिचय देने के पश्चात् अब हम साहित्येतर रुचियों के सम्बन्ध में ध्यान देना चाहेंगे। द्विवेदी जी की रुचि में रचनात्मक कलाभिरुचि उल्लेखनीय है। समीक्षा और निबन्ध लेखन के अतिरिक्त उन्होंने बाण भट्ट की आत्मकथा और चारुचंद्रलेख नाम के उपन्यास भी लिखे हैं और आरम्भ में कुछ कवितायें भी लिखी थीं। यदि हम इन उपन्यासों को और कविताओं के—वस्तुपक्ष को छोड़कर केवल कलापक्ष पर विचार करें तो देखेंगे कि उपन्यास और काव्यकला की काव्य-सौन्दर्य योजनायें उनकी कृतियों में प्राप्त होती हैं। कोई निरा विचारक या पंडित इस प्रकार की वस्तुयें निर्मित नहीं कर सकता। कथानक का निर्माण उसका उत्थान पतन, आरोह अवरोह जिस संघटित दृष्टि और निपुणता के साथ आरोह अवरोह आदि उद्भावित किये हैं वह उनकी कलाभिरुचि का परिचायक है।

द्विवेदी जी की भाषा के गठन और अनेक प्रकार के भाषा प्रयोजन में पर्याप्त रुचि है। जब उनकी इच्छा होती है संस्कृतनिष्ठ भाषा का सघन और

चमत्कार प्रयोग करते हैं जब उनकी इच्छा होती है तब वे बोलचाल की सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा का उपयोग करते हैं। उनके व्यंग्य और विनोदात्मक प्रयोग भी उनकी विशिष्ठ अभिरुचि के परिचायक है। उनके ऐसे प्रसंग एक प्रच्छन्नता लिए होती है और पहली दृष्टि में सामान्य पाठक उसको पकड़ने में अक्षम्य रह जाता है पर चतुर और प्रबुद्ध पाठक के लिए उसमें एक अद्भुत तरलता दिखाई देती है। द्विवेदी जी के हास्य व्यंग्य उनकी शालीन किन्तु अन्तर्भेदी रुचि के अनुरूप है। उनके व्यंग्यों से किसी को चोट नहीं लगती। पर मुसकान अपने आप फूट निकलती है। शास्त्रीय ग्रंथों में जिसे स्मित हास्य कहा है उसके उदाहरण द्विवेदी जी की कृतियों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं उनकी ये स्मित हास्य यदा-कदा उनके भाषण और उनके वार्तालाप में भी दिखाई पड़ती है। यह एक बिरला गुण है जो एक पंडित के ही अनुरूप है। स्पष्ट और सीधे हास्य और विनोद तो सभी लोग कर सकते हैं पर इस प्रकार गोपनहास्य निर्माण कोई बहुश्रुत व्यक्ति ही कर सकता है।

अपने निबन्धों में द्विवेदी जी ने जो आत्मीयता की शैली अपनायी है वह उनकी प्रकृष्ट अभिरुचि का ही द्योतक है। कोई बात कहते समय किसी रोचक तथ्य प्रासंगिक उल्लेख अथवा कोई साधारण बात कहते कहते किसी गम्भीर प्रकरण का आरम्भ करना द्विवेदी जी के निबन्धों में ऐसी विशेषतायें जो अन्यत्र कम पायी जाती हैं। ये समस्त विशेषतायें उनके व्यक्तित्व का जिस रूप में उद्घाटित करती है उनसे द्विवेदी जी की संस्कृत अभिरुचियों का पता चलता है।

व्यक्तिगत भूमिका पर द्विवेदी जी जितने संग्रथित और विनीत हैं उतने ही विनोद और हास्य प्रिय है। अपरिचित लोगों को उनकी रुचि और प्रकृति का ही बोध होता है उनसे परिचित होने पर खुली और विनोद प्रकृति का पूरी तरह अभिज्ञान हो जाता है। चुटकुले सुनाने में द्विवेदी जी की क्षमता अपूर्व है। शान्तिनिकेतन के एक नेपाल बाबू का वृतान्त वे सुनाते हैं। नेपाल का नाम लेने में रेलवे ट्रेन पकड़ने में कभी चूक नहीं हो सकती यदि गाड़ी का समय हो भी गया हो तो उनका नाम लेने में गाड़ी निश्चय ही मिलेगी। कोई न कोई ऐसी घटना घटित हो जायगी जिसे ट्रेन आने में ही विलम्ब हो जायेगा। नाम माहात्म्य का उल्लेख करते हुए वे इस प्रसंग को सुनाया करते हैं।

२

द्विवेदी के साहित्यिक व्यक्तित्व का क्रमिक विकास

आचार्य द्विवेदी जी की जीवनी और उनके व्यक्तित्व का परिचय देने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम उनके रचित साहित्य पर एक सामान्य दृष्टिपात करें। इस दृष्टिपात के पश्चात् ही हम उनके समीक्षक और शोधकर्त्ता स्वरूप का विवेचन कर सकेंगे जो हमारा मुख्य विषय है। द्विवेदी जी के साहित्य में जहाँ एक ओर शोध और समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ और निबन्ध है वहीं उनकी रचनात्मक कृतियाँ भी जिनमें उनके उपन्यास और उनके वैयक्तिक निबन्ध आते हैं। इन सबका सामान्य परिचय इसलिए भी आवश्यक है कि इनसे द्विवेदी जी के समग्र साहित्यिक स्वरूप का ज्ञान होता है। जिसका उपयोग हम अपने सीमित विषय के लिए भी कह सकते हैं। इस विहंगावलोकन में हमने दो मुख्य आधार ले रखे हैं। प्रथम आधार तिथि अनुक्रम से उनके साहित्यिक संक्षेप में प्रस्तुत करना है। परन्तु इसके साथ ही उनकी कृतियों का वर्गीकरण कर उनका आनुक्रमिक परिचय देना भी हमें उचित प्रतीत हुआ है इन दोनों भूमिकाओं पर उनके साहित्य का धारावाहिक परिचय देने से उनकी विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों का बोध हो जाता है। और साथ ही उनके ग्रन्थों का क्रमिक विकास दिशा का भी संकेत मिल जाता है।

इस विहंगावलोकन में हमने उनकी कृतियों के नामोल्लेख के साथ उनकी विषय वस्तु और प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में सामान्य चर्चा की है। पहले अध्याय में केवल कृतियों का नामोल्लेख है और वह भी प्रकीर्णक रूप में है।

इस अध्याय में हम अधिक व्यवस्थित रूप से उनके रचित साहित्य का निरीक्षण कर रहे हैं। हमें खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि इस अवलोकन में द्विवेदी जी की कुछ कृतियाँ हमारे दृष्टिपात में नहीं आ सकीं। कदाचित् वे इस समय बाजार में उपलब्ध नहीं हैं। सागर विश्वविद्यालय के पुस्तक भवन में और पंडित जी के निजी पुस्तकालय में भी ये अनुपलब्ध हैं। परन्तु संतोष की बात है कि वे कृतियाँ अधिकाँश छोटी पुस्तिकायें हैं और संभवतः उनमें से कुछ उनके बड़े संग्रहों में समाहित भी हो गई होंगी। द्विवेदी जी के कृतियों का अवलोकन करते हुए हमने यह देखा है उनमें अनेक निबन्ध आँशिक रूपान्तर के साथ अथवा ज्यों के त्यों एकाधिक पुस्तकों में प्राप्त हो जाते हैं। अतएव प्रयत्न करने पर भी जब ये पुस्तिकायें नहीं मिल सकीं तब हमने अपना ये निबन्ध लिख लिया है। यह इस अवसर पर हमारी विवशता ही कही जा सकती है। निबन्ध के अन्त में हमने उन पुस्तकों का और पुस्तिकाओं का नामोल्लेख भी कर दिया है जिनसे उनकी विषयवस्तु का थोड़ा बहुत आभास मिल सके। इसके अतिरिक्त और कुछ कर भी नहीं सकते थे। अस्तु।

समीक्षात्मक ग्रन्थ :

सूर साहित्य :

इसका रचनाकाल सन् १९३४ है। इसकी पृष्ठ संख्या १९२ और सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में राधाकृष्ण के विकास के बारे में अनुसंधान किया गया है। वासुदेव की पूजा ई० ४०० वर्ष पूर्व ही चल पड़ी थी। महाभारत के युग तक आते-आते वासुदेव कृष्ण, विष्णु और नारायण एक हो चुके थे। आगे चलकर हरिवंश और वायुपुराण आदि में गोपालकृष्ण का वर्णन मिलता है। उनमें भी राधा का नामोल्लेख नहीं मिलता। दूसरी ओर गाथासप्तशती और पंचतंत्र में इस शब्द का आना राधा के अस्तित्व को बताने में ई० सन् से पहले भी असंभव नहीं है। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर द्विवेदी जी ने दो तरह से अनुमान लगाये हैं। (१) राधा आभीर जाति की प्रेम देवी रही होगी जिसका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा इसीलिए आर्य ग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है। जब बालकृष्ण की प्रधानता हो गई होगी तो इस बालक देवता की सारी बातें अहीरों से ले ली गई होंगी। इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी। (२) राधा इसी देश की किसी आर्य पूर्व जाति की प्रेमादेवी रही होगी बाद में इनकी प्रधानता हो गई होगी और कृष्ण के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा।

भागवत आदि पुराणों में गोपालकृष्ण की जो कथा पाई जाती है उसमें गोपियों के साथ रासलीला का वर्णन एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इन गोपियों का विवाह अन्य गोपों से हो चुका था कृष्ण के साथ इनका प्रेम परकीया प्रेम के रूप में ही हो सकता है। उत्तरकाल में राधा का स्थान कृष्ण से भी बढ़कर बताया जाने लगा था। राधा के बिना कृष्ण अपूर्ण थे।

भक्ति तत्व नामक तीसरे अध्याय में बंगाल के चैतन्य देव के भक्तिवाद एवं वल्लभाचार्य ने अनुष्ठान एवं चैतन्यदेव ने प्रेम को प्रधान स्थान दिया है। चैतन्यदेव रागानुराग भक्ति के अनुयायी थे। इस अध्याय में सिर्फ भगवत्प्रेम के भेदप्रभेद के विस्तार का वर्णन किया गया है। मधुर रस की प्राप्ति के लिये भक्त की सारी साधना है। अन्त में राधा के असंख्य गुणों में से २५ गुणों का वर्णन किया है।

उस युग की साधना और तात्कालिक समाज नामक अध्याय में इतिहास को ध्यान में रखकर वर्णन किया गया है। इतिहास की दृष्टि से १६ वीं शती के मध्यभाग तक भारतीय संस्कृति में पराजय का काल है। भारतवर्ष की असफलता की करुण कहानी से इस युग का इतिहास भरा पड़ा है। परन्तु इन सारी विघ्न बाधाओं के होते हुए भी भारतवर्ष अपने आत्मरूप में निस्तेज नहीं हुआ था। १५ वीं या १६ वीं शती को शास्त्रों के भाष्य या टीका का युग कह सकते हैं वेदों का सर्वोत्तम भाष्य जिसे सायणाचार्य ने लिखा इसी युग की उपज है। इस समय तक मुसलमानों का आक्रमण शुरू हो चुका था। जबर्दस्ती हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जा रहा था। विदेशी संस्कृति के आत्मरक्षा के लिये अब प्रधानतः दो शक्तियाँ काम करने लगी। कबीर आदि की निर्गुण साधना और सूरदास आदि की सगुण साधना। सूरसागर में अनेक स्थान पर निर्गुण मत से सगुण उपासना की सरलता और उसका उत्कर्ष भी दिखाई पड़ता है। सूरसागर पढ़ने से उस युग के समाज का एक चित्र आंखों के सामने खिच जाता है। इस युग का साहित्य एक तरह वैष्णव साहित्य ही है। हिन्दी साहित्य में भक्तिधारा को बहाने का श्रेय निश्चय ही रामानंद और महाप्रभु वल्लभाचार्य को है।

प्रेमतत्व नामक अध्याय में सूरदास की कविता का मर्म समझने के लिये उनके पूर्ववर्ती तीन कवि जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास से इनकी तुलना की गई है। ये तीनों राधाकृष्ण के प्रेम में मत्त मधुर रस के उपासक थे। परकीयाभाव से राधा की वर्णना करते हैं। सूरदास की राधा केवल विलासिनी नहीं है। श्रीकृष्ण के साथ उनका केवल युवाकाल का सम्बन्ध नहीं है, वे परकीया नायिका भी नहीं हैं। बहुत छोटी उम्र से वे श्रीकृष्ण के साथ गुड़ियों के खेल खेल चुकी

हैं। सूरदास की राधा मानिनी हैं दारुण मानिनी। भारतवर्ष के किसी कवि ने राधा का वर्णन इस पूर्णत: के साथ नहीं किया। सूरदास की यह सृष्टि अद्वितीय है। विश्व साहित्य में ऐसी प्रेमिका नहीं है। आगे सूरसागर कीं तुलना महाभारत से की गयी है। इसके दो चित्र संसार के साहित्य में बेजोड़ हैं ऐसा द्विवेदी जी ने कहा है। यशोदा और राधिका। यशोदा के वात्सल्य में वह सब कुछ है जो 'मात' शब्द को इतना महिमाशाली बनाये है। राधिका के चित्र में प्रेम का तत्व अथ से इति तक सर्वस्व निहित है। अन्त में सूरदास की गोपियों की तुलना नंददास की गोपियों से की गई है। नंददास का प्रेम मस्तिष्क की ओर से आता है, सूरदास का हृदय की ओर से।

सूरदास की विशेषता नामक अध्याय में गौड़ीय वैष्णवों की नायिकाओं के साथ सूरदास की गोपकाओं की तुलना का वर्णन है। वैष्णव आलंकारिकों में तीन सौ तिरसठ प्रकार की नायिकाओं के उदारहण के लिये सैकड़ों नाम गिनाये हैं। सूरसागर में इन गोपियों के नामों का कोई उल्लेख नहीं। सूरदास भक्त थे। सूरसागर में और कुछ नहीं। शुरू से अंत तक भगवतलीला का वर्णन है।

कवि सूरदास की बहिरंग परीक्षा नामक अध्याय में अधुनिक और मध्ययुग का साहित्य की परिस्थितियों सूरदास का साहित्य उनकी जीवनी और प्रभाव पर प्रकाश डाला गया है। थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक भावों को व्यंजित करना और उसका चित्रमय होना उनकी अपनी विशेषतायें हैं।

सूरदास की विशेषता को बताते हुए लिखा है। उनके पद नवीन न होते हुए भी एक विशेष नवीनता रखते हैं। बाललीला का वर्णन मातृहृदय का चित्रण, अलौकिक प्रेम की कल्पना आदि उनकी विशेषतायें हैं। लीलागान करना एवं अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर और मधुर एवं आकर्षक बनाना, इन दोनों कार्यों को सूरदास ने निपुणता के साथ निभाया है।

अन्त में दो परिशिष्ट हैं (१) ब्रजभाषा साहित्य में ईश्वर और दूसरा-ब्रजभाषा के कवि और युगलमूर्ति। इन दोनों लेखों से सूरदास के सीधा सम्बंध न होने से इन्हें परिशिष्ट रूप से दिखाया गया है।

२. साहित्य का साथी :

इसका रचनाकाल सन् १९४९ है। पृष्ठ संख्या १३९ है। आठ अध्याय हैं। साहित्य का साथी विद्यार्थियों को साहित्य के विभिन्न अंगों की जानकारी

देने के लिये सच्चा साथी हैं। इसके चतुर्थ संस्करण ने विद्यार्थियों की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है।

'साहित्य' नामक प्रथम अध्याय में साहित्य शब्द का अर्थ व्यापक होते हुए भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में होता है, बताया है। समूचे ग्रन्थ समूह को व्यापक अर्थ में साहित्य मान लेने पर स्पष्ट ही तीन श्रेणी की पुस्तकें मिलेंगी। सूचनात्मक साहित्य, विवेचनात्मक साहित्य और रचनात्मक साहित्य। प्रथम अध्याय में रचनात्मक साहित्य के बारे में बताना ही लेखक का संकल्प है। साहित्य क्या है, जीवन और साहित्य का सबंध क्या है तथा वे कौन से उपादान हैं जो मनुष्य को पशु की प्रवृत्तियों से अलग कर मनुष्य बनाये रखने में समर्थ होता है आदि पर सुचारू रूप से चिंतन किया गया है।

साहित्यकार नामक दूसरे अध्याय में किसी भी पुस्तक के विवेचन में चार बातों पर विचार करना परम आवश्यक बताया है। वे हैं लेखक, वक्तव्य वस्तु, कारीगरी और श्रोता या पाठक। पुनः लेखक के अध्ययन के लिये चार बातों की जानकारी आवश्यक है। काल, जाति समाज और उसके समसामयिक ग्रंथकार उसका व्यक्तिगत जीवन पर दृष्टिपात किया गया हैं। और यह भी बताया गया है कि एक लेखक की रचना दूसरे लेखकों की रचना से तीन बातों जैसे व्यक्ति या स्वभाव शैली और शास्त्रीय उपस्थापन से भिन्न हो जाती है।

जातीय (राष्ट्रीय) साहित्य नामक तीसरे अध्याय में राष्ट्रीय साहित्य क्या है ? स्पष्ट किया है तथा प्रेमचन्द का उदाहरण देकर समझाया हैं। "साहित्य का व्याकरण" नामक चौथे अध्याय में अलंकार शास्त्र को साहित्य का व्याकरण बताया है। अलंकार शास्त्र में शब्द शक्तियां, उनका अर्थ रस, गुण, दोष और अलंकार की विवेचना होती है। शब्द की तीन शक्ति अभिधा, लक्षणा, व्यंजना का वर्णन है। पुनः इनके भेद प्रभेदों को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। काव्य की आतमा 'ध्वनि' है इसे ध्यान में रखते हुए वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि एवं रसध्वनि नौ रस, तथा विभाव अनुभाव एवं संचारी भाव पर विचार किया गया है।

'कविता' नामक पांचवें अध्याय में कविता पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। कवि और कोई नहीं पर वह भी मनुष्यों में से ही होता है। सच्ची कविता की परिभाषा करते हुए लेखक कहते हैं सच्ची कविता वही है जिसमें—[illegible] के साथ साथ अलंकार, छंद, पद लालित्य भी हो। काव्य

भेद विषयीप्रधान का विस्तार वर्णन है जिसके अंतगर्त, छायावाद, रहस्यवाद फ्रायड मनोविज्ञान भी आ गया है। अन्त में काव्य के उद्देश्य के साथ यह अध्याय समाप्त होता है। 'उपन्यास और कहानी' नामक अध्याय में दोनों की अलग-अलग परिभाषा तथा तुलनात्मक ढंग से वर्णन किया गया है। दोनों के छ: तत्व एवं उपन्यास की शैली के बारे में भी विचार किया गया है।

'नाटक' नामक सप्तम अध्याय में नाटक और उपन्यास का अन्तर दर्शाते हुए नाटक के तत्व तथा भेद एवं प्रभेद पर विस्तार से चर्चा की गई है। रंगमंच, अभिनय, नाटक की पांच अवस्थायें, नाटक की क्रियावस्तु तथा संकलनत्रय, नाटक की श्रेणी जैसे रूपक नाट्य, गीतिनाट्य भावनाट्य तथा एकांकी नाटक पर विचार किया गया है। अन्त में नाटक के उद्देश्य का वर्णन है। साहित्यिक समालोचक और निबन्ध नामक अष्टम अध्याय में लेखक ने बताया है कि मनुष्य का मन हजारों अनुकूल और प्रतिकूल धाराओं के संघर्ष से रूप ग्रहण करता है उसे अगर प्रमाण मान लें तो मूल्यनिर्धारण का कोई एक सामान्य मानदंड बन ही नहीं सकता। पुराना समालोचक तथा नया समालोचक का अन्तर भी बताया गया है। साथ में निबन्ध की परिभाषा, प्रकार आदि पर भी प्रकाश ढाला गया है।

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार :

इस पुस्तक में लेखक के आठ निबंध संकलित किए गए हैं जो उनके भाषण प्रतीत होते हैं। साहित्य के निर्माण और विकास तथा विभिन्न प्रवृत्तियों के संबन्ध में मनन योग्य सामग्री इन लेखों में दी गई है। विद्वान लेखक ने साहित्य की समीक्षा के साथ-साथ समाज की परिस्थितियों और उनके घात प्रतिघात का विश्लेषण किया है। उनकी मान्यता है कि साहित्य का इतिहास पुस्तकों और ग्रंथकारों के उद्भव और विलय की कहानी ही नहीं है वह काल–स्रोत में बहे आते हुए जीवन्त विकास की कथा है। ग्रंथकार और ग्रंथ इस प्राण-धारा की ओर इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर आत्मप्रकाश कर रही है। इसी प्राणधारा का आत्मप्रकाश द्विवेदी जी के सारे लेखों में दिखाई पड़ता है और इसी विशेषता के कारण वे केवल साहित्यिक आलोचायें न रहकर जीवन के विचार पूर्ण निबन्ध बन गये हैं।[१] यद्यपि इस पुस्तक का नाम आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार रक्खा है पर इसमें आधुनिक हिन्दी साहित्य की कोई विशेष झांकी न दिखलाकर प्राचीन झांकी ही दिखलाई गई है।[२]

१–नया समाज–सन् १९५५। २–सरस्वती (फरवरी) १९५४।

शोध ग्रंथ

कबीर :

इस ग्रंथ का रचनाकाल सन् १९४१ है। तीन सौ सत्तर पृष्ठों वाली इस पुस्तक उपसंहार सहित सोलह अध्याय है। इस पुस्तक में कबीर के व्यक्तित्व साहित्य और दार्शनिक विचारों की आलोचना की गई है। अभी तक इस किताब के छ: संशोधित संस्करण भी निकल चुके हैं। अब हम इस पुस्तक के सम्बन्ध में विचार कर ले तो इसकी विशेषता स्वयं प्रकट हो जाएगी।

प्रस्तावना नामक प्रथम अध्याय में कबीरदास के जाति सम्बन्धी खोज तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों पर विवेचन किया गया है तथा कबीर पद्य के भिन्न-भिन्न संकलन कर्त्ता जैसे रामकुमार वर्मा, श्यामसुन्दरदास एवं आचार्य क्षितिमोहन सेन के संग्रह का भी संक्षिप्त वर्णनात्मक परिचय मिल जाता है। द्वितीय अध्याय में कबीरदास पर योगमत का क्या प्रभाव पड़ा ? अवधून कौन है ? सहजयानी सिद्ध, तांत्रिक, अवधूत, गोरखपंथी अवधूत तथा उसका वेश उसकी मुद्रा-आदि विलयों की चर्चा की गई है। तथा अन्त में यह सिद्ध किया है कि कबीरदास का अवधूत नाथपंथी सिद्ध योगी है। तृतीय अध्याय में 'नाथ-पंथियों' के सिद्धान्त और कबीर के मत पर प्रकाश डाला गया है। नाथपंथियों के सिद्धान्त पर विचार करते हुए नाथपंथी अवधूत का मत क्या था और कबीरदास पर उसका कुछ प्रभाव पड़ा था या नहीं आदि पर विचार किया गया है। वेदान्त मत से नाथमत का वैशिष्ट्य कापालिक और नाथमत की एकता तथा नाथमत की गुरुशिष्य परम्परा आदि का वर्णन किया गया है। चौथा अध्याय 'हठयोग की साधना' है। हठयोग क्या है ? इस पर विचार करते हुए कहा है कि नाथपंथ की साधनापद्धति का नाम हठयोग है। इस अध्याय को खासकर इसलिए इस पुस्तक में स्थान दिया गया है कि कबीर और इस साधनापद्धति का इतना घनिष्ठ संबन्ध था कि इस साधना पद्धति को समझे बिना हम कबीर को भी नहीं समझ सकते। इनके सिद्धान्तानुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो संपूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। यही शक्ति व्याप्ति में व्यक्त होने पर कुण्डलिनी कहलाती है। पुन: इस कुण्डलिनी को ठीक-ठीक समझने के लिए शरीर की बनावट की कल्पना की गई है। और इस साधना के मार्ग में आने वाले अनेक बातों की चर्चा की गई है। इसी सिलसिले में कैलास, इङ्गला, पिङ्गला, सुषुम्ना, नाद, स्फोट षट्कर्म और उन्मुनि आदि शब्दों की व्याख्या या इन शब्दों को स्पष्ट किया है, ये सभी अवस्थायें हैं जिन्हें पारकर अन्त में

कुण्डलिनी शक्ति उद्‌बुद्ध होती है। इस प्रकार 'हठयोग की साधना' नामक अध्याय हठयोग को स्पष्ट करने में समर्थ है ।

पांचवें अध्याय में निरंजन कौन है ? इस पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही निरंजन का वास्तविक अर्थ क्या है। यह बताया गया है। साधारण रूप में निरंजन शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक है। आगे निरंजन सम्बन्धी कल्पना की जटिलता का कारण एवं उसके ऐतिहासिक परम्परा का आद्यन्त वर्णन किया गया है। छठे अध्याय में, निरंजन शब्द के भाग्य विपर्यय के समान अनेक अन्य शब्दों का भी कैसा परिवर्तन हुआ है, पर विचार किया गया है। जैसे शून्य, सहज, नाद, बिन्दु, आदि के भाग्य विपर्यय पर भी काफी प्रकाश डाला गया है। सातवें अध्याय योगपरक रूपक और उलटबाँसियों' में योगियों और सहजयानियों की उलटबाँसियों, संधाभाषा, उनकी शैली तथा कबीर के द्वारा मान्य सांकेतिक शब्दों का वर्णन है। आठवें, नवम अध्यायों में क्रमशः ब्रह्म और माया एक निर्गुण राम पर विचार किया गया है। इन सब पर विचार करते समय द्विवेदी जी ने सिर्फ इतिहास को ही दृष्टि में नहीं रखा है वरन् दार्शनिक एवं शास्त्रीय दृष्टि को भी अपनाया है।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में क्रम से बाह्याकार तथा 'सन्तों भक्ति सतो गुरु आनी' की व्याख्या की गई है। बारहवें अध्याय में व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में इस अध्याय के अध्ययन से ये बातें अवगत हो जाती हैं। कबीर सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव के फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, दिल के साफ दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर थे।

तेरहवें अध्याय में इस्लाम के भारतवर्ष आगमन से लेकर उसमें कबीर का क्या स्थान था तक अच्छी तरह बताया गया है। बीच में हिन्दू धर्म और इस्लाम का अन्तर स्पष्ट करते हुए माया का कारण क्या है, लीला क्या है, सगुण लीला से कबीरदास की लीला का भेद क्या है आदि पर अच्छी तरह चर्चा चलाई गई है। चौदहवें और पंद्रहवें अध्याय में क्रम से भगवत्प्रेम का आदर्श क्या है ? कबीर और रवींन्द्रनाथ दोनों के लीला सम्बन्धी विश्वासों में भेद एवं समानता को स्पष्ट किया गया है। इसके अलावा रूप अरूप, के भेद को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सोलहवां अध्याय उपसंहार हैं जिसमें कबीर की वाणी के नाना रूप में उपयोग, कवि, उनकी विशेषता, समाज सुधारक, साम्प्रदायिक एक्य के प्रतिष्ठाता आदि पहलुओं पर विचार किया गया है। परवर्ती पदों को

ठीक ठीक समझने के लिए परवर्ती कबीरपंथी सिद्धान्तों की जानकारी आवश्यक है अत: परिशिष्ट में उन्हीं सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। परिशिष्ट दो में १ से १०० तक आचार्य क्षितिमोहनसेन के संग्रह से उद्धृत और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वे पद्य हैं जिन्होंने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति को आकृष्ट किया, जो उन्हें इस योग्य जंचे कि भारतीय मनीषा के प्रति पाश्चात्य विद्वानों अंग्रेजी अमुवाद की उपेक्षा और अवज्ञा को दूर कर सकेंगे और इसीलिए उन्होंने अंग्रेजी अनुवाद स्वयं किया। १०१ से २५६ तक के पद पिछले अध्यायों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का और भी अधिक समर्थन करने की दृष्टि से संगृहीत हुए हैं।

२. मध्यकालीन धर्म साधना:

मध्यकालीन धर्मसाधना का रचना काल १९५२ ई० है। यह पुस्तक ३९ निबन्धों का संग्रह है। जिन्हें एक क्रम से बैठा कर एक पुस्तक का रूप देने की सफल चेष्टा की गई है। और लेखक ने स्वयं ही निवेदन किया है मध्यकालीन धर्मसाधना यद्यपि भिन्न भिन्न अवसर पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह ही हैं तथापि प्रयत्न किया गया है कि ये लेख परस्पर विच्छिन्न और असम्बद्ध न रहें और पाठकों को मध्यकालीन धर्म साधनाओं का संक्षिप्त और धारावाहिक परिचय प्राप्त हो जाय। निस्संदेह पुस्तक से इतना भर तो हो ही जाता है।

यद्यपि पुस्तक की कुल पृष्ठ संख्या दो सौ अठत्तर ही है जिसमें परिशिष्ट सिर्फ बीस पृष्ठ का है अर्थात् २५६ पृष्ठ ही हैं फिर भी उनमें छोटे बड़े ३९ निबन्ध आ गये हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास उस युग की जिसे सामान्यत: भक्तिकाल कहा जाता है, रामाश्रयी शाखा को छोड़कर शेष तीनों शाखाओं का ही नहीं, उनकी पृष्ठभूमि पूर्व परम्परा और दार्शनिक आधार का भी आपातत: मनोरंजन और ज्ञानवर्धक विवरण इन निबन्धों में सहज सुलभ हो गया है।[1]

मध्यकाल की परिभाषा पहले ही अध्याय में दे दी गई है। जिससे विषय का क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है। उसके बाद आरम्भ इस काल के विविध धर्मों का परिचय है जैसे तांत्रिक, पांचरात्र तथा वैष्णव, पाशुपतमत और शैवागम, कापालिक मत, जैन मरमी सहज और नाथसिद्धधर्म, निरंजन मत और कबीर

१–अवन्तिका।

मत में धर्मदेवता का अवशेष आदि उसके उपरान्त सामाजिक व्यवस्था विषयक छः निबन्ध हैं। बाईसवें निबन्ध से बत्तीसवें निबन्ध तक अधिकांश कृष्ण और राधा के विषय पर विचार हैं। जैसे श्रीकृष्ण की प्रधानता, गोपियाँ और श्रीराधा लीला और भक्ति, लीला का रहस्य, राधिका का स्वरूप गीत गोविन्द की विरहिणी राधा आदि। तैंतीसवें से उन्तालीस तक अन्य विषयों की चर्चा है। जैसे गुणमय रूप की उपासना वैष्णव कवि की--रूपोपासना, ब्रह्म का रूप इत्यादि।

परिशिष्ट में सर आर्थेल्स्टेन ने समूची भारतीय जनता को सात बड़े बड़े विभागों में बांटा है, दिखाया है। सर आर्थेल्स्टेन की कई तालिकाओं के आधार पर तालिका बनाई गई है। जिसमें सर आर्थेल्स्टेन के विचारों को ही प्रधान स्थान दिया गया है। इस तालिका से श्रेणी का नाम, जाति का नाम, उसका प्रदेश और जनसंख्या जानने में काफी सुविधाजनक एवं सहायक है।

३. नाथ संप्रदाय :

इसका रचनाकाल सन् १९५० है। पृष्ठ संख्या २११ और उपसंहार सहित पंद्रह अध्याय है। द्विवेदी जी ने अनेक संप्रदायों में सुरक्षित अलौकिक कथाओं एवं अनेक ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् नाथसंप्रदाय का प्रथम प्रामाणिक इतिहास तथा उसके सिद्धों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

पुस्तक के आरंभिक दो अध्यायों में नाथसंप्रदाय तथा संप्रदाय के पुराने सिद्धों का संक्षेप में वर्णनात्मक परिचय मिलता है। अगले तीन अध्यायों में मत्स्येंद्रनाथ और कौल ज्ञान निर्णय की कथायें हैं। छठवें और सातवें अध्यायों में जालन्धरनाथ और कृष्णपाद तथा उनके कापालिक मत का विस्तृत वर्णन हैं। इसके उपरांत आठवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक क्रम से गोरखनाथ, उनके ग्रन्थ, पिंड और ब्राह्माड, पातंजलयोग, योग विद्या की प्राचीनता, गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग, हठयोग, सहजसमाधि तथा गोरक्षनाथ के समसामयिक सिद्धों का रोचक वर्णन मिलता है। तेरहवें अध्याय में परवर्ती सिद्ध संप्रदाय में प्राचीन मत जैसे बारह पंथ पाशुपत मत, रसेश्वर मत आदि का विवेचन किया है चौदहवें अध्याय में लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेशों का सार तथा अन्तिम अध्याय विषयों का उपसंहार है

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल :

प्रस्तुत पुस्तक विहार राष्ट्रभाषा परिषद के तत्वावधान में दिए गए

पाँच व्याख्यानों का संग्रह है। इसका रचना काल सन् १९५२ है हिन्दी साहित्य का आदिकाल इतना संदेहास्पद है कि निश्चय से कुछ भी कहना ठीक नहीं होगा, और ऐसा कहना सहज नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा हिन्दी के आदि-काल पर अध्ययनपूर्ण प्रकाश डालने की चेष्टा की है और इस प्रकार हिन्दी साहित्य के भूले हुए पृष्ठों तथा विवादित तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। हिन्दी के प्रारम्भ और आदिकाल के सम्बन्ध में जितनी शंकायें और भिन्न-भिन्न विचारधाराएं हैं उतनी संभवतः विश्व की किसी दूसरी भाषा के संबन्ध में नहीं हैं। किसी ने उसे चौथी और पांचवीं शताब्दी से, और किसी ने सिद्ध साहित्य के प्रारम्भ के साथ ही साथ माना है, तो दूसरे ११ वीं शताब्दी में भी उसका प्रारम्भ मानने में हिचकते है। अपनी विशाल सूक्ष्म दृष्टि से द्विवेदी जी ने विवाद को मिटाने का प्रयास किया है।

प्रथम व्याख्यान में प्रारम्भ से लेकर आज तक उन पुस्तकों का विवरण दिया गया है जिनमें आदिकाल के संबन्ध में विचार विमर्श किया गया है। द्विवेदी जी ने १० वीं से १४ वीं शताब्दी तक के साहित्य को अपभ्रंश प्रधान साहित्य कहा है और अपभ्रंश में उपलब्ध साहित्य की चर्चा की है। साथ ही साथ वीरगाथा' नाम की अनुपयुक्तता भी सिद्ध की है। इस प्रकार से विषय प्रवेश ही कहा जा सकता है।

द्वितीय व्याख्यान में आदिकाल की प्राप्त सामग्री के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं। (१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर (२) सुसं-गठित संप्रदाय का आश्रय पाकर और मठों विहारों आदि के पुस्तकालयों में शरण पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। इन तीन स्रोत से प्राप्त सामग्री के आधार पर द्विवेदी जी ने अपना विचार व्यक्त किया है। उस काल का मध्य देश बहुत अधिक विक्षुब्ध क्यों था और उस समय का कोई साहित्य क्यों नहीं मिलता उसके कारण का भी खोज किया है। इसी व्याख्यान के अंत में उन्होंने प्राकृत अपभ्रंश और देशी भाषाओं स्वर, अनुस्वार और व्यंजन विपर्यय का नियम बताया है

तृतीय व्याख्यान से आदि काल में प्राप्त सामग्री का परीक्षण प्रारम्भ होता है। पृथ्वीराज रासो के बारे में जो ऊहापोह चलता आ रहा है इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपने परीक्षण के द्वारा एक नई वस्तु सामने रखी है। सभी शंकाओं का समाधान करते हुए कुछ नवीन स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं। पृथ्वीराज

मत में धर्मदेवता का अवशेष आदि उसके उपरान्त सामाजिक व्यवस्था विषयक छ: निबन्ध हैं। बाईसवें निबन्ध से बत्तीसवें निबन्ध तक अधिकांश कृष्ण और राधा के विषय पर विचार हैं। जैसे श्रीकृष्ण की प्रधानता, गोपियाँ और श्रीराधा लीला और भक्ति, लीला का रहस्य, राधिका का स्वरूप गीत गोविन्द की विरहिणी राधा आदि। तैंतीसवें से उन्तालीस तक अन्य विषयों की चर्चा है। जैसे गुणमय रूप की उपासना वैष्णव कवि की--रूपोपासना, ब्रह्म का रूप इत्यादि।

परिशिष्ट में सर आर्थेल्स्टेन ने समूची भारतीय जनता को सात बड़े बड़े विभागों में बांटा है, दिखाया है। सर आर्थेल्स्टेन की कई तालिकाओं के आधार पर तालिका बनाई गई है। जिसमें सर आर्थेल्स्टेन के विचारों को ही प्रधान स्थान दिया गया है। इस तालिका से श्रेणी का नाम, जाति का नाम, उसका प्रदेश और जनसंख्या जानने में काफी सुविधाजनक एवं सहायक है।

३. नाथ संप्रदाय :

इसका रचनाकाल सन् १९५० है। पृष्ठ संख्या २११ और उपसंहार सहित पंद्रह अध्याय हैं। द्विवेदी जी ने अनेक संप्रदायों में सुरक्षित अलौकिक कथाओं एवं अनेक ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् नाथसंप्रदाय का प्रथम प्रामाणिक इतिहास तथा उसके सिद्धों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

पुस्तक के आरंभिक दो अध्यायों में नाथसंप्रदाय तथा संप्रदाय के पुराने सिद्धों का संक्षेप में वर्णनात्मक परिचय मिलता है। अगले तीन अध्यायों में मत्स्येंद्रनाथ और कौल ज्ञान निर्णय की कथायें हैं। छठवें और सातवें अध्यायों में जालन्धरनाथ और कृष्णपाद तथा उनके कापालिक मत का विस्तृत वर्णन है। इसके उपरांत आठवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक क्रम से गोरखनाथ, उनके ग्रन्थ, पिंड और ब्राह्माड, पातंजलयोग, योग विद्या की प्राचीनता, गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग, हठयोग, सहजसमाधि तथा गोरक्षनाथ के समसामयिक सिद्धों का रोचक वर्णन मिलता है। तेरहवें अध्याय में परवर्ती सिद्ध संप्रदाय में प्राचीन मत जैसे बारह पंथ पाशुपत मत, रसेश्वर मत आदि का विवेचन किया है चौदहवें अध्याय में लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेशों का सार तथा अन्तिम अध्याय विषयों का उपसंहार है

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल :

प्रस्तुत पुस्तक विहार राष्ट्रभाषा परिषद के तत्वावधान में दिए गए

पाँच व्याख्यानों का संग्रह है। इसका रचना काल सन् १९५२ है हिन्दी साहित्य का आदिकाल इतना संदेहास्पद है कि निश्चय से कुछ भी कहना ठीक नहीं होगा, और ऐसा कहना सहज नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा हिन्दी के आदि-काल पर अध्ययनपूर्ण प्रकाश डालने की चेष्टा की है और इस प्रकार हिन्दी साहित्य के भूले हुए पृष्ठों तथा विवादित तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। हिन्दी के प्रारम्भ और आदिकाल के सम्बन्ध में जितनी शंकायें और भिन्न-भिन्न विचारधाराएं हैं उतनी संभवतः विश्व की किसी दूसरी भाषा के संबन्ध में नहीं हैं। किसी ने उसे चौथी और पांचवीं शताब्दी से, और किसी ने सिद्ध साहित्य के प्रारम्भ के साथ ही साथ माना है, तो दूसरे ११ वीं शताब्दी में भी उसका प्रारम्भ मानने में हिचकते हैं। अपनी विशाल सूक्ष्म दृष्टि से द्विवेदी जी ने विवाद को मिटाने का प्रयास किया है।

प्रथम व्याख्यान में प्रारम्भ से लेकर आज तक उन पुस्तकों का विवरण दिया गया है जिनमें आदिकाल के संबन्ध में विचार विमर्श किया गया है। द्विवेदी जी ने १० वीं से १४ वीं शताब्दी तक के साहित्य को अपभ्रंश प्रधान साहित्य कहा है और अपभ्रंश में उपलब्ध साहित्य की चर्चा की है। साथ ही साथ वीरगाथा' नाम की अनुपयुक्तता भी सिद्ध की है। इस प्रकार से विषय प्रवेश ही कहा जा सकता है।

द्वितीय व्याख्यान में आदिकाल की प्राप्त सामग्री के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से रक्षित हुई हैं। (१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर (२) सुसं-गठित संप्रदाय का आश्रय पाकर और मठों विहारों आदि के पुस्तकालयों में शरण पाकर और (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। इन तीन स्रोत से प्राप्त सामग्री के आधार पर द्विवेदी जी ने अपना विचार व्यक्त किया है। उस काल का मध्य देश बहुत अधिक विक्षुब्ध क्यों था और उस समय का कोई साहित्य क्यों नहीं मिलता उसके कारण का भी खोज किया है। इसी व्याख्यान के अंत में उन्होंने प्राकृत अपभ्रंश और देशी भाषाओं स्वर, अनुस्वार और व्यंजन विपर्यय का नियम बताया है

तृतीय व्याख्यान से आदि काल में प्राप्त सामग्री का परीक्षण प्रारम्भ होता है। पृथ्वीराज रासो के बारे में जो ऊहापोह चलता आ रहा है इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपने परीक्षण के द्वारा एक नई वस्तु सामने रखी है। सभी शंकाओं का समाधान करते हुए कुछ नवीन स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं। पृथ्वीराज

रासो की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनके सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् द्विवेदी जी ने यह निश्चय किया है जितना अंश शुक-शुकी संवाद के रूप में है वही चंद्रकृत मूल रासो है, इस प्रकार से इच्छिनी शशिव्रता तथा संयोगिता का विवाह वर्णन ही अप्रिप्त है,क्योंकि पूरे रासो में शुक केवल इन्हीं तीनों विवाहों का वर्णन करता है। इस मान्यता के लिए द्विवेदी जी ने कई उदाहरण भी दिए हैं। भाषा एवं शैलीगत विचार भी दिए हैं।

चतुर्थ व्याख्यान में प्रेम कथानक रूढ़ियों की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने 'पृथ्वीराज रासो' की कथा के सौंदर्य का सुन्दर चित्रण किया है। इच्छिनी विवाह के ऋतु वर्णन में द्विवेदी जी ने अपनी रुचि का परिचय दिया है। इस व्याख्यान में संयोगिता वाले प्रसंग को निस्संदिग्ध रूप से मूलरासो का सर्व प्रधान अंग मानते हुए द्विवेदी जी ने उसकी कथा का सुन्दर वर्णन किया है। इच्छिनी शशिव्रता और संयोगिता के विवाह वर्णन में दो व्याख्यान दिये गये हैं, और इस पर अधिक से अधिक प्रकाश डाला गया है।

पंचम व्याख्यान छन्दों को लेकर चला है। द्विवेदी जी ने श्लोक, गाथा और दोहा को क्रमशः संस्कृति प्राकृत और अपभ्रंस का प्रतीक माना है। दोहा और गाथा की प्रवृत्ति का विशद् वर्णन इस व्याख्यान में किया गया है। दोहा की परीक्षा सब दृष्टियों से की गई है। दूसरे छन्द जैसे शार्दूलविक्रीड़ित और साटक की एकता सिद्ध की गई है। आदिकाल एवं भक्तिकाल में प्रयुक्त छन्दों तथा काव्य शैलियों का निरीक्षण भी सूक्ष्मता से किया गया है, साथ ही विभिन्न प्रान्तों के साहित्य का हिन्दी साहित्य के साथ सम्बन्ध जोड़कर काव्यरूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

इतिहास ग्रन्थ

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका

इसका रचनाकाल सन् १९४० है। पृष्ठ संख्या ३०२ उपसंहार सहित दस अध्याय हैं। अब तक इस पुस्तक के छः संस्करण निकल चुके हैं, इसी से इसकी लोकप्रियता का पता लगा सकते हैं। कई लम्बे परिशिष्टों द्वारा वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय करा देने की चेष्टा की गई है।

भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास नामक दो अध्यायों में लेखक ने क्रम से दो हजार वर्ष पूर्व के साहित्य को लेकर अपभ्रंश एवं पुरानी हिन्दी के साहित्य का वर्णन एवं उसमें जो परिवर्तन हुए हैं उसे भी दर्शाया है। तत्पश्चात्

बौद्धधर्म का अस्तित्व उसके भेद प्रभेद एवं काशी, मगध में बौद्ध धर्म का अन्तिम दिन उसका हिन्दू धर्म में समावेश, महायान पर ईसाइयों का प्रभाव, बौद्धधर्म का अन्तिम दिन उसका हिन्दू-धर्म में समावेश, महायान पर ईसाइयों का प्रभाव, बौद्ध-धर्म का लोकप्रणय होना, टीका काल, निबन्धग्रन्थ आदि का स्पष्ट वर्णन प्रथम अध्याय में मिलता है। दूसरे अध्याय में अपभ्रंश भाषा उस भाषा में कविता तथा तत्सम्बन्धी विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन एवं प्राचीन हिन्दी कविता के छ: अंगों का परिचय प्राप्त होता है।

तीसरे अध्याय में 'संतमत' में योगी जाति उससे कबीर का सम्बन्ध, निर्गुणमत का विस्तारपूर्वक वर्णन, कबीरदास की भाषा, रूपक, उनका फक्कड़-पन आदि का विचार किया गया है। चैथे और पांचवें क्रमश: भक्तों की परम्परा में अभिनव तत्व से लेकर आलवार भक्त दक्षिण के आचार्य रामानन्द की भक्त परम्परा निर्गुण सगुण, गुरुनानक सूफी साधना का भारत में कैसे आविर्भाव हुआ आदि पर प्रकाश डाला गया है। 'योगमार्ग और सन्तमत' में परमपद प्राप्ति के तीन मार्ग महाकुण्डलिनि शक्ति एवं इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तथा उन्मुनि रहनी, सहजयोग आदि पर विचार किया गया है।

सगुण मतवाद वामन छठवें अध्याय में 'अवतार क्या है' स्पष्ट करते हुए उनके मुख्य कारणों पर विचार किया गया है तथा तुलसी एवं सूर पर विशेष दृष्टिकोण से चर्चा की गई है। 'मध्ययुग के सन्तों का सामान्य विश्वास' नामक सप्तम अध्याय में चाहे कवि जिस भी जाति का हो पर उसकी भगवान की स्तुति के प्रकार एक से होते हैं, इस पर जोर दिया गया है। उनमें बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जो सबमें एकता का भाव लाता है। भिन्न-भिन्न जाति के होने पर भी स्तुति, भक्ति, उसके वर्णन करने के ढंग एक से होते हैं इस बात को इस अध्याय में स्पष्ट कर दिखाया गया है।

आठवें अध्याय में भक्तिकाल के प्रमुख कवियों जैसे कबीर, नानक, सूर, तुलसी जैसे महान् कवियों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। रीतिकाल नामक नौवें अध्याय में पूर्वी आर्य, मध्य देशीय आर्य, हूण और कबीर आभीर ध्वनिसम्प्रदाय, रीतिकालीन हिन्दी कविता, गोपी गोपाओं के प्रेमकाव्य, गौडीय वैष्णवों के नायिका भेद से रीतिकाव्य के नायिका भेद की तुलना और अन्त में वात्स्यायन के कामसूत्र पर प्रकाश डाला गया है।

उपसंहार में लेखक वैदिक साहित्य से लेकर आज तक अर्थात् आधुनिक साहित्य तक ऐसी सरसरी नजर से सब चित्र संक्षेप में सामने रख दिये हैं।

कि हमें आश्चर्य होने लगता है कि अध्याय कैसे समाप्त हो गया। परिशिष्ट रूप में आठ अध्याय दिये गये हैं उनमें क्रमश: संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय, महाभारत क्या है, रामायण और पुराण, बौद्ध साहित्य, बौद्ध संस्कृत साहित्य, जैन साहित्य, कवि प्रसिद्धियां और स्त्री रूप का वर्णन किया गया है।

२. हिन्दी साहित्य

ईसका रचनाकाल सं० २००९ है। उपसंहार सहित इसमें कुल दस अध्याय है। प्रथम अध्याय प्रस्तावना में हिन्दी शब्द का अर्थ बताते हुए अपभ्रंश साहित्य, अपभ्रंश जैन रचनाओं का वर्गीकरण, संघभाषा, उलटबासियों की परम्परा पर प्रकाश डाला गया है। वज्रयानी सिद्धों के साथ नाथपंथी सिद्धों का सम्बन्ध एवं उसके साहित्य, गोरखनाथ के पद, नाथ साहित्य की अप्रामाणिकता तथा १०वीं शताब्दी तक के लोकभाषा साहित्य के मुख्य लक्षण पर विचार के साथ यह अध्याय समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय हिन्दी साहित्य का आदिकाल है। जिसका समय ई० १००० से १४०० ई० तक माना है। इस काल में प्राप्त दो प्रकार की सामग्री का वर्णन है। तदनन्तर प्रामाणिक, अर्द्धप्रामाणिक ग्रंथों तथा पृथ्वीराज रासो के प्रामाणिक अंश, इन अंशों की विशेषता पर विस्तार एवं गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। ऐतिहासिक काव्य पर दृष्टि डालते हुए संदेशरासक पर प्रकाश डाला गया है तथा रासो की तुलना इसके साथ की गई है। कीर्तिलता की विशेषता काव्य स्वरूप तथा उसकी भाषा, कवित्व पर विचार करते हुए अन्त में शुक्ल जी एवं महापंडित राहुल सांकृत्यायन के द्वारा इस काल के लिए दिये गये क्रमश: वीरगाथा काल एवं सिद्ध सामंत युग का खण्डन करते हुए आदिकाल इस नाम की स्थापना के साथ इस अध्याय को समाप्त किया है।

तीसरा अध्याय भक्ति साहित्य का आविर्भाव अर्थात् वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ होता है। भक्ति साहित्य का आरम्भ बताते हुए उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन का वर्णन उस समय के प्रमुख महाप्रभु वल्लभाचार्य की चर्चा की गई है। नाथमत और भक्ति-मार्ग का वर्णन, गुरु रामानुज, रामानन्द तथा वल्लभाचार्य का प्रभाव साहित्य पर दिखाते हुए अध्याय के अन्तिम पृष्ठ पर वास्तविक लोक साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। चतुर्थ अध्याय निर्गुण भक्ति साहित्य का है। आरम्भ रामानन्द के शिष्य परम्परा से होता है। नाथपंथी योगियों से उनका संपर्क स्पष्ट करते हुए महाराष्ट्री हिन्दी कवि नामदेव और

जयदेव का वर्णन किया गया है। निर्गुण साधक कवियों में प्रमुख कबीर का विस्तृत वर्णन है। बीजक, रमैनी साखी, शब्द भी इस वर्णन के अन्तर्गत आ गये हैं। अन्त में कबीर संप्रदाय और उनकी शिष्य परम्परा का चित्रण है।

पाँचवां अध्याय कृष्ण भक्ति साहित्य है। इसका आरम्भ लीलागान परम्परा से होता है। तत्पश्चात् इस शाखा के शीर्षफूल कवि सूरदास तथा उनकी रचनाओं पर विचार विस्तार से किया गया है। तदनन्तर अष्टछाप कवियों तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन है। अन्त में कृष्ण भक्ति साहित्य के गुण दोषों पर विचार किया गया है। छठवाँ अध्याय सगुणमार्गी राम भक्ति साहित्य का है। इसमें तुलसीदास का देखा हुआ समाज उनका आत्म परिचय, व्यक्तित्व, जन्म स्थान, उनके रचित ग्रन्थ, उनकी सफलता के कारण, समन्वय भाषा आदि पर गहन एवं गम्भीर विचार किया गया है। तत्पश्चात् अन्य कवियों का संक्षिप्त तथा इस साहित्य की विशेषता बताते हुए यह अध्याय समाप्त हो जाता है।

सातवाँ अध्याय प्रेम कथानकों का साहित्य है जिसने प्रेम कथानकों की परम्परा पर दृष्टिपात करते हुए सूफीमत का भारतवर्ष में प्रवेश जायसी तथा उनके द्वारा लिखा गया काव्य 'पद्मावत' पर सरसरी नजर डालने का प्रयास है। आठवाँ अध्याय रीति काव्य है। इसमे रीति काव्यों का सामान्य विवेचन देते हुए प्रमुख रीति ग्रन्थकारों पर प्रकाश डाला गया है। रीतिमुक्तधारा के कवियों एवं नीति काव्य के रचयिता आदि का वर्णन भी संक्षेप में मिलता है।

नौवाँ अध्याय आधुनिक काल है जिसे सन् १८०० से १९५२ तक द्विवेदी जी ने माना है। गद्य युग का आरम्भ बताते हुए प्राचीन गद्य पर विचार किया गया है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में हिन्दी गद्य का सूत्रपात दिखलाते हुए प्रमुख गद्य निर्माता जैसे मुन्शी सदासुखलाल, लल्लूलाल तथा मुन्शी इंशा अल्लाखां पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड में परिमार्जित भाषा और साहित्य का आरम्भ बताते हुए नवीन शिक्षा का प्रचार और उसके प्रति विद्रोह का वर्णन है। आर्य समाज की स्थापना, उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन है। तृतीय खण्ड में भारतेन्दु का उदय और उनके प्रभाव का वर्णन है। चतुर्थ खण्ड में १९०० से १९५२ तक के साहित्य विकास को दिखाया है। इसी खण्ड में अन्तिम पृष्ठों में प्रमुख लेखकों की प्रमुख रचनाओं की सूची दे दी गई है। पाँचवें खण्ड में छायावाद और रहस्यवाद को अलग अलग प्रवृत्ति मानते हुए रहस्यवाद को छायावाद की शैली मात्र नहीं माना है रहस्यवाद में एक परात्पर असीम के प्रति आस्था को आवश्यक माना है। इन्होंने रहस्यवाद की दो धारायें कर दी हैं। एक चिन्तन मनन प्रधान जिसका प्रतिनिधित्व 'प्रसाद'

करते हैं और दूसरी भावना और अनुभूतिप्रधान जिसका प्रतिनिधित्व 'महादेवी' करती हैं। इन्हीं दो कवियों को मुख्यता दी गई है। छठवाँ खण्ड प्रगतिवादका है।

दसवां अध्याय उपसंहार है। द्विवेदी जी हिन्दी की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि हिन्दी में आश्चर्यजनक अद्भुत शक्ति है और उसमें युग सत्य को पहचानने की क्षमता है अत: हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।

निबन्ध पुस्तकें

१. अशोक के फूल

अशोक के फूल साहित्यिक निबन्धों का संग्रह है। इसकी पृष्ठ संख्या २०८ एवं २१ निबन्ध हैं। इन निबन्धों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है वस्तुत: लेखक की सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास सम्बन्धी जिज्ञासा ही अनेक रूपों और विषयों का आधार लेकर प्रकट हुई है। इस पुस्तक में उनके कई प्रकार के निबन्धों के दर्शन होते हैं। जैसे संस्मरणात्मक चिन्तनात्मक, अनुसंधान एवं गांभीर्ययुक्त शोधप्रेरक सांस्कृतिक. ज्योतिष सम्बन्धी वैयक्तिक निबन्ध आदि।

प्रत्येक निबन्ध में काव्यप्रियता तथा कल्पनाशीलता देखी जा सकती है। मेरी जन्मभूमि नामक निबन्ध जो शायद इस पुस्तक का सर्वश्रेष्ठ निबन्ध है, इसका ज्वलंत उदाहरण है। बसन्त आ गया है, 'अशोक के फूल' में आपने सांस्कृतिक वैभव को निकट से देखा है। आप विश्वास पूर्वक कहते हैं वह संस्कृति का स्वरूप, किसी धर्म, विश्वास, आस्था, परम्परा जाति समूह या दल विशेष से सम्बद्ध नहीं समस्त भारत भूभाग में फला फूला है। इसी तरह 'प्रायश्चित की घड़ी' में लेखक विगत युद्धकाल के बाद की समस्याओं पर विचार करने बैठता है। भारतवर्ष क्या है, प्रश्न का उत्तर ढूढता है और वर्णाश्रम श्रृंखला से समग्र इतिहास का आलोकन करा डालता है।

निवन्धों के बीच में कभी कभी पाठक को गुदगुदाने के लिये और कभी कभी स्वतन्त्र रूप से साहित्य की किसी प्रवृत्ति विशेष पर आप बड़ा ही सुन्दर व्यंग्य करते हैं। 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है' शीर्षक निबन्ध में आप कुछ आलोचकों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं : 'मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हंसी खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकंपित यह क्या कम साधना है? 'अशोक के फल' के निबन्धों में भावुकता तथा विचारों का प्रकाशन अधिक है।

२. विचार और वितर्क

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के २८ निबन्धों का यह संकलन दूसरी बार प्रकाशित हुआ है। इसमें कुछ नये निबन्ध जोड़ दिए गए हैं और कुछ पुराने निबन्ध छोड़ दिए गये हैं। उनकी पृष्ठभूमि विशद है और वे एक व्यापक क्षेत्र का स्पर्श करते हैं इसलिए उनमें साहित्य दर्शन भक्ति, संस्कृति इत्यादि की अनेक जटिल गुत्थियाँ समाहित हैं। इन गुत्थियों पर लेखक ने गहराई से विचार किया है और हर जगह कोई न कोई नवीन व्याख्या देने की चेष्टा की है। सभी निबन्ध एक ही जाति के नहीं हैं परन्तु प्राय: सबका केन्द्रीय विषय साहित्य ही है। जिसमें कुछ निबन्ध तो बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं जैसे प्रेमचन्द्र का महत्व सत्य का महसूल, गतिशील चिन्तन और जबकि दिमाग खाली है—इत्यादि। हिन्दी के भक्ति एवं सन्तकाव्य पर जितने भी निबन्ध हैं उनमें हमें नवीन प्रकाश मिलता है। संक्षेप में संस्कृति और साहित्य पर प्रकाश डालने वाले ये सभी निबन्ध विवेचनात्मक और अध्ययनपूर्ण हैं।

३. विचार प्रवाह

विचार प्रवाह समय-समय पर लिखे गये लेखों और भाषणों का संग्रह है। कुछ निबन्ध पहले के हैं और कुछ हाल के। इस संग्रह में कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर की एक कविता का अनुवाद भी है। जो द्विवेदी जी को बहुत प्रिय है। इसका प्रकाशन सन् १९५९ जुलाई में हुआ था। कुल इक्कीस निबन्धों एवं भाषणों का संग्रह है। इसमें विशेषकर साहित्यिक निबन्ध और शोध सम्बन्धी निबन्धों को रखा गया है। एक निबन्ध तो वही है जो 'साहित्य का मर्म' नामक किताब का दूसरा व्याख्यान है। हिन्दी के भक्ति एवं संतकाव्य पर जितने भी निबन्ध हैं उनमें हमें नवीन प्रकाश मिलता है। द्विवेदी जी विषय की गहराई में दूर तक प्रवेश करते हैं और वहाँ से लाकर एक चमत्कारिक निष्कर्ष हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं। पुरानी बातों को नवीन ढंग से कहने की कला में वे पटु हैं। उनकी शैली में ओज है और उसमें हमें गहराई तक पहुँचा देने की विचित्र शक्ति है।

आपके निबन्धों के अनेक विषय हैं। विषय के अनुसार आपकी भाषा बदलती रहती है। भाषा आपके व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। उसमें संस्कृत का पूर्ण वैभव लोक जीवन की समूची सरसता और भावाभिव्यक्ति की अमूर्त क्षमता है। भाषणों में उसका प्रवाह रोका नहीं जा सकता। आवेश आने पर आपकी शैली

प्रशंसात्मक हो जाती है ।

४. हमारी साहित्यिक समस्यायें :

प्रस्तुत पुस्तक बारह साहित्यिक एवं समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह है । पृष्ठ संख्या २२७ है और रचनाकाल सन् १९४९ है ।

पहला निबन्ध 'संस्कृत और हिन्दी' है । इसमें आपने बताया है कि पुराने जमाने में आसेतु हिमालय एक संस्कृत भाषा थी पर अब वह भाषा नहीं है पर हिन्दी उस भाषा का काम कर सकती है । कविता का भविष्य शीर्षक में प्राचीन जमाने की कविता के क्षेत्र का वर्णन करते हुए बताया है कि आजकल कविता का क्षेत्र संकुचित हो गया है उसका कारण भी बतलाया है कि जमाने के साथ हमारी–आवश्यकतायें, रहन–सहन, हमारा दृष्टिकोण सब कुछ बदल गया है अत: इन्हें प्रभावित करने वाले साधन भी बदलना चाहिए यदि इस सत्य को मोहवश स्वीकार न करेंगे तो कविता का भविष्य निश्चित रूप से अच्छा नहीं है ।

'हिन्दी की शक्ति' नामक निबन्ध 'मुंगेर हिन्दी परिषद' में सभापति पद से दिया हुआ व्याख्यान ही है । इसमें आपने हिन्दी की वर्तमान शक्ति को बताते हुए कहा कि हिन्दी के साहित्य को समृद्ध करने के लिए हमें गरुड़ की महान् भूख के समान साहित्यिक क्षुधा वाले महान पुत्रों की आवश्यकता है । और उन्होंने यह भी कहा है कि साहित्य सम्मेलन नागरी प्रचारिणी सभा के साथ-साथ हम सबको भी सजीव व्यक्तित्व को लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरना चाहिए ।

भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति, नया साहित्यिक दृष्टिकोण, साहित्य निर्माण का लक्ष्य, हिन्दी प्रचार की समस्या आदि में आपने क्रमश: प्राचीन साहित्य पर विचार किया है । 'हिन्दी का प्रचार कैसा हो' एवं राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार तथा उसे कायम रखने के उपाय बताए है ।

'रस का व्यावहारिक अर्थ' एवं 'रस क्या है' इन दोनों निबन्धों में क्रमश: प्राचीन आचार्यों की रस के प्रति विशेष दृष्टि को समझाते हुए बताया है कि भारत के पूर्ववर्ती काव्य में ही रस शब्द का अर्थ श्रृङ्गार ही समझा जाता था । काव्यांगों में रस या श्रृङ्गार का स्थान अतुलनीय था, बताया है । 'रस क्या है' नामक शीर्षक में ध्वनि के प्रतिष्ठ ता आनन्दवर्धन की चर्चा एवं रस के प्रति उनके मत को बतलाया गया है। और यह भी बतलाया है कि उनका विश्वास एक अलौकिक ब्रह्मानन्द में था ।

'साहित्य का नया रास्ता' नामक निबन्ध में तरुण साहित्यकारों को दो बातें याद रखने के लिये बतलाई है, वे हैं—ज्ञान, सौन्दर्य, कल्याण के अस्थायी परिवर्तनशील रूप के साथ स्थायी शाश्वत रूप को अस्वीकार नहीं कर सकेंगी और न यही अस्वीकार कर सकेंगी कि उनका नाम सहृदय के हृदय में स्थायी रूप में विद्यमान भावों का उद्बोध है। इन दो बातों को मान कर ही देश में अपना प्रभाव विस्तार कर सकेंगी।

अन्तिम दो काल्पनिक वार्तालाप रीतिकाव्य और इतिहास का सत्य दोनों कल्पलता के 'साहित्य का नया कदम' से मिलते जुलते हैं। इन दोनों का संशोधित रूप ही साहित्य का नया रास्ता कहा जा सकता है।

६. कल्पलता

प्रस्तुत पुस्तक में द्विवेदी जी के समय-समय पर लिखे गए २० निबन्धों का संग्रह है। पृष्ठ संख्या १८४ और रचनाकाल संवत् २००८ है। निबन्ध लेखक के रूप में द्विवेदी जी की निबन्ध लेखन शैली, बहुज्ञता, दृष्टि व्यापकता तथा जीवन में आनेवाली छोटी छोटी घटनाओं के प्रति संवेदनात्मक अनुभूति का परिचय मिलता है। कुछ निबन्ध हमारे वर्तमान हिन्दी साहित्य की गतिविधि का निर्देश करते हैं। कुछ निबन्ध वैयक्तिक निबन्ध हैं और कुछ निबन्धों में हिन्दी साहित्य की उन्नति में संलग्न संस्थाओं तथा व्यक्तियों के उपाय निर्देश किए गए हैं। एक दो निबन्ध ज्योतिष से सम्बन्धित हैं। प्रथम निबंध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' इस सरल जिज्ञासा पर विचार करते-करते लेखक पशुता और मनुष्यता के मूल्य पर विचार करने लगता है। 'आम फिर बौरा गये' की चर्चा करते हुए वह कालिदास के युग जीवन की चर्चा करने लगता है।'ठाकुर जी की बटोर' में ठाकुर जी के प्रति लोगों की उदासीनता की बात सोचते सोचते आप कल्पना जगत में सारा प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक रंगमंच और उस पर होने वाले अनेक परिवर्तन सजीव हो उठते हैं। डा० देवराज उपाध्याय का कहना है कि द्विवेदी जी एक साहित्यिक साधन हैं, वे निर्भयता से अपने ऊपर चिपके छिलके को फेंक देंगे पर अपने अंदर से निकलते हुए चमड़े पर ही अन्य श्रेणियों के सत्य की कलम लगायेंगे। चाहें वे नाखून की बात करें, आम के बौराने की कथा कहें, शिरीष के फूल पर कुछ कहें या 'ठाकुर जी की बटोर' की ही चर्चा करें पर इनके सिलसिले में आप से कुछ ऐसी बातें कह 'जायेंगे जो लाख रुपये की हो। कान्ता सम्मत और सहृदय सम्मत का प्रत्यक्ष उदाहरण यदि आपको देखना हो तो

आपकी 'कल्पलता' से अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं।[1] कल्पलता के निबंधों को पढ़ने पर पाठक अपने को अधिक समृद्ध अधिक ज्ञानवान और अधिक समर्थ पाता है और मनुष्य के अन्तस्तल में एक विचित्र रासायनिक परिवर्तन की क्रिया प्रारंभ हो जाती है और मानवता की उच्च सीढ़ियों पर चढ़ता सा अनुभव करता है।[2] 'साहित्य का नया कदम' में आधुनिक साहित्य की गतिविधि पर ऐसे सुलझे और संतुलित विचार हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते। इसमें एक काल्पनिक वार्तालाप है और अनेक मतधारी साहित्यिकों के विचारों को पारस्परिक रूप में सम्बद्ध करके देखने की चेष्टा की गई है। आधुनिक प्रगतिवादियों का प्राचीनों पर कसा हुआ व्यंग्य, प्राचीनों द्वारा आधुनिकों पर किया गया मुक्ति प्रहार, उभय पक्ष को ग्रहण करने वालों के द्वारा कभी इस पक्ष पर, कभी उस पक्ष पर ली गई मीठी चुटकी पाठकों के हृदय में एक विचित्र गुदगुदी पैदा कर देती हैं।[3] समालोचक की डाक' महिलाओं की लिखी कहानियाँ, मनुष्य की सर्वोत्तम कृति-साहित्य' इत्यादि निबन्ध अपने में महत्वपूर्ण हैं जिनमें लेखक ने अनेक रूप से हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि की है।

७. साहित्य का मर्म :

इसका रचनाकाल सन् १९५० है। पृष्ठ संख्या ७८ है। यह पुस्तक लखनऊ विश्वविद्यालय में दिए गए तीन व्याख्यानों का संग्रह है। साहित्य का मर्म 'समझने से पहले हमें यह देखना चाहिए कि द्विवेदी जी 'साहित्य' का अर्थ क्या समझते हैं ? उन्होंने लिखा है कि वस्तुतः साहित्य शब्द का प्रथम प्रयोग कुन्तक ने किया है और शब्द एवं अर्थ के ऐसे विशिष्ट साहचर्य के अर्थ में किया है जिसमें वक्रता के कारण विभिन्न गुणों और अलंकारों की शोभा एक दूसरे से स्पर्धा करती हुई आगे बढ़ रही हो। लेकिन शब्द और अर्थ सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। शब्द एवं अर्थ के 'साहित्य' को लेकर बार-बार करने वाली विद्या निश्चित रूप से मनुष्य के सामाजिक रूप की व्याख्या करती है।

साहित्य के दो पक्ष हैं : कला पक्ष एवं वस्तु (मर्म) पक्ष। आज काव्य की कारीगरी की विवेचना गौण हो गई है। उसके पर्मार्थ का विचार ही प्रधान हो उठा है। द्विवेदी जी मानते हैं कि काव्य केवल कौशल (कला) नहीं है, वह

१—आलोचना : अप्रेल : १९५२। २—वही : १९५२।
३—वही : १९५२।

मनुष्य को उच्चासन पर बैठाने का साधन भी है। यों भारतीय साहित्य ही नहीं पश्चिमी साहित्य भी साहित्य के मर्म से युक्त है। अपने 'मर्म' पर विचार कर चुका है-मर्म को प्रकट कर चुका है। पर प्रथम अध्याय में डा० द्विवेदी ने यह दिखाया है किस प्रकार स्व-सामयिक परिस्थितिवश प्राचीन भारतीय साहित्य का परवर्ती रूप उत्तरोत्तर कला प्रधान होता गया। साथ ही दूसरे अध्याय में उन्होने यह बताना चाहा है कि उसी संस्कृत साहित्य का पूर्ववर्ती रूप किस प्रकार मार्मिक है। न केवल भारतीय ही प्रत्युत पश्चिमी साहित्य को भी अपेक्षित संस्कार संपन्न दृष्टि से देखा जाय तो वहाँ भी यही चीज मिलेगी। उन्होंने कहा है दोनों ओर दो दृष्टियाँ हैं: एक समाज की सामंजस्य व्यवस्था को अनालोडित रखने के उद्देश्य से सामाजिक मंगल के रास्ते चलकर प्राप्त की गई है और दूसरी व्यक्ति मानव के मनोवेगों का निरीक्षण करके उपलब्ध की गई है। हमारे देश के मनीषियों ने कभी भी उसे (काव्य को) विश्वजनीन नैतिक पृष्ठभूमि से निम्नस्तर पर रखकर विचार नहीं किया।

इसी स्वर में जहाँ तक द्विवेदी जी के चिंतन का सम्बन्ध है वे मानते हैं कि जीवन धारण करना ही मानव जीवन की चरितार्थता नहीं है। जहां तक केवल जीवन धारण करने का प्रश्न है, मनुष्य प्रयोजनों से बंधा हुआ है। मनुष्य अपने को प्रयोजन के जगत से बाहर भेजना चाहता है—पाशव स्तर से ऊपर उठाना चाहता है। प्रयोजन पूर्ति का स्तर पाशव स्तर है, प्रयोजन की समाप्ति से ऊपर उठना पाशव स्तर से ऊपर उठना है तभी 'मनुष्यता' की शुरुआत होती है। प्रयोजनातीत पदार्थ का ही नाम सौंदर्य है, प्रेम है, भक्ति है मनुष्यता है। जहाँ स्वार्थ समाप्त होता है, वहीं से मनुष्यता शुरू होती है। इसी की उपलब्धि जीवन की चरितार्थता है। जीवन की चरितार्थता ही काव्य का अभिप्रेत है। मनुष्यता ही काव्य का प्रतिपाद्य है-वही साहित्य का मर्म है।

आज का तृष्णाकुल एवं अभाव ग्रस्त जगत् आज तृष्णा को शांत करने के लिए तेजी से उन्मुख है—पर क्या वह तृष्णा की आग को कभी बुझा सकेगा ? नहीं, अत: विवेदी जी का तो यह ख्याल है कि खोज तो उस वस्तु की होनी चाहिए जो उसे प्रयोजनातीत 'सत्य' की ओर ले जाय। नितांत उपयोगिता की दृष्टि से भी देखा जाय तब भी यह तो मानना ही होगा कि मानव क्षुद्रता एवं संकीर्णता से ऊपर उठाने बाला धर्म भी उपेक्षा न ही करे। यही धर्म मनुष्यता है। कलात्मक साज सज्जा में आवेग को बांधने वाले छन्दों में प्रस्तुत उक्ति 'सूक्ति' है उसमें गति है। पर गति तो जड़ का भी धर्म हो सकती है। काव्य में तो प्रगति चाहिए। यह चेतनाधर्म है। 'गति' में अ (प्रकर्ष) का योग मनुष्यता

को प्रतिपाद्य बनाने पर होता है। इसी का कांचन सम्पर्क सूक्ति को काव्य बनाता है। इस प्रकार सत् साहित्य वही है जो आत्मधर्म (प्रगति) के प्रति सचेतन बनाये। मनुष्यता की मात्रा को भी देखेंगे कि उसने आदिम कही जाने वाली मनोवृत्तियों के हाथ अपने को छोड़ नहीं दिया, प्रयोजन की संकीर्णता की बेड़ियों से अपने को बांधने नहीं दिया—सब कुछ को रौंदकर वह आगे बढ़ती जा रही है साहित्य वही है जो इसकी प्रगति में सहायक हो। विकासवादी दृष्टिकोण से भी देखें तो मनुष्य का धरातल 'है' की अपेक्षा 'चाहिए' की ओर प्रगतिशील होकर जितना ही 'मनुष्य' होता जाता है—उतना संकीर्णता को बेधकर तादात्म्य की ओर बढ़ता जाता है और उसकी अंतिम सीढ़ी 'एकता' अनुभव है। यह एकता की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। एकता की प्राप्ति का प्रयास पिछले दिनों भी हुआ था, पर व्यक्तिगत साधना से। आज उस 'महत्व को प्राप्त करने के लिए समूचे समाज का प्रयत्न, सामूहिक रूप से होना चाहिए। इसी मनुष्यता का आनन्दमय रूप उच्छलित होता है तब साहित्य की सृष्टि होती है।

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तथ्य जगत् से गाढ़ भाव से सम्बद्ध होने पर भी साहित्य का सबसे अधिक सम्बन्ध मानसिक जगत् से है—और कदाचित् इसीलिए आज के तरुण साहित्यकार मनोविज्ञान के नवीन आविष्कारों के पीछे पड़ गये हैं। पर सचाई यह है कि मानवोद्भावित महान् ज्ञानराशि का यह एक कण ही है। कभी-कभी पदार्थ विज्ञान एवं जीव विज्ञान से आविष्कृत तथ्यों से मनोविश्लेषण शास्त्र निर्मित तथ्य बेमेल पड़ जाते हैं। अत: उसे सब सांचों से मिलाकर ही ग्रहण करना चाहिए। मनोविज्ञान भी क्या नियति दासता को बढ़ावा नहीं देता। संयम एवं विवेक की निन्दा नहीं करता 'चाहिए' की ओर के प्रयास को कृत्रिम नहीं बताता।

छायानुवाद

१. प्राचीन भारत का कलात्मक विलास

इस पुस्तक का आरम्भ कैसे हुआ इसे बताते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक की भूमिका में कहा है' शान्तिनिकेतन की भारतीय संसद ने नृत्यगीत आदि के अनुष्ठान के व्यावहारिक पहलू का प्राचीन काव्य ग्रन्थों से जो उल्लेख मिलता है उस पर दो व्याख्यान देने का अनुरोध किया था। इस पुस्तक का आरम्भ इसी बहाने हुआ था। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों, नाटक, उपाख्यान, स्मृति उपनिषद् और वेद सभी का आधार लेकर साधारण जनता के नित्य के

कार्यों उत्सवों और विशेष अवसरों का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि आंखों के सामने दृश्य का साक्षात् स्वरूप नर्तन करने लगता है। जीवन, कला और स्थापत्य से सम्बन्ध रखने वाले तिरपन विषयों की इसमें चर्चा है। उदाहरण के लिए जहाँ विनोद के पक्षगण हैं वहाँ पच्चीसों पक्षियों का और बाग-बगीचों का वर्णन है, वहाँ वीथिकाओं और पुष्पों का बहुत ही कलात्मक वर्णन किया गया है। रंगशाला की, नाटकों की, संगीत, मदनोत्सव, उद्यानयात्रा आदि की चर्चा बड़े ही मनमोहक रूप में की गई है। जहाँ कला, कलाओं की प्राचीनता काव्यकला आदि का विवेचन है वहाँ दूसरी ओर कला का दार्शनिक अर्थ और कला के प्रकार और कला के उपयोग आदि का स्पष्ट रूप से वर्णन है। गणिका आज बड़े तिरस्कार की दृष्टि से देखी जाती है परन्तु इस पुस्तक से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में वेश्याओं के भेद होते थे और गणिका नाम से उन्हीं का सम्बोधन होता था जो कला, ज्ञान और संस्कृति में बहुत उच्चकोटि की मानी जाती थी और सारा समाज उनका आदर करता था। यही नहीं इस पुस्तक में काव्य शास्त्र विनोद काव्यकला, विद्वत्सभा आदि विषयों का रोचक वर्णन है।

अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत चार प्रकार के विषय देने से इस पुस्तक की महत्ता और भी बढ़ गई है। शुद्धिपत्र नामक एक पृष्ठ देकर रही सही गल्तियों को दूर करने का प्रयास है। इस पुस्तक में केवल प्राचीन युग की झांकी ही नहीं मिलती वरन् प्राचीनों के प्रकृति प्रेम और उनके जीवन की उमंग और उल्लास के भी दर्शन होते हैं। प्राचीन आर्यों ने केवल अध्यात्मिकता में ही विशेषता नहीं प्राप्त की थी अपितु उनका लौकिक जीवन भी उतना ही सम्पन्न और कलामय था जितना उनका आध्यात्मिक जीवन।

२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि 'यह पुस्तक मेरी पुरानी पुस्तक' 'प्राचीन भारत के कलाविलास' का परिवर्धित और परिवर्तित रूप है। कला विलास बहुत अशुद्ध छपा था इसमें उन अशुद्धियों को दूर कर दिया गया है। बहुत से नये विषय इसमें जोड़ दिये गये हैं। इस प्रकार यह पुस्तक प्रायः दूसरी पुस्तक बन गई है। इसलिए इसका नाम भी थोड़ा परिवर्तित कर दिया गया है। इसमें कुछ प्राचीन चित्रों की प्रतिलिपि भी दी गई है जो वक्तव्य को ठीक-ठीक समझने में सहायक सिद्ध होगी। प्रस्तुत पुस्तक अपने ढंग की महत्वपूर्ण रचना है। इसमें ८९ विषयों की चर्चा है। तिरपन विषय और परिशिष्ट तो वे ही हैं

जो कलाविलास में हैं पर उनमें भी कुछ सुधार किये गये हैं, अन्य छत्तीस विषय इसमें जोड़ दिये गये हैं पर फिर भी पृष्ठों की संख्या कलाविलास से कम है। विषय ज्ञान कराने की दृष्टि से अपने में पूर्ण है। कला सम्बन्धी करीब दस पाठ जो इसमें जोड़े गये है सुन्दर और ज्ञानवर्द्धक हैं। दैनिक कार्यों में आने वाली वस्तुओं का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। जैसे मुखप्रक्षालन और दांतून, केश संस्कार, अधर और नाखून की रंगाई, तांबूल सेवन। स्नान भोजन, भोजनोत्तर विनोद आदि के बारे में लिखकर मानों पाठकों की रुचि का संस्कार किया गया है। इन पाठों को बार-बार पढ़ने का मन करता है इसके अतिरिक्त अनेकों विषय ऐसे हैं जो पाठकों की रुचि को जबरन ही पैदा करते हैं जैसे शुक-सारिका, शकुन, सूक्ति, वीणा, कल्पवल्ली, भित्तिचित्र, लेखन सामग्री इत्यादि। अभिनय सम्बन्धी कुछ नये प्रकरण भी जोड़े गये हैं जो वास्तव में पुराने जमाने के अभिनय और उस जमाने में अभिनेताओं की समाज मर्यादा क्या थी, दिखाने में समर्थ हैं। कवियों की आपसी स्पर्धा नामक शीर्षक उस समय के विद्वानों के पाण्डित्य को दिखाने में काफी सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार एक सौ तिरसठ पृष्ठों की यह पुस्तक प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद को प्रत्यक्ष रखने में समर्थ है।

३. लालकनेर :

इसका रचनाकाल सन् १९५८ है। यह रवीन्द्रनाथ की पुस्तक का अनुवाद मात्र है। इसमें कवींद्र रवींद्रनाथ ने किसी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया है अपितु वर्तमान मानव जीवन को जो मशीन आदि से अव्याहत हो चुका है, उससे उसको अनेकों अत्याचारों को भोगना पड़ा है। उससे मुक्त करने के लिए कवि की एक विशेष दृष्टि है। यदि कथानक को समस्या का रूप देना हो तो कहा जा सकता है कि इस नाटक में रवीन्द्रनाथ ने संगठित या व्यक्तिगत जीवन के उस वर्तमान रूप पर प्रकाश डाला है जो मनुष्य को जड़ कर देता है उसे केवल एक दो तीन चार की संख्या से अधिक कुछ नहीं मानता। मानों वह टीन में पैक की हुई वस्तुमात्र हो। जिसे चाहे जिस नम्बर से पुकारा जा सकता है। इसीलिए उन्होंने कहीं कहा है, मनुष्य निर्दय होते हैं मानव करुणावान् है।[१]

संगठित जीवन की यही निर्मम व्यवस्था इस रूपक में यक्षधुरी के

१—लालकनेर : पृ० १५।

अगोचर और दुर्गम राजा के रूप में प्रस्तुत की गई है। यहाँ का राजा एक अत्यन्त जटिल जाल के आवरण के अन्तराल में रहता है। महल में जहाँ उसका जाल का आवरण है वही स्थान इन नाटक का एकमात्र दृश्य भी है। इस स्वर्ण-पुरी में सुवर्ण के क्रूस पर प्रभु यीशु को जीवित लटका दिया गया है। इस मिथ्या राजा के विपरीत विरोध करने के लिए सम्पूर्ण मानव रूप में नन्दिनी का आविर्भाव हुआ। नारी सुलभ सहज बुद्धि से नंदिनी जान गई है कि जीवन का चरम विकास प्रेम में ही है। उसके स्पर्श में संजीवनी शक्ति है—उसके छूते ही संख्या को नामों में डिब्बों को व्यक्तियों में परिणत कर देती है। चिर अदृष्ट लाभ के जटिल संगठन के साथ नंदिनी रंजन विशु जैसी सरल आत्माओं का संघर्ष होता है जिसमें अन्त में इन्हीं भोले मानव प्राणियों की विजय होती है।[१] नारी की शक्ति पर रवीन्द्रनाथ को विश्वास था, हमारी इस लोभ संकुल, मशीन निर्मित सभ्यता को गले तक डुबाने वाले मोह और विनाश के पंक से नारी ही मुक्त कर सकती है, निकाल सकती है। इसीलिए इस रूपक की नायिका नंदिनी है।[२]

लालकनेर के अन्दर कवि का एक गूढ़ भाव एवं वेदना उदात्त संदेश छिपा हुआ है। मनुष्य आज शांति के लिए व्याकुल है पर यदि उसे अपनी व्याकुलता को दूर करनी हो उसे किसी बुद्ध या यीशु की शरण लेनी होगी।

संपादित ग्रंथ

सन्देशरासक

द्विवेदी जी ने अब्दुल रहमान कृत संदेश रासक (आलोचना हिन्दी अनुवाद और अवचूरी व्याख्या सहित) का संपादन किया है। प्राक्कथन में स्वयं द्विवेदी जी ने कहा है कि "संदेश रासक" अपभ्रंश का बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। मैंने अपने प्रिय छात्र विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ इसका नये सिरे से संपादन किया है। इस ग्रंथ के संपादन कार्य में अनेक जगह से और अनेक ग्रन्थों से सहायता ली गई है। मुद्रित प्रति के अतिरिक्त एक पूरी और एक अत्यधिक अपूर्ण प्रति का भी सहारा लिया गया। जयपुर के आमेर जैन ग्रन्थ भण्डार की प्रति बहुत महत्वपूर्ण है। दूसरी प्रति वस्तुत: एक पन्नामात्र हैं जो द्विवेदी जी को अपने मित्र—डा० रामसुरेश त्रिपाठी जी के संग्रह में मिली। यद्यपि यह अत्यन्त अपूर्ण प्रति कही जायेगी पर एक दो पाठों के निर्णय में इसने बड़ी भारी सहायता दी है।

१—बालकनेर : पृ० १६। २—वही : पृ० १६।

इसका संपादन सन्१९६०मार्च में हुआ है। इसकी प्रस्तावना में द्विवेदी जी ने लिखी है। प्रस्तावना में द्विवेदी जी ने संदेशरासक का संक्षेप में परिचय देते हुए लिखा है कि संदेशरासक मुनिजिनविजय जी द्वारा संपादित बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह सर्वप्रथम मुसलमान लेखक अब्दुल रहमान की बहुत ही सुन्दर रचना है, जो नाना दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जिन तीन प्रतियों के आधार पर मुनि जी ने इसका संपादन किया है उनमें एक तो मूलरूप में उपलब्ध संदेशरासक की प्रति है, लेकिन दो में संस्कृत छाया जैसे टिप्पणक या टीकायें हैं। इनमें साम्य अधिक है, वैषम्य कम। दूसरी टीका में जिसे अवचूरिका कहा गया है, इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गई है। इधर जयपुर के दिगम्बर जैन भण्डार की कृपा से संदेशरासक की एक और दुर्लभ हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है उसके बारे में लिखते हुए द्विवेदी जी कहते हैं उसमें जो टीका है वह अवचूरिका से मिलती जुलती है। इस पुस्तक में आरम्भ के पन्ना नहीं हैं। आदि में खण्डित एवं अन्त में कुछ उल्लेख न होने से यह पता नहीं चल सका कि टीका का नाम क्या है और लेखक कौन है। इन दोनों टीकाओं के उन शब्दों का विचार किया है जो दोनों में एक से है तथा दोनों टीकाकारों द्वारा उनके प्रयोग की भिन्नता बतलाते हुए किस प्रकार प्रयोग होना चाहिए और क्या होना चाहिये इस पर लेखक ने प्राय: सभी स्थलों पर बड़े गहरे अध्ययन एवं खोज के पश्चात् अपना अभिमत दिया है। उदाहरणार्थ द्वितीय प्रक्रम के चवालीसवें दोहा को लें तो इनकी विद्वता, पांडित्य, गहरा अध्ययन आदि का सहज ही पता चल जाता है। दोहा का अंश 'कयत्ररहि अहिणिय अइ' का अर्थ टीकाकारों ने नहीं किया है। यहाँ लेखक अपना मत देते हुए बताते हैं जान पड़ता है कि यह शब्द कृतिकार या कृतकर से बना है जिसका अर्थ मायावी जादूगर और खेल तमाशा दिखाने वाला होता है। लेखक कहते हैं 'अहिणविय आइ' स्वीकार करने से एक मात्रा अधिक हो जाती है 'ज' प्रति का अहिणविपइ पाठ छन्द और मात्रा दोनों दृष्टियों से उचित है। इसका अर्थ 'अभिनीत किया जा रहा है' होना चाहिए। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'अभिनीयते' किया है। टिप्पणकार ने इसका अर्थ 'अभिनूयते' किया है जो कदाचित् स्तुत्यर्थक अभि पूर्वक नू धातु से बना है। प्राकृत शब्द महार्णव में 'अहितु' का अर्थ स्तुति करना या 'प्रशंसना' दिया हुआ है। संभवत: यही अर्थ ध्यान में रखकर अवचूरिका के लेखक ने 'उच्चयते' अर्थ किया है। लेकिन 'ज' प्रति का—'अहिणवियइ' पाठ स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अर्थ बहुत स्पष्ट हो जायेगा। 'रामायणमभिनीयते' अर्थात् रामायण का अभिनय किया जा रहा है। इस प्रकार इसके संशोधित एवं परिवर्तित रूपों को देखने से हमें इनके पाण्डित्य का सहज ही ज्ञान हो जाता है।

संदेशरासक की भूमिका विश्वनाथ त्रिपाठी जी ने लिखा है जो द्विवेदी जी के शिष्य हैं। भूमिका में 'रासक का विकास' नामक शीर्षक में रास, रासक, रासो और रासा शब्दों से अभिहित्य साहित्य के विकास का अध्ययन अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण ढंग से बताया है। इसी रासा छन्द के बारे में विचार करते हुए द्विवेदी जी ने कहा है "धीरे धीरे इन शब्दों का प्रयोग घिसे अर्थों में होने लगा जिस प्रकार विलास नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, प्रकाश नाम देकर चरितकाव्य लिखे गए उसी प्रकार रासो या रासक नाम देकर भी चरित-काव्य लिखे गये।" 'संदेशरासक' इसी प्रकार की प्रचलित प्रेमगाथा के आधार पर रचित काव्य है।

तत्पश्चात् 'संदेशरासक' कृति, 'कवि और रचनाकाल' पर विचार किया गया है। कृति नामक शीर्षक के अन्तर्गत पूनेवाली प्रति लोहावत भी प्रति, पाटन भण्डार वाली प्रति बीकानेर की प्रति, जयपुर की प्रति तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के रीडर डा० रामसुरेश त्रिपाठी संग्रह में से संदेशरासक की किसी लुप्त प्रति का एक पत्र प्राप्त हुआ है। उसके साथ साथ इस पर भी विचार डाला गया है। 'कवि और रचनाकाल' पर भी विचार किया गया है। सदेशरासक का काव्यरूप में लक्षण, विभाजन और काव्य प्रकृति पर विचार किया गया है।

विभाजन और काव्यकृति पर प्रकाश डालते हुए डा० विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है कि संदेशरासक तीन प्रक्रमों में विभाजित है। प्रथम प्रक्रम में काव्य की प्रस्तावना है। वास्तविक कथा द्वितीय प्रक्रम से प्रारम्भ होती है। तीसरे प्रक्रम में षडऋतु वर्णन है और उसके पश्चात् नायक के घर लौट आने के साथ ही साथ ग्रंथ समाप्त हो जाता है। इसके बाद मेघदूत के साथ समानता एवं विषमता का वर्णन मिलता है। संदेशरासक इसी प्रकार मुक्तकप्रधान या क्षीणप्रबंध धर्मा मुक्तक काव्य है। इसके अतिरिक्त संदेशरासक की भाषा के बारे में भी अन्त में विचार किया गया है। रासक में प्रकृति वर्णन विरह वर्णन और ऋतु वर्णन भी अच्छा मिलता है। उपसंहार के साथ समाप्त होता है।

२: पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो का संक्षिप्त संशोधित संस्करण ई० १९५७ में निकला है। इसका संपादन डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवरसिंह ने किया है भूमिका डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है। कुल दो परिशिष्ट सहित ग्यारह अध्याय हैं। भूमिका आदिपर्व इन्छिनी व्याहप्रथा शशिव्रता विवाह प्रस्ताव, कैमास,

द्विवेदी जी कहते हैं कि यही रासो का मूल रूप है। यह निर्णय करना अब बड़ा कठिन है कि चंद की वास्तविक रचनाएं कौन सी हैं ? द्विवेदी जी का विश्वास है कि चंद की मूल रचना कुछ इसी के आसपास होगी।

आदिपर्व से लेकर बानबोध समय तक तो पद्य रूप में दिया गया है। उसके पश्चात् नामवरसिंह जी ने रासो काव्य की परम्परा पृथ्वीराज रासो की प्रतियाँ तथा रूपान्तर पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता, पृथ्वीराजरासो का काव्यसौष्ठव, पृथ्वीराजरासो की भाषा पर अपना विचार प्रकट किया है। तथा अंत में कठिन शब्दों का अर्थ दिया गया है।

३. नाथसिद्धों की बानियाँ

इसका संपादन संवत २०१४ में द्विवेदी जी ने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ-माला के प्रकाशन का एक संक्षिप्त इतिहास ही है। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी जब काशी नागरीप्रचारिणी सभा में पधारे थे तो यहाँ के सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों को देखकर उन्होंने सलाह दी थी कि एक ऐसी ग्रन्थमाला निकाली जाय जिसमें सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित कर दिए जांय जिससे विद्वानों को उनकी सामग्री के विषय में विचारने का अवसर मिलेगा। इस तरह इसका संपादन कार्य द्विवेदी ने अपने हाथों लिया।

इस ग्रंथ की पृष्ठ संख्या १२९ है। और परिशिष्ट के रूप में दो अध्याय, पहले मे पुरानी हिन्दी के गद्य खण्ड एवं दूसरे में कठिन शब्दावली के अर्थ दे दिये गए है। प्रस्तुत ग्रथ में नाथ संप्रदाय के चौबीस सिद्धों की रचनाएं संपादित की गई हैं। इन संग्रह में प्रयुक्त पोथियाँ हस्तलिखित रूप में नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य भाषा पुस्तकालय से ली गई हैं। इसके अतिरिक्त पिंडी के जैन भांडार, कर्मद्र मठ, तथा दर्बार लाइब्रेरी जोधपुर' से भी कुछ पुस्तकें प्राप्त कर उनका उपयोग प्रस्तुत संग्रह में किया गया है। लेखक का अनुपात है इन पोथियों की भाषा १५-१६ वीं शताब्दी के बाद की है। गोरखबानी की भाषा के विषय में डा० बड़थ्वाल ने भी यही बात कही थी। इसके पूर्व नाथसिद्धों की बानियों के कुछ संग्रह ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं महापंडित राहुल सांकृत्यायन और डा० धर्मवीर भारती औ डा० कल्याणी मल्लिक ने भी इस दिशा में काम किया है। प्रस्तुत संग्रह में अपेक्षाकृत अधिक नाथ सिद्धों की संख्या सम्पादित है इसके रचयिता नाथसिद्धों की संख्या कुल चौबीस है। इन ग्रंथों की भाषा के

सम्बन्ध में मल्लिक का कहना है कि यह अंशत: राजस्थानी और अंशत: हिन्दुस्तानी है। प्राप्त सामग्री के आधार पर विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि ये रचनायें उन्हीं सिद्धों की हैं जिसके नाम से वे प्रचलित और प्रसारित हैं। इनमें से गोरक्ष, मत्स्येन्द्र, चौरंगीनाथ आदि आठ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इस समय नवीं शती से १२ वीं तक माना जाता है सर्वाधिक व्यक्तित्व गोरखनाथ का है।

नाथसिद्धों की हिन्दी बानियों का यह संग्रह कई हस्तलिखित प्रतियों से संकलित हुआ है। इसमें गोरखनाथ की बानियाँ संकलित नहीं हुई क्योंकि स्वर्गीय पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' नाम से गोरखनाथ की बानियों का सम्पादन कर दिया है। डा० बड़थ्वाल के द्वारा दिये गए गोरखनाथ की चालीस रचनाओं का नाम दिया गया है। अन्य सिद्धों की बानियां जो प्राप्त थीं उन्हें प्रकाशित किया गया है।

इस ग्रन्थ की अधिकांश बानियां नागरी प्रचारिणी सभा के आर्य भाषा पुस्तकालय में सुरक्षित तीन हस्तलिखित पुस्तकों से संग्रह की गई हैं तथा उसमें पद कर्त्ताओं का विवरण दिया गया है। 'गोरखनाथ का समय' शीर्षक में लेखक ने बताया है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के समय के बारे में इस देश में अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार बातें कहीं हैं। इनके और इनके समसामयिक सिद्ध जालंधरनाथ और कृष्णपाद के सम्बन्ध में इस देश में अनेक दंत कथाएँ प्रचलित हैं। अत्यन्त गहरे अध्ययन के बाद लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं (१) मत्स्येंद्र नाथ और जालंधरनाथ समसामयिक थे। (२) मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरू थे। (३) मत्स्येन्द्र नाथ कभी योगमार्ग के प्रवर्तक थे पर संयोगवश वामाचारी साधना में आ गये। जालंधरनाथ की साधना पद्धति एवं मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना पद्धति से भिन्न थी।

तत्पश्चात् जालंधरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ के समय निर्धारण के हेतु अनेक प्रमाण भी दिये गए हैं। कुछ लोग इनका समय १४ वीं और कुछ लोग १२ वीं और कुछ ८ वीं से लेकर ९ वीं शती तक के काल का निर्देश करते हैं और कुछ लोग इससे भी पूर्ववर्ती तिथि को बताते हैं। लेखक के अभिमत के अनुसार नाथमार्ग के आदि प्रवर्तकों का समय नवीं शती का मध्यभाग ही उचित जान पड़ता है।

'संप्रदाय भेद' शीर्षक में गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योग संप्रदाय नाना

करनारी प्रसंग, कनवज्ज समय, बड़ी लड़ाई समय, बानबोध समय परिशिष्ट (क) पृथ्वीराज रासो का परिचय, परिशिष्ट (ख) शब्दार्थ ।

पृथ्वीराजरासो हिन्दी साहित्य का अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक मत प्रकट किए हैं। रासो की प्रामाणिकता का विवाद प्रधान रूप से इस प्रश्न पर केंद्रित है कि सचमुच ही पृथ्वीराज का समकालीन और सखा कोई चन्द नामक कवि था या नहीं द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' के व्याख्यान में रासो के मूल प्रामाणिक अंग माने जाने योग्य अंशों की ओर संकेत किया है। प्रस्तुत संक्षिप्त रासो भी उन्हीं विचारों पर आधारित है। उन्हीं अंशों को संक्षिप्त किया गया है। जिनकी प्राचीनता उन व्याख्यानों में प्रामाणित की गई है। इन अंशों से रासो की पूरी साहित्यिक महिमा का परिचय मिल जाता है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रकाशित पृथ्वीराज रासो में ढाई हजार पृष्ठ हैं। जो ६९ सर्गो में विभाजित हैं। सबसे बड़ा कनवज्ज युद्ध है जो संभवत: रासो का मूल कथानक है। इसके अनुसार चंद पृथ्वीराज का मित्र कवि और सलाहकार था। रासो में वह तीनों रूपों में चित्रित है। इस ग्रन्थ के अनुसार दोनों के जन्म और मरणतिथि भी एक है। इस प्रकार अभिन्न मित्र की रचना निश्चय ही बहुत प्रामाणिक होना चाहिए यही सोचकर रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रारंभ किया था। इसी समय डा० बुलर को पृथ्वीराज विजय की एक प्रति हाथ लगी। इस ग्रन्थ की परीक्षा के बाद डा० बुलर इस परिणाम पर पहुँचे कि पृथ्वीराज विजय ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक ग्रंथ है और रासो अत्यंत अप्रामाणिक क्योंकि पृथ्वीराज कालीन अभिलेखों से पृथ्वीराजविजय में वर्णित घटनाएं मिल जाती हैं लेकिन रासों में वर्णित घटनाएं नहीं मिलतीं। फलत: प्रकाश बन्द कर दिया गया। रासो में बहुत सी अनैतिहासिक बातें मिलती हैं।

रासो को ऐतिहासिक कसौटी पर कसने पर सभी बातें खरी नहीं उतरती। डा० बुलर मारिसन, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी देवीप्रसाद जी आदि प्रामाणिक इतिहास लेखकों ने इसे अविश्वसनीय सिद्ध कर दिया है। फिर भी रासो का महत्व है। बहुत दिनों हम विद्वानों में यह विश्वास था यद्यपि रासों में प्रक्षिप्त अंश बहुत है तथापि इसमें चंद के कुछ न कुछ वचन अवश्य है जो काफी पुराने हैं। अभी तक यह कार्य असंभव समझा जाता रहा है पर हाल में मुनिजिन विजय जी ने पुरातन प्रबंध संग्रह में जयचंद

प्रबंध नामक एक प्रबंध प्रकाशित किया जिसमें चन्द के नाम से चार छप्पय दिए हैं। संदेशरासक की तरह भाषा भी कुछ आगे बढ़ी हुई है। इन पद्यों के प्रकाशन के पश्चात् अब इस विषय में किसी को संदेह नहीं रह गया है कि चंद नामक कोई कवि पृथ्वीराज के राजदरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा है। वर्तमान रासो में भी छंद कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गए हैं। शैली रासो एवं संदेशरासो की अधिकतर एक सी है। इस दृष्टि से विचार कर द्विवेदी जी ने निम्नलिखित प्रसंग को प्रामाणिक बताया है। आरंभिक अंश, इंछिनी विवाह, शशिव्रता का गंधर्व विवाह, तोमरपहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इंछिनी और संयोगिता की प्रतिन्द्विता और समझौता।

इन अंशों की भाषा में इस प्रकार की बेडौल और बेमेल ठूंसठास नहीं है और कवित्त का सहजप्रवाह है। इसमें चंद प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं। कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से तो चंद का काव्य बहुत महत्वपूर्ण है और परवर्ती काव्य में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया है वे चंद की प्रकृति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। इसी लिए प्रक्षेप करनेवालों ने चुन चुन करके कथानक रूढ़ियों और काव्य रूढ़ियों का सन्निवेश किया है। साधारणत: भारतीय कथाओं में कथानक को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिये २० कथानक रूढ़ियों का व्यवहार होता है। इन सभी का प्रयोग रासो में किया गया है।

छंदों का परिवर्त्तन बहुत अधिक हुआ है पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। १२ वीं १३ वीं शती में अपभ्रंश साहित्य में छंदों का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था। जो छंद परिवर्तन के लिये केशव की रामचंद्रिका तक आते आते यह छंद बहुला प्रथा निर्जीव और विकृत हो गई थी। अत्यधिक प्रक्षेप रहने के बाद भी रासो में यह प्रथा सजीव रूप में वर्तमान है।

द्विवेदी जी का कहना है वर्तमान रासो में युद्धों का प्रसंग बहुत अधिक है। ऐसा कहने में कुछ भी संकोच मालूम नहीं पड़ता कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कमधुज्ज के सरदारों के नामों की सूची आदि बातें परवर्ती ठूसठांस है। मूल रसो शुक और शुकी के संवाद रूप में ही लिखा गया था। और संभवत: कीर्तिलता के समान प्रत्येक समय के आरंभ में शुक और शुकी प्रसंग उसमें भी था। इधर रासो के अनेक सक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है और पंडितों में जब जल्पना कल्पना आरंभ हुई है कि इन्हीं छोटे संस्करणों में से कोई रासो का मूलरूप है या नहीं। अभी तक संस्करणों का जो कुछ विवरण देखने में आया है उससे तो ऐसा लगता है कि ये सब संस्करण रसो के संक्षेप रूप ही हैं।

करनारी प्रसंग, कनवज्ज समय, बड़ी लड़ाई समय, बानबोध समय परिशिष्ट (क) पृथ्वीराज रासो का परिचय, परिशिष्ट (ख) शब्दार्थ ।

पृथ्वीराजरासो हिन्दी साहित्य का अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक मत प्रकट किए है। रासो की प्रामाणिकता का विवाद प्रधान रूप से इस प्रश्न पर केंद्रित है कि सचमुच ही पृथ्वीराज का समकालीन और सखा कोई चन्द नामक कवि था या नहीं द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' के व्याख्यान में रासो के मूल प्रामाणिक अंग माने जाने योग्य अंशों की ओर संकेत किया है। प्रस्तुत संक्षिप्त रासो भी उन्हीं विचारों पर आधारित है। उन्हीं अंशों को संक्षिप्त किया गया है। जिनकी प्राचीनता उन व्याख्यानों में प्रामाणित की गई है। इन अंशों से रासो की पूरी साहित्यिक महिमा का परिचय मिल जाता है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रकाशित पृथ्वीराज रासो में ढाई हजार पृष्ठ हैं। जो ६६ सर्गों में विभाजित हैं। सबसे बड़ा कनवज्ज युद्ध है जो संभवत: रासो का मूल कथानक है। इसके अनुसार चंद पृथ्वीराज का मित्र कवि और सलाहकार था। रासो में वह तीनों रूपों में चित्रित है। इस ग्रन्थ के अनुसार दोनों के जन्म और मरणतिथि भी एक है। इस प्रकार अभिन्न मित्र की रचना निश्चय ही बहुत प्रामाणिक होना चाहिए यही सोचकर रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रारंभ किया था। इसी समय डा० बुलर को पृथ्वीराज विजय की एक प्रति हाथ लगी। इस ग्रन्थ की परीक्षा के बाद डा० बुलर इस परिणाम पर पहुँचे कि पृथ्वीराज विजय ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक ग्रंथ है और रासो अत्यंत अप्रामाणिक क्योंकि पृथ्वीराज कालीन अभिलेखों से पृथ्वीराजविजय में वर्णित घटनाएं मिल जाती हैं लेकिन रासों में वर्णित घटनाए नहीं मिलतीं। फलत: प्रकाश बन्द कर दिया गया। रासो में बहुत सी अनैतिहासिक बातें मिलती हैं।

रासो को ऐतिहासिक कसौटी पर कसने पर सभी बातें खरी नहीं उतरती। डा० बुलर मारिसन, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी देवीप्रसाद जी आदि प्रामाणिक इतिहास लेखकों ने इसे अविश्वसनीय सिद्ध कर दिया है। फिर भी रासो का महत्व है। बहुत दिनों हम विद्वानों में यह विश्वास था यद्यपि रासों में प्रक्षिप्त अंश बहुत है तथापि इसमें चंद के कुछ न कुछ वचन अवश्य हैं जो काफी पुराने हैं। अभी तक यह कार्य असंभव समझा जाता रहा है पर हाल में मुनिजिन विजय जी ने पुरातन प्रबंध संग्रह में जयचंद

प्रबंध नामक एक प्रबंध प्रकाशित किया जिसमें चन्द के नाम से चार छप्पय दिए हैं। संदेशरासक की तरह भाषा भी कुछ आगे बढ़ी हुई है। इन पद्यों के प्रकाशन के पश्चात् अब इस विषय में किसी को संदेह नहीं रह गया है कि चंद नामक कोई कवि पृथ्वीराज के राजदरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा है। वर्तमान रासो में भी छंद कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गए हैं। शैली रासो एवं संदेशरासो की अधिकतर एक सी है। इस दृष्टि से विचार कर द्विवेदी जी ने निम्नलिखित प्रसंग को प्रामाणिक बताया है। आरंभिक अंश, इंछिनी विवाह, शशिव्रता का गंधर्व विवाह, तोमरपहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इंछिनी और संयोगिता की प्रतिन्द्विता और समझौता।

इन अंशों की भाषा में इस प्रकार की बेडौल और बेमेल ठूंसठास नहीं है और कवित्त का सहजप्रवाह है। इसमें चंद प्रफुल्ल कवि के रूप में दृष्टिगत होते हैं। कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से तो चंद का काव्य बहुत महत्वपूर्ण है और परवर्ती काव्य में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया है वे चंद की प्रकृति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे। इसी लिए प्रक्षेप करनेवालों ने चुन चुन करके कथानक रूढ़ियों और काव्य रूढ़ियों का सन्निवेश किया है। साधारणत: भारतीय कथाओं में कथानक को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिये २० कथानक रूढ़ियों का व्यवहार होता है। इन सभी का प्रयोग रासो में किया गया है।

छंदों का परिवर्त्तन बहुत अधिक हुआ है पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। १२ वीं १३ वीं शती में अपभ्रंश साहित्य में छंदों का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था। जो छंद परिवर्तन के लिये केशव की रामचंद्रिका तक आते आते यह छंद बहुला प्रथा निर्जीव और विकृत हो गई थी। अत्यधिक प्रक्षेप रहने के बाद भी रासो में यह प्रथा सजीव रूप में वर्तमान है।

द्विवेदी जी का कहना है वर्तमान रासो में युद्धों का प्रसंग बहुत अधिक है। ऐसा कहने में कुछ भी संकोच मालूम नहीं पड़ता कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कमधुज्ज के सरदारों के नामों की सूची आदि बातें परवर्ती ठूसठांस है। मूल रसो शुक और शुकी के संवाद रूप में ही लिखा गया था। और संभवत: कीर्तिलता के समान प्रत्येक समग के आरंभ में शुक और शुकी प्रसंग उसमें भी था। इधर रासो के अनेक सक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है और पंडितों में जब जल्पना कल्पना आरंभ हुई है कि इन्हीं छोटे संस्करणों में से कोई रासो का मूलरूप है या नहीं। अभी तक संस्करणों का जो कुछ विवरण देखने में आया है उससे तो ऐसा लगता है कि ये सब संस्करण रसो के संक्षेप रूप ही हैं।

पंथों में विभक्त हो जाने के कारण पर प्रकाश डाला है। वर्तमान नाथपंथ में जितने संप्रदाय हैं वे मुख्य रूप से उन बारह पंथों से सम्बद्ध है जिनमें आधे शिव के द्वारा प्रवर्तित कहे जाते हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा इनके अतिरिक्त और भी बारह संप्रदाय थे जिन्हें—गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। मुख्य पंथों का सबन्ध शिव और गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित पुराने संप्रदायों के साथ साथ किस प्रकार स्थापित किया गया हैं। इसे ब्यौरा देकर समझाया गया है। इसे तैयार करने में मुख्य रूप से ब्रिग्स की पुस्तक गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज' का सहारा लिया गया है। इस प्रकार शिव के द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होने चाहिए पर फिर भी गोरक्षनाथ ने अपने नाम से इन्हें नहीं चलाया तो कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। उस पर लेखक अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि शिव द्वारा प्रवर्तित कहे जाने वाले संप्रदायों का प्रसार अधिकतर काश्मीर, पश्चिमी पंजाब पेशावर और अफगानिस्तान में जहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से शैवमत प्रबल था। आज भी वर्तमान अवस्था में इससे कुछ अधिक कहना संभव नहीं है।

तत्पश्चात् नाथसिद्धों के नाम एवं उनके बारे में गहरे रूप से विचार किया गया है तथा उनकी बानियां क्रम से दी गई हैं। परिशिष्ट एक में 'श्रीपर्वत सिद्ध का कह्या भूगोल पुराण' नामक शीर्षक में पुरानी भाषा में एक गद्य खण्ड को उद्धृत किया गया है तथा 'परिशिष्ट' दो में कठिन शब्दों के अर्थ दिये गये हैं।

कथा साहित्य

१. बाणभट्ट की आत्मकथा

स्वलिलित जीवन चरित्र के रूप में बाणभट्ट की आत्म कथा एक उपन्यास है। इसका रचनाकाल सं० २००३ है। पृष्ठ संख्या ३६० है। और २० उच्छ्वास हैं। उपन्यास की वस्तु संक्षेप में यों है।

बाणभट्ट मगध के रहने वाले थे। बचपन में ही माता पिता का देहान्त हो गया था। अत: देखभाल करने वाला कोई न था। जवानी आवाँरेपन में बीतने लगी। इसी बीच कुछ दिन उज्जयिनी में बिताया। जहाँ वे नाटक मण्ड़ली के सूत्रधार थे। इसी नाटक मण्ड़ली में निपुणिका नाम की नर्तकी थी जो बाणभट्ट को चाहती थी। बाणभट्ट का भी उसके ऊपर प्रेम था अवश्य पर वह संयत था। एक दिन अभिनय के बाद निपुणिका गायब हो गई। शायद

अपने को बाणभट्ट के योग्य न समझ कर। बाणभट्ट ने प्रेम पाने की निराशा में स्थान छोड़ा। बाणभट्ट ने उसे ढूँढ़ा पर वह न मिली। अतः निराश एवं दुखित होकर नाटक मण्डली तोड़ दी और निपुणिका के न मिलने तक नाटक सम्बन्धी कार्य करने का विचार छोड़ दिया। यहीं से बाणभट्ट के जीवन में दूसरा अध्याय शुरू होता है।

इधर बाणभट्ट घूमते घामते छः बरस बाद थानेसर पहुंच गए। वहाँ निपुणिका से पान की दूकान पर उसकी भेंट होती है। वहीं पर यह भी निपुणिका के द्वारा अवगत होता है कि हर्षवर्धन के बहनोई के वंश के उत्तराधिकारी के राजकुल में तुव मिलिंद नाम के यवन राजा की कन्या बन्दी है, जो रानी बनना नहीं चाहती और वहां से निकल भागना चाहती है। निपुणिका की प्रेरणा से बाणभट्ट ने उसके उद्धार करने का संकल्प किया और उस राजपुत्री चन्द्रदीधीति को भगा कर एक जीर्ण चंडी मन्दिर में रखा फिर थानेसर के प्रधान बिहार के नायक सुगतभद्र की प्रेरणा से कृष्णवर्धन ने अपने कुछ सैनिकों के साथ बाणभट्ट, निपुणिका और राजकन्या को राजदण्ड से बचाने के निमित्त वहां से नौका द्वारा मगध भेजने की व्यवस्था कर दी। बीच में ही एक और घटना घटती है। बाणभट्ट चंडी मन्दिर में ही थे कि एक भैरवी से भेंट हो गई। यहाँ भैरवी अघोर भैरवी तथा विरतिवज्र से बाणभट्ट का परिचय हुआ। विरतिवज्र पत्नी को छोड़कर भिक्षु हुए थे पर मानसिक शांति न थी। अतः तांत्रिक साधना की ओर झुके थे। भैरव महामाया भी राजकुल से निकल भागी थी और तांत्रिक साधना में जीवन बिताने लगी। इस घटना के बाद बाण चल पड़े। चंद्रदीधीति अब भट्टनी बन गई और प्रयाग तक की नाव यात्रा निर्विघ्न कट गई। बाद में गंगा और सरयू के संग से पूर्व ही आभीर सैनिकों ने कान्यकुब्ज के राजा की नौकायें समझ आक्रमण कर दिया। भट्टनी और निपुणिका गंगा में कूद पड़ी। बाण, भट्टिनी को पानी में बचाते बचाते किनारे पर लगे। दैवाधीन भैरवी महामाया का फिर यहां साक्षात्कार हुआ। बाण भट्टिनी को महामाया के संरक्षण में छोड़ निपुणिका को ढूंढ़ने निकले। पर वे दूसरी विपत्ति के शिकार हो गये। चण्डमण्डला नाम की तांत्रिक साधिका ने इन पर सम्मोहन मन्त्र फेंका और बाण उसके साथ बज्रतीर्थ नामक स्थान पर पहुँचे जो एक श्मशान एवं तांत्रिक साधुओं का अड्डा था। उन लोगों ने बाण का बलिदान करना चाहा पर अचानक भैरवी महामाया, भट्टिनी, निपुणिका आदि वहां पहुंच गये। महामाया के सम्मोहन बल से निगुणिका ने चण्डमण्डना को ढकेल दिया और बाण ने अघोरघंट को गंगा में फेंक दिया। इसी बीच कृष्णवर्धन ने बाण के पास एक दूत भेज कर कहलाया कि महाराज हर्षवर्धन से शत्रुता कर भागने की अपेक्षा

उनसे मिल लेना ज्यादा श्रेष्ठ होगा। अत: बाण हर्षवर्धन के दरबार में गए और दरबारी कवि के रूप में नियुक्त हुए दो महीने के भीतर अनेक नई बातें देखने को मिलीं। सुचरिता जी निपुणिका की सखी थी वैष्णव तांत्रिक वैंक्टेश भट्ट की वैष्णव साधना मार्ग में दीक्षित हो चुकी थी। कुमार कृष्णवर्धन के भट्टिनी को यहीं लाकर रखना ठीक समझा, कारण दस्यु पुन: आक्रमण करने वाले हैं। उनको रोकना तुवरमिलिंद के ही हाथ की बात है। अत: उनको संवाद भेजने के हेतु बाण ने पुन: पूरब की ओर यात्रा की और भट्टिनी तथा निपुणिका के साथ वर्षा से पहले ही थानेसर पहुँचे। इस बीच अनेक घटनायें घटीं। मौखरियों के राजगुरु भर्वु शर्मा थानेसर आए तथा बाण के चचेरे भाई उडुपति का बौद्ध तार्किक वसुभूति से शास्त्रार्थ हुआ। वसुभूति की हार हुई। इसी बीच बाण की गाढ़ी मित्रता धावक से हो गई और हर्ष ने भर्वु शर्मा के स्वागत के उपलक्ष्य में अपनी नाटिका रत्नावली के अभिनय का काम बाण को दिया जिसमें भट्टिनी ने खूब योग दिया। बाण ने उदयन का और निपुणिका ने वासवदत्ता का अभिनय किया। अभिनय में ही बाण के हाथ में रत्नावली सौंपते हुए अपने को उत्सर्ग कर दिया मूर्च्छित होकर सदा के लिए सो गई। अब भट्टिनी और बाण ने उत्तर पश्चिम की सीमा की ओर प्रस्थान भी कर पाये थे कि भर्वु शर्मा ने किसी काम से बाण को पुरुषपुर भेज दिया। चलते समय भट्टिनी ने बाण से कहा——जल्दी ही लौटना, बस उसी जगह पुस्तक समाप्त होती है बाण जाते है पर उनका मन उनसे बार-बार पूछता है कि फिर क्या मिलन होगा ?

२. मेघदूत (एक पुरानी कहानी)

यद्यपि यह कहानी बहुत पुरानी है। पर द्विवेदीजी ने नये सिरे से लिखा है इसीलिए यह अपनी नवीनता के लिये प्रसिद्ध है। कहानी का सारांश यों हैं।

अलकापुरी में एक यक्ष रहता था। उसने मकान के सीमा में ही एक वापी बनवाई थी। इस पर्वत के निकट ही इन्द्रनील मणियों से बना हुआ क्रीड़ा पर्वत था। मकान की शान देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह गरीब था। कुछ लोग बताते हैं कि यक्ष कुबेर का माली था। जो भी हो यक्ष अपनी प्रिया के प्रेम में निरन्तर ऐसा पगा रहता था कि काम काज पर बिल्कुल ध्यान ही नही देता था। एक दिन इन्द्र का मतवाला हाथी ऐरावत आकर बगीचा उजाड़ गया और यक्ष को पता भी न चला। कुबेर फूलों के शौकीन थे उनको यक्ष की इस लापरवाही पर बहुत क्रोध आया और उसे साल भर के लिये देश निकालने की सजा दे दी।

उसे जीवन में पहली बार अपनी प्रिया का दु:सह वियोग सहना पड़ा। उसने रामगिरि के पवित्र आश्रम में अपनी बस्ती बनाई। बेचारे यक्ष ने जिस किसी प्रकार आठ महीने व्यतीत किये पर अचानक आषाढ़ मास की पहली तिथि को रामगिरि के सानुदेश में लगे हुए एक काले मेघ को देखकर व्याकुल हो उठा। चंचल मन पुरानी बातों को याद करने लगा। उसे अपनी प्रिया का ध्यान आने लगा। वह अपने मन में ही विचार करने लगा। जब उसे मेघ एक मतवाले हाथी के समान दिखाई देने लगा। लेकिन यक्ष ने ध्यान से देखा, यह हाथी के समान दिखाई देने वाला जीव हाथी नहीं है, पहाड़ पर अटका हुआ मेघ है। अब तक उसका शरीर विरह से बहुत जर्जर हो गया था। आठ महीने बीत गये पर अब नहीं रहा जाता। विरह का मारा यक्ष मेघ के सामने आकर खड़ा हो गया। मेघ ही तो है। यक्ष जब तक अपनी ही बातों से चिंतित एवं व्याकुल था अब उसे इस मधुरबेला में अपनी प्रिया की व्याकुलता का भी ख्याल आया, सोचने लगा मेरी यह अवस्था है तो बेचारी उस कोमल बालिका की क्या दशा होगी? वह अपने मन में सोचता है, हा विधाता! सावन में यक्ष प्रिया कैसे बचेगी?

उन बादलों को देखकर उसको एक उपाय सूझता है, वह अपनी प्रिया के पास इन्हीं मेघों के द्वारा अपना कुशल संवाद भेजना चाहता है और अन्त में जड़ मेघ को प्रेम का संदेश-वाहक बनाया चाहता है पर उसने मेघ को परम सहानुभूति संपन्न मित्र के रूप में ही देखा और उसने हृदय को गला देने वाला संदेश भेजा। यहीं कहानी समाप्त हो जाती है।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त स्वतन्त्र ग्रंथों में 'लालित्यमीमांसा' और 'चारु चन्द्रलेख' दो ग्रन्थ और हैं जो अभी पुस्तक रूप में अप्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र ग्रन्थों में भी सन्तों का सूक्ष्म भेद, 'अपभ्रंश का रक्षात्मक साहित्य', 'कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्रसाधन' आदि छोटी छोटी पुस्तिकायें भी अनुपलब्ध हैं। यहाँ उनका जिक्र नहीं दिया गया है। मृत्युंजयी रवीन्द्रनाथ, प्रबन्ध चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रबन्ध कोश विश्व परिचय, मेरा बचपन, रवीन्द्रनाथ की कवितायें आदि छायानुवाद ग्रन्थ हैं जिनका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। इन पुस्तकों का विवरण न देने का कारण अनेक प्रयास के पश्चात् भी उनकी अनुपलब्धि है। कुछ पुस्तकें प्रेस में एवं और कुछ अप्रकाशित हैं। अतः इन पुस्तकों के सम्बन्ध में कुछ भी कहना समीचीन न होगा।

३

समीक्षक द्विवेदी

साहित्य सम्बन्धी आदर्श और सिद्धांत

मानव व्यापारों और मानवीय कृतियों में सर्वाधिक महत्व साहित्य को मिला है। साहित्य का सम्बन्ध शास्त्रीय नियमों से न होकर मनुष्यता के उत्थान से है। मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं। साहित्य से द्विवेदी जी का मतलब उसकी सात्त्विक चिन्तनधारा से है।[१] उनकी दृष्टि में मनुष्य की सर्वोत्तमकृति साहित्य है।[२] वह मनुष्य की सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना का प्रकाश है।[३] सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने के साधन का ही नाम साहित्य है।[४] साहित्य एवं काव्य के स्वरूप के विषय में उनके सिद्धांत घूम फिरकर इस रूप में प्रकट हुए हैं। एकत्व की अनुभूति मनुष्य की चरम मनुष्यता है।[५] यही मनुष्यता जब उच्छलित हो उठती है उसका आनन्द जब अन्तर को पूर्णरूप से भर कर बाहर प्रकाशित हो उठता है तभी काव्य बनता है और काव्य ही जब तथाजगत् के विभिन्न उपादानों का आश्रय लेता है तो अन्यान्य साहित्यांगों के रूप में प्रकट होता है। साहित्य वस्तुत: मनुष्य का वह उच्छलित आनन्द है जो उसके अन्तर में अँटाये अँट नहीं सकता था।[६] वे साहित्य को स्वयं साध्य नहीं मानते हैं। उसे साधन रूप में ही ग्रहण करना उचित है। हमारी आधुनिक समस्याओं के अध्ययन के उपयुक्त यदि साहित्य में सामग्री नहीं है तो वह बेकार है।[७] पशु

१– कल्पलता: पृ० १३६।
२–वही पृ० १३६
३– साहित्य का मर्म: पृ० ५२।
४– कल्पलता: पृ० १३५।
५– विचार प्रवाह: पृ० २११।
६– साहित्य का मर्म: पृ० ७०।
७– अशोक के फूल: पृ० १७०।

सुलभ आहार निद्रा से ऊपर प्रतिष्ठित मनुष्यता की प्राप्ति कराने का साहित्य एक साधन है।[१] वे साहित्य को सोद्देश्य मानते हैं। परन्तु उनका उद्देश्य किसी छुद्र रागद्वेष से प्रेरित और प्रभावित न होकर उदात्त और गम्भीर है। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति और हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।[२]

साहित्य की सृष्टि क्यों की जाती है उसका उद्देश्य एवं लक्ष्य क्या होना चाहिए। इस पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट किया है। उनकी दृष्टि में मनुष्य ही सब कुछ है। भाषा उसकी सेवा के लिए है। साहित्य सृष्टि का यही अर्थ है। उसकी कल्पना का मनुष्य जाति, धर्म निर्विशेष मनुष्य है जो केवल मनुष्य होने के नाते ही महान् है। जो साहित्य मनुष्य समाज को रोग शोक दारिद्रय अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है वह निश्चय ही अक्षय निधि है।[३] द्विवेदी जी मनुष्य की अतुलनीय शक्ति पर विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य का महत्व भी इसीलिए है कि वह मनुष्य की सर्वोत्तम कृति है, मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य साधना का चरमलक्ष्य है।[४] यह उदार प्रेम या मानव प्रेम डा० द्विवेदी जी के चिन्तनचक्र की धुरी है और जब वे मानव की सर्वोत्तम कृति के रूप में साहित्य का आलोचन विवेचन करते है तो एक प्रकार से सामाजिक आवेश से अभिभूत हो उठते हैं। वे साहित्य को सामान्य जनता के जीवन से विछिन्न कोई अलग वस्तु नहीं मानते। मनुष्य को जीवनकेन्द्र में प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने समूचे साहित्य को देखने का प्रयत्न किया है। यह मनुष्य समग्र और मुक्त इकाई के रूप में है। विभिन्न वर्णों, वर्गों, धर्मो, सम्प्रदायों, जातियों, राष्ट्रों, आदि की सीमाओं में बटा और बँधा मनुष्य नहीं।

साहित्य कैसा हो इस पर द्विवेदी जी ने अनेक स्थानों पर बतलाया है – उनका अभिप्राय यह है कि दीर्घसाधना के बाद मनुष्य पशु से विकशित होकर मनुष्य बना है। उन आहार निद्रा पशु सामान्य मनोरोगों को बार बार उत्तेजित करना किसी बड़े कृतित्व का काम नहीं हैं। कृतित्व का काम है उसके संयम, त्याग और प्रेम की भावना को जगाकर ही धन्य होना।[५] साहित्य सेवा

१– साहित्य का मर्म: पृ०
२– अशोक के फूल: पृ० १६६।
३– अशोक के फूल: पृ० १५७।
४– कल्पलता: पृ० १३७।
५– विचार और वितर्क: पृ० २०३।

का अवसर पाकर उसी लड़ने वाली प्रवृत्ति को उत्तेजित किया गया और इंद्रिय परायणता को प्रश्रय दिया तो ऐसे साहित्य भी मेघ ही है पर पानी बरसाने वाला नहीं, बज्र बरसाने वाला ।[1] साहित्य और भाषा के सहज होने के पूर्व साहित्य के साधक को सहज होना चाहिए ।[2] सभी मनुष्य स्वभाव से ही साहित्यसृष्टा नहीं होते पर साहित्य प्रेमी होते है । मनुष्य का स्वभाव ही सुन्दर देखने का । वे साहित्य को समाज से अलग मानकर नहीं चलते । उन्होने लोक जीवन और उसके जीवन के अभिव्यक्त साहित्य को सतत परिवर्तनशील माना है ।

साहित्य का आधार घृणा और द्वेष नही हो सकता । प्रेम, त्याग, ज्ञान जैसी बड़ी-बड़ी वस्तुयें साहित्य का आधार हो सकती है और तभी साहित्य संसार को नया प्रकाश दे सकता है ।[3] साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है अर्थात् मनुष्य के लिए साहित्य है, मानव के उत्थान के लिये साहित्य का मूल्यांकन होना चाहिए यहीं से मानवतावादी आदर्श की नीव पड़ जाती है । एक प्रकार से यह आदर्श और भक्त कवियों की मुक्ति के लाभ का जो प्रयत्न है अर्थात् विशुद्ध अध्यात्मवाद से भी द्विवेदी जी का लक्ष्य भिन्न पड़ जाता है । वे शास्त्रीय आदर्श से भिन्नता रखते है दूसरी ओर साहित्य की किसी एक दिशा चाहे भक्ति की हो या ज्ञान की सबको साधन मानते हैं, साध्य नहीं ।

हमारा परमलक्ष्य मनुष्यत्व है । मध्ययुग में जिस वस्तु को अध्यात्म कहा करते थे वही वस्तुत: इस युग का मनुष्यत्व हैं । मनुष्य ही भगवान का प्रत्यक्ष विग्रह है । मनुष्य बनाना ही समस्त ज्ञान विज्ञान का लक्ष्य है ।[4]

'दीर्घकाल से ज्ञान के आलोक से वंचित मनुष्यों को हमें ज्ञान देना है । शताब्दियों तक गौरव से इन मनुष्यों में हमें आत्मगरिमा का संचार करना है । अकारण अपमानित इन मूक नरकंकालों को हमें वाणी देनी है । रोग, शोक, अज्ञान, भूख, प्यास परमुखापेक्षिता से मनुष्य का उद्धार करना ही साहित्य का काम है । स्वयं मनुष्य बने बिना छोटे-छोटे तुच्छ विवादों से ऊपर उठे बिना, कोई भी व्यक्ति दूसरे को नहीं उठा सकता । मनुष्य की सेवा करने के लिए साहित्यकार को देवता बनना होगा ।[5]

१—विचार और वितर्क : पृ० २०४ ।
२—वही पृ० २०४ ।
३—अशोक के फूल : पृ० १७१ ।
४—विचार और वितर्क : पृ० १९८ ।
५—अशोक के फूल : पृ० १७१-१७२ ।

साहित्य का परमलक्ष्य सर्वभूत का आत्यंतिक कल्याण है। जो साहित्य केवल कल्पना विलास है जो केवल समय काटने के लिए लिखा जाता है वह बड़ी चीज नहीं है बड़ी चीज वह है जो मनुष्य के आहार, निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से ऊपर उठाता है। मनुष्य का शरीर दुर्लभ वस्तु है इसे पाना ही कम तप का फल नहीं है पर इसे महान् लक्ष्य की ओर उन्मुख करना और भी श्रेष्ठ कार्य है।[१] साहित्य सुन्दर का उपासक है, इसीलिए साहित्य को असामंजस्य के दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिक्षा सुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा।[२] साहित्य की साधना तब तक वंध्या रहेगी जब तक हम पाठकों में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जागृत न कर दें जो सारे मानव समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रहे।[३] मनुष्य अत्यन्त मोटे प्रयोजनों की पूर्ति पहले चाहता है तो उसकी आहार, निद्रा पशुसामान्य क्षुधाओं के निवर्त्तक है इसके बाद भी उसका मनुष्य बनना बाकी रह जाता है। साहित्य यही काम करता है, जो साहित्य मनुष्य को उसके पशुसुलभ सतह से ऊपर नहीं उठाता, वह साहित्य की संज्ञा ही खो देता है।[४] मनुष्य को तरह-तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के दलदल से निकलना और पशुसामान्य धरातल से ऊपर उठाकर उसे प्राणिमात्र के दुख सुख के प्रति संवेदनशील बनाना ही साहित्य के रचना का लक्ष्य हो सकता है। मनुष्य ही वह बड़ी चीज है जिसके लिए हम यह सब किया करते हैं। हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है—मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार पावे और भविष्य में सुख और शान्ति से रह सके।[५] साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन है।[६] साहित्य मनुष्य को सौन्दर्य साधना है। वह मनुष्य को सुन्दर बनाता है। वस्तु को इस ढंग से सजाना कि उसकी कुरूपता और भद्दापन मिट जाय, प्रत्येक उपादान उचित मात्रा में उचित स्थान पर बैठा दिए जाय, यही सबसे बड़ी कला है और यह सामंजस्य विधान के बिना संभव नहीं है।[७] सामंजस्य का अर्थ है किसी चीज का बहुत या बहुत कम न होना। इसमें संयम की आवश्यकता है। सुन्दरता इसी सामंजस्य में होती है। अतएव सौन्दर्य प्रेम में संयम होता है उच्छृङ्खलता

१—अशोक के फूल : पृ० १७६। २—वही : पृ० १८४।
३—वही : पृ० १८४। ४—विचार और वितर्क : पृ० ९६।
५—वही : पृ० ९६। ६—वही : पृ० ९६।
७—कल्पलता : पृ० १४२

नहीं ।[1] जो जाति जितनी अधिक सौन्दर्य प्रेमी होगी, उसमें उतनी ही अधिक मनुष्यता भी होगी । मनुष्य का सौन्दर्य प्रेम उसके साहित्य कला और दान-पुष्प और परोपकारादि होते हैं ।[2] साहित्य शब्द का व्यापक अर्थ भी बतलाया है । उनका मत है 'साहित्य में नीतिपरक' रचनायें भी सम्मिलित की जा सकती हैं । केवल रसपरक साहित्य ही साहित्य नहीं है । यदि हम साहित्य के उस युग के मनुष्य को उसकी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ पहचान लें तो वह भी महान साहित्य है[3]। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता को महसूस करते हुए कहते हैं कि हमारे साहित्य में अभी तक रसात्मक साहित्य की ही धूम है परन्तु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिए जिस शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है, वह हमारे पास नहीं है ।[4]

साहित्य का प्रयोजन : उसके हेतु

मनुष्य अपने प्रयोजनों से बंधा हुआ है । उसकी दुनियाँ प्रयोजनों की दुनियाँ है ।[5] वह केवल जीवन धारण करने को एवं किसी प्रकार बचे रहने को ही पर्याप्त नहीं समझता ।[6] वह अनेक प्रकार से प्रयत्न करता है, अपने प्रयोजनों की दुनियाँ से बाहर जाने के लिए वहीं उसका ऐश्वर्य है । पशु का जीवन केवल जीने के लिए है, उसमें प्रेम नहीं है, सौंदर्य प्रीति नहीं है, कुछ नई बात गढ़ने की इच्छा नहीं है । ये बातें मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य हैं । उसका प्रकाश है ।[7] जिसके जीवन में प्रेम नहीं, भक्ति नहीं, सौन्दर्य नहीं वह जीवन पशु का जीवन है ।[8]

गद्य हमारे प्रयोजनों की भाषा है । काव्य हमारे प्रयोजनातीत आनंद का प्रेरक है ।[9] यह प्रयोजनातीत सत्य जीव-शास्त्रीय लालसा से परे प्रेम, संयम और तप से उत्पन्न होता है ।[10] साहित्य, संगीत, कला और सौन्दर्य मनुष्य को छोटे प्रयोजनों से बांधने के बदले उसे प्रयोजनातीत सौन्दर्य की ओर उन्मुख करते हैं और इसी से मनुष्य देवत्व प्राप्त करता है ।[11] आज साहित्यकार के सामने

१—वही : पृ० १४४ ।
२—वही : पृ० १४० ।
३—वही : पृ० १६४ ।
४—अशोक के फूल : पृ० १७१
५—साहित्य का मर्म : पृ० ३८ ।
६—वही : पृ० ३८ ।
७—वही : पृ० ३८ ।
८—वही : पृ० ३८
९—वही : पृ० ३८ ।
१०—वही : पृ० ३९ ।
११—वही : पृ० ४० ।

अनेक जटिल समस्यायें हैं। इन समस्याओं का समाधान भी करना है।[1] कवि की सार्थकता इन प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर उठने में ही है।[2] प्रयोजनों के जगत से बाहर ही मनुष्य का ऐश्वर्य है उसका प्रकाश ।[3] इसे समझाने एवं पुष्ट करने के लिए द्विवेदी जी ने अनेक उदाहरण दिये हैं। वे लिखते हैं कि 'घी का लड्डू टेढ़ा भी होता है उससे प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जाता है पर मनुष्य उतने से ही संतुष्ट नहीं होता। उसे उस लड्डू को सुन्दर बनाने में रस मिलता है।[4] प्रयोजन के अतीत पदार्थ का नाम सौन्दर्य है, प्रेम है, भक्ति है, मनुष्यता है।[5] एक और उदाहरण इसी संदर्भ में द्विवेदी जी ने दिया है जब मनुष्य प्रयोजनों की दुनियाँ से ऊपर उठता है तब उसे दीपक का प्रकाश मिलता है तब उसे उस वस्तु का अनुभव होता है जो मनुष्यता है जो उसके हृदय को संवेदनशील और उदार बनाती है। यही मनुष्य जीवन का ऐश्वर्य है।[6] प्रयोजनातीत भूमिका रस ही काव्य, शिल्प, नृत्य, गीत, भक्ति आदि में मिलता है।[7] प्राचीन काव्य का उद्देश्य था भावोद्रेक परन्तु आज यह बात नहीं रही। आज का साहित्यकार वर्तमान समस्याओं को उपेक्षा नहीं कर सकता। प्राचीन काल में समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काव्य रचना होती थी परन्तु अधिक जोर कीर्ति पाने पर दिया गया है। राजा और राजसभा कीर्ति प्राप्ति के प्रमुख साधन थे। काव्य का यह प्रयोजन सामंत युगीन था। आजका कवि धन, यश या व्यवहार ज्ञान सिखाने के लिए काव्य रचना नहीं करता।[8] आज पाठक उससे जीवन की व्याख्या चाहता है, शायद वह आत्माभि-व्यक्ति चाहता है, शायद वह स्पांटेनियस आउटबर्स्ट आफ पर्सनल फीलिंग्स' चाहता है या शायद वह मानवता के अन्तस्तल में निहित एकता की उपलब्धि।[9] पुराना कवि इतनी मांगों का शिकार नहीं बना था।[10] जब जब और जहाँ जहाँ वह मनुष्यत्व का ऐश्वर्य काव्य में नाटक में शिल्प में चित्र में, मूर्ति में,अपनी प्रयोजन की सीमा को छोड़ कर प्रकाश रूप में प्रकट हुआ है वहीं वहीं वह पूजनीय हुआ है। उसी महिमा के बल पर महाकवियों की रचनाओं ने देवता को मनुष्य बनाया है।[11]

१—सूर साहित्य : पृ० १४९। २—वही : पृ० १६२।
३—साहित्य का मर्म : पृ० ३८। ४—वही : पृ० ३८।
५—वही : पृ० ३८। ६—वही : पृ० ३९।
७—सूर साहित्य : पृ० १४७-१४८। ८—साहित्य का मर्म : पृ० ९—१०।
९—वही : पृ० ११। १०—वही पृ० ११।
११—वही : पृ० ३९।

मनुष्य के सभी विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं परन्तु जब वे प्रयोजन की सीमा का अतिक्रमकर जाते हैं तो उनके मनुष्य की विराट एकता और आधार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। ताजमहल और कोणार्क का मन्दिर ऐसे ही प्रयत्न है।[1] दीपक में जितना हिस्सा जलता है, वह प्रकाश नहीं कहलाता है। प्रकाश उससे अतिरिक्त वस्तु है। ताप केवल प्रयोजन है। प्रकाश उसका ऐश्वर्य है, उसका अतिरिक्त दान है।[2]

काव्यरूप संबन्धी द्विवेदी जी के विचार

द्विवेदी जी ने समीक्षा एवं शोधक्षेत्र में तो काम किया ही है, काव्यरूपों पर भी समय समय पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। इन स्फुट विचारों में भी मानवतावादी सिद्धाँत स्पष्ट झलकता हुआ दिखाई देता है।

कहानी

उनका मत है कोई भी कहानी तभी महत्वपूर्ण कही जा सकती है जबकि उसकी नींव मजबूती के साथ उन वस्तुओं पर रखी गयी हो जो निरन्तर गभीर भाव से और निर्विवाद भाव से हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्दों को प्रभावित कर रही हो। महत्वपूर्ण कहानी केवल अवसर विनोद का साधन नहीं होती।[3] प्रेमचन्द जी की कहानियों की उन्होंने इसलिए प्रशंसा की कि उनमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और यथार्थता के भीतर से मनुष्य हृदय की विशालता उद्घाटित हुई।[4] इस प्रकार द्विवेदी जी ने कहानियों में भी सार्वदेशिक और सार्वकालिक मनुष्यत्व का अनुसंधान किया है।

नाटक

द्विवेदी जी भारतीय नाटकीय सिद्धांत का अनुगमन करने वाले हैं। भारतीय नाटक में हमेशा नैतिक आदर्शों पर बल दिया गया है अत: भारतवर्ष में ट्रेजेडी (दुखान्त नाटक) नहीं लिखे गये।[5] इसीलिये हमारे साहित्य में रिवोल्ट नहीं है।[6] और यह समझना आसान है कि कर्म फल की अवश्य प्राप्यता में विश्वास करने वाला नाटककार जगत की संमजस व्यवस्था को चुनौती नहीं दे सकता। भारतीय नाटकों में यह प्रथा रूढ़ हो गई है कि धर्मात्मा को पापात्मा

१–साहित्य का मर्म पृ० ३९। २–वही : पृ० ३९।
३—कल्पलता : पृ० ८२। ४–हिन्दी साहित्य पृ० ४२६।
५–साहित्य का मर्म : पृ० ३१। ६–वही : पृ० ३१।

से कभी पराजित होते न दिखाया जाय और सद्विचारशील व्यक्ति कठिनाइयों से जूझता हुआ हार न जाने पावे।[१] अतः भारतवर्ष में नाट्यसाहित्य में वह वस्तु एकदम नहीं मिलेगी जिसे पश्चिम के साहित्य में समाज के प्रति विद्रोह भावना कहकर बहुत बड़ा नाम दिया गया है।[२]

उपन्यास

उपन्यास पूर्णरूपेण इस नये यंत्रयुग की उपज है। और इस युग के सम्पूर्ण दोष गुणों को लेकर ही इसका जन्म हुआ है। नये युग की यंत्रों ने उपन्यास की माँग बढ़ायी है। और उन्हीं ने इसकी पूर्ति का साधन भी जुटाया है।[३]उपन्यास आधुनिक वैयक्तिकता वादी दृष्टिकोण का परिणाम है। उपन्यास तथ्य जगत से बहुत अधिक संपृक्त है।[४] यह विशुद्ध गद्य की उपज है।[५] उपन्यासकार वाह्य जगत के तथ्यान्वेषण के कारण उत्पन्न समस्याओं के बारे में अपना निश्चित मत व्यक्त करता है।[६] उत्तम उपन्यासों के सहारे ही वैयक्तिक स्वाधीनता के नाम से परिचित आधुनिक डेमोक्रेटिक भावना का सर्वोत्तम रूप प्रकट हुआ है। इसकी नीव उन वस्तुओं पर रक्खी हुई है जो गम्भीर से निरन्तर ही हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वंदों को प्रभावित करती रहती है।[७] उपन्यासकार के रचना-कौशल, घटनाविन्यास का चातुर्य और तथ्यात्मक जगत की समस्याओं में सीधे घुसने वाली भेदक निजी दृष्टि उन तीनों गुणों के कारण उपन्यास आज इतना लोकप्रिय साहित्यांग बन गया है।[८] इस प्रकार उपन्यास को भी साधन के रूप में ही स्वीकार किया गया है।

वाद पर द्विवेदीजी के विचार

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि द्विवेदी जी का दृष्टिकोण मानवता-वादी है। और उन्होंने इस दृष्टि को केन्द्र में रखकर ही काव्यरूपों, वादों पर विचार और समीक्षायें की हैं। जब हम इनके द्वारा विवेचित अनेक वादों पर दृष्टिपात करते हैं तो इस मत की पुष्टि स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगी।

१—साहित्य का मर्म पृ० : ३१। २—वही : पृ० ३१।
३—वही : पृ० ६३। ४—वही : पृ० ६३।
५—वही : पृ० ६३। ६—वही : पृ० ६३।
७—वही : पृ० ६३-६४। ८—वही : पृ० ६४।

आदर्शवाद

द्विवेदी जी ने आदर्शवाद पर विचार करते हुए इस प्रकार कहा है कि स्वार्थ के लिए लड़ पड़ना मनुष्य और पशु में समान हैं पर दूसरों के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों की सुविधा का ख्याल रखना मनुष्य की अपनी विशेषता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है।[1] विवेक, कल्पना औदार्य और संयम मनुष्यता है, इसके विरुद्ध जाने वाले मनोभाव मनुष्यता नहीं है।[2] जो जैसा है उसे वैसा ही मानलेना, मनुष्य पूर्व जीवों का लक्षण था पर जो जैसा है वैसा नहीं बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है, प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है।[3] पुरानी रूढ़ियाँ वरेण्य नहीं है परन्तु संयम और निष्ठा पुरानी रूढ़ियाँ हैं। वे दीर्घ आयास-साध्य मानवीय गुण हैं। मनुष्य ने अपनी तपस्या के बल पर आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पाई है।[4] नाथों के पदों में ब्रह्मचर्य, वाक्-संयम शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञान की प्रतिष्ठा, वाह्य आचरणों के प्रति अनादर आंतरिक शुद्धि और मद्य-मांस के बहिष्कार पर पूर्ण जोर दिया गया है।[5] भक्ति साहित्य में भी चरित्रगत दृढ़ता, आचरण शुद्धि और मानसिक पवित्रता का दृढ़ स्वर सुनाई पड़ता है। जिस बात के कहने से मनुष्य पशु सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता वह त्याज्य है।[6]

छायावाद

मानवीय दृष्टि से कवि की कल्पना अनुभूति और चिंतन के भीतर से निकली हुई वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतः समुच्छ्वसित अभिव्यक्ति बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के, स्वयं निकल पड़ा हुआ भावस्रोत ही छायावादी कविता का प्राण है।[7] इस छायावाद में मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता थी। मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले व्यक्ति के चित्त में उन काव्यरूढ़ियों का प्रभाव नहीं रह जाता जो दीर्घकालीन परम्परा और रीतिबद्ध चिंतन पद्धति के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती है और कल्पना के अविरल प्रवाह और आवेगों की निर्बाध अभिव्यक्ति

१—साहित्य का मर्म : पृ० ६८।
२—वही : पृ० ६८।
३—वही : पृ० ६८।
४—अशोक के फूल : पृ० १७७।
५—हिन्दी साहित्य : पृ० २७।
६—अशोक के फूल : पृ० १७७।
७—हिन्दी साहित्य : पृ० ४६३।

में अन्तराय उपस्थित करती है।[१] इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौन्दर्य की नई दृष्टि मिलती है।[२]

यथार्थवाद

यथार्थवाद का मूल सिद्धांत है वस्तु को यथार्थ रूप में चित्रित करना। यह यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोध नहीं करता है।[३] रोमांस के पक्षपातियों ने यथार्थवादी चित्रण पर बड़ा कठोर आघात किया है, कभी-कभी इसे प्रकृतिवाद के साथ घुला मिला दिया गया है। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से क्रमशः विकसित जन्तु है, जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम क्रोध आदि मनोरागों का गट्ठर मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणों, कामासक्त चेष्टाओं, और अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है।[४] यथार्थवादी लेखक ठीक इन्हीं सिद्धान्तों को नहीं मानता परन्तु मनुष्य की ब्यौरेवार चेष्टाओं के चित्रण करते समय कभी-कभी प्रकृतिवादी लेखक के समानान्तर चलने लगता है।[५] वस्तुतः यथार्थवाद का उलटा शब्द आदर्शवाद है और प्रकृतिवाद का उलटा शब्द मानवतावाद, क्योंकि मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशुसामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है।[६] वह त्याग और तप को मनुष्य का वास्तविक धर्म मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशुसामान्य वृत्तियां रह गई हैं तथापि वह पशु नहीं है।[७] इस प्रकार मानवतावादी लेखक प्रकृतिवादी लेखक के ठीक उल्टे रास्ते पर चलता है।[८] यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नहीं, परन्तु ऐसे अवसर आते है, जब यथार्थवादी लेखक मानवतावाद के विरुद्ध चला जाता है।[९]

प्रगतिवाद

प्रगतिशील की एक निश्चित तत्ववाद पर आश्रित शाखा प्रगतिवादी साहित्य है। प्रगतिशील मापक शब्द है किन्तु प्रगतिवाद एक निश्चित तत्वदान

१– हिन्दी साहित्य: पृ० ४६२।
२– वही: पृ० ४६२।
३– वही: पृ० ४२८।
४– वही: पृ० ४२९।
५– वही: पृ० ४२९।
६– वही: पृ० ४२८।
७– वही: पृ० ४२९।
८– वही: पृ० ४२९।
९– वही: पृ० ४२९।

को सूचित करता है।[1] द्विवेदी जी का विश्वास है कि अगली मानवीय संस्कृति मनुष्यता की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। आज व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य है। परन्तु साथ ही उसके मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है तब तब साहित्य नये काव्यरूपों की उद्‌भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम प्रगतिशील साहित्य है। इसी तत्ववाद पर आश्रित शाखा प्रगतिवादी साहित्य है।[2] प्रगतिवादी साहित्य मार्क्स के प्रचारित तत्वदर्शन पर आधारित है।[3] प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नहीं समझता, तथा किसी अज्ञेय अलक्ष्य चिरन्तन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। वह समाज को बदल देने में विश्वास करता है।[4] उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमें शोषकों और शोषितों के वर्णन हों और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन बिता सके। इसीलिए उनके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है।[5]

कलापक्ष

भाषा-भाषा 'विचारों को अभिव्यक्ति करने का साधन है। द्विवेदी जी के विचारों को इस सम्बन्ध में लिखते समय यह कभी न भूलना चाहिए कि वे मानवतावादी सिद्धांत को सर्वाधिक महत्व देते हैं। कुछ वर्ष पूर्व 'विश्व-भारती पत्रिका' में 'नई समस्याओं' के सम्बन्ध में द्विवेदीजी का एक वक्तव्य छपा था उसे देखकर कुछ लोगों ने नई शंकाएँ उठाई थीं। उनमें से एक शंका थी कि क्या द्विवेदी जी सहज भाषा के पक्षपाती नहीं हैं। द्विवेदी 'ने इसका उत्तर विचार और वितर्क नामक निबन्ध संग्रह के अन्तिम लेख' सहज भाषा का प्रश्न' में दिया है। उनका कहना है "निस्संदेह में सहज भाषा का पक्षपाती हूँ। परन्तु सहज भाषा में उसे समझाता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार निद्रा आदि पशु सामान्य धरातल से उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है सहज

१– हिन्दी साहित्य: पृ० ४६५। २– वही: पृ० ४६५।
३– वही: पृ० ४६५। ४– वही: पृ० ४६५।
५– वही पृ० ४६५।

ही महान् बना देने वाली भाषा। वह भाषा जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अन्धसंस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके किसी काम की नहीं है, भले ही उसमें प्रयुक्त शब्द बाजार में विचरने वाले अत्यन्त निम्नस्तर के लोगों के मुख से संग्रह किये गये हों।[1] अनायास लब्ध भाषा को द्विवेदी जी सहज भाषा मानने के लिए तैयार नहीं हैं।[2] उनके विचार में सहज भाषा तपस्या, त्याग और आत्मबलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा है।[3] कबीर जैसे निर्गुण पंथ कवियों को महत्व देने का एक मात्र कारण यही था कि उन्होंने अपने काव्य के लिए उस भाषा को चुना जो सर्व साधारण की भाषा थी। सहज भाषा के माध्यम से बड़े से बड़े सिद्धांत को सरलता से ही व्यक्त कर गये। उन्होंने इस रहस्य को समझा था और उन्होंने यह भी समझा था कि सहज, व्यक्ति ही हुआ करता है, वस्तु नहीं।[4] जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं उनको स्वयं सहज बनना पड़ेगा। इस संदर्भ में हमें यह न भूलना होगा कि द्विवेदी जी ने 'भाषा' शब्द का प्रयोग साहित्य के अर्थ में किया है। 'अशोक के फूल' में 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' नामक निबन्ध के प्रारंभ में वे ही विचार साहित्य के प्रति व्यक्त किए हैं जो भाषा के प्रति व्यक्त किए हैं। यह भाषा रास्ते में बटोरकर संग्रह की हुई भाषा नहीं।[5] सीधी लकीर खींचना टेढ़ा काम है। सहज भाषा पाने के लिये कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं होता तब तक भाषा का सहज होना असंभव है। स्वदेश विदेश के वर्तमान और अतीत के समस्त वांगमय का रस निचोड़ने से वह सहज भाव प्राप्त होता है। हर अदना आदमी क्या बोलता है या क्या नहीं बोलता, इस बात से सहज भाषा का आदर्श नहीं स्थिर किया जा सकता।[6] ये ही भाव विचार और वितर्क के सहज भाषा का प्रश्न नामक निबन्ध में भी मिलता है। जिन लोगों ने गहन साधना करने के लिये अपने को सहज नहीं बना लिया है वे यह सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषाशास्त्र के बल पर यह भाषा नहीं बनाई जा सकती, कोषों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे नहीं पढ़ा जा सकता।[7] कबीरदास और तुलसीदास को यह भाषा मिली थी। महात्मागांधी को भी यह भाषा मिली क्योंकि वे सहज हो सके उनमें दान करने की क्षमता थी, अगर देने लायक वस्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायेगी।[8]

१—विचार और वितर्क: पृ० १६४-६५। २—वही: पृ० १६५।
३—वही: पृ० १६५। ४—वही: पृ० १६५।
५—अशोक के फूल: पृ० १७६। ६—वही: पृ० १७६।
७—वही: पृ० १७६। ८—वही: पृ० १७६।

लोकभाषा को ही द्विवेदी जी वास्तविक भाषा मानते हैं। इसकी शैली सहज और प्रसन्न होती है।[1] लोकप्रचलित काव्य रूपों से साथ जीवन के बड़े लक्ष्य और आदर्श का योग हो जाने से इस साहित्य में अपूर्व तेजस्विता आ जाती है। लोकभाषा में जो छंद हैं उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता का बोझ नहीं। इसमें शक्ति और प्रभाव होता है।[2] घुमाव फिराव और जटिलता नहीं होतीं।[3] भाषा को वे काव्यका नित्य तत्त्व नहीं मानते। बच्चन जी की वे इसलिये प्रशंसा करते हैं कि हिन्दी को वक्र-भंगिमा से बचाया और लोक-प्रिय हुए।[4] उनका मत है भाषा कविता का वाहन है।[5] हम कथा कहना चाहते हैं यही मुख्य बात है, कैसे कहना चाहते हैं यह बाद की बात है।[6] काव्य में प्रमुख भाषा नहीं है। वह भाव की अनुगामिनी है। भाषा में हृदयगत भाव को छूने की पूरी शक्ति होनी चाहिए इसी में उसकी सार्थकता है।[7] भाषा हमारे भावी महालक्ष्य की पूर्ति का साधन है। हमारी भाषा ऐसी हो जिससे अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधानिवृत्ति का संदेश मिल सके।[8] भाषा औषिधि के समान है जो मनुष्यता को दुर्गति के रोग से बचाने का साधन है जिसका प्रयोग एक खास सीमा तक ही किया जा सकता है आगे नहीं।[9] जिस भाषा की जीवनी शक्ति का अक्षय स्त्रोत जन चित्त हो जो जन साधारण की भाषा हो, वह अपराजेय होती है, हिन्दी ऐसी ही भाषा हिन्दी इसलिये बड़ी है कि वह कोटि कोटि जनता के हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने वाली भाषा है।[10] हमारी भाषा ऐसी ही होनी चाहिए कि वह ममूली से मामूली जनचित को ऊपर उठा सके। हमें तो इस भाषा को इस योग्य बना देना है कि वह साधारण से साधारण मजदूर से लेकर अत्यंत विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी में समान भाव से विहार कर सके।[11] अतिरंजित और उच्छवासपूर्ण भाषा साहित्य से क्षेत्र में अधिक उचित नहीं होती।[12] भाषा उसके साधन और साध्य दोनों अर्थों में सहज हो। रस पर विचार: रस को ब्रह्मानंदसहोदर कहा गया है इससे एक अलौकिक आनंद की

१—हिन्दी साहित्य: पृ० १११।
२—वही: पृ० १४५।
३—वही: पृ० १५१।
४—वही: पृ० ४७६।
५—सूरसाहित्य: पृ० १७६।
६—विचार और वितर्क पृ० २००।
७—सूर साहित्य: पृ० १५४।
८—विचार और वितर्क: पृ० २००।
९—वही: पृ० १६६।
१०—अशोक के फूल: पृ० १६६।
११—वही: पृ० १७८।
१२—विचार और वितर्क: पृ० ८४।

प्राप्ति होती है। वस्तुतः रसवस्तु अनुभव की चीज है, विवेचना की नहीं। 'कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा कि "वाक्य जब सीधा खड़ा रहता है तब केवल अर्थ को प्रकट करता है परन्तु जब वह तिरछी भंगिमा में खड़ा होकर गतिशील हो उठता है तो साधारण अर्थ के अतिरिक्त और भी अनेक बातें प्रकाश करता है। वह अतिरिक्त वस्तु क्या है यह कहना कठिन है क्योंकि वह वचन के अतीत है और इसीलिये अनिर्वचनीय है। हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, जानते हैं उसमें जब अनिवर्चनीय का योग होता है तो हम उसे रस कहते हैं अर्थात् वह वस्तु जिसे हम अनुभव करते हैं पर व्याख्या द्वारा समझ नहीं सकते।[1] रस अनुभवगम्य वस्तु है।[2] काव्य में रसलोक की सृष्टि होती है इसमें एक ऐसी विचित्र शक्ति होती है जो इस दुनियाँ को ग्रहण की हुई सामग्रियों के उपादान से ही पाठक के चित्त में एक मनोरम कल्पना लोक का निर्माण करती है इस दुनियाँ में अनुभूत सुखदुखों के समानधर्मा सुखदुखों से ही निर्मित होता है इसीलिये इस दुनियाँ के समानान्तर ही कहा जा सकता है, परन्तु वह इससे ऊपर होता है और स्थूल जगत के झमेलों से मुक्त होता है। काव्य के पंख पर केवल मनोभाव ही ऊपर उड़ सकते हैं। फलतः मनोभाव वहां आनंद ही उत्पन्न करते हैं इन मनोभावों के लौकिक रूप में दुनिया के स्थूल और मलिन पदार्थ मिल जाते हैं परन्तु कवि निर्मित अलौकिक रूप में यह स्थूल और मलिन पदार्थ असंपृक्त रह जाते हैं इसीलिये आनंद भी अनाविल और सूक्ष्म होता है। वह कवि का निर्मित जगत है, उसी निखरी हुई रुचि की छलनी से सब मलिनता छन जाती है और अपूर्व रसलोक की सृष्टि होती है।[3] काव्य में एक बड़ा भारी गुण साधारणीकरण का होता है।[4] काव्य के शब्दों में पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्वस्थ करने की शक्ति होती है।[5] काव्यरस का आस्वादन सभी पाठक नहीं कर सकते जो सहृदय होता है वही उसका आस्वादन कर सकता है। क्योंकि कवि का रसलोक आप में पूर्ण नहीं होता।[6] प्रत्येक व्यक्ति समान भाव से रसवस्तु को समझ नहीं पाता, उसे समझने के लिये शिक्षा चाहिए, संस्कार चाहिए, साधाना चाहिए।[7] इस प्रकार द्विवेदी जी को रसमत मान्य है। द्विवेदी जी ने काव्य की वैयक्तिक भूमि को भी मान्यता दी है। यहां काव्य की वैयक्तिकता

१--साहित्य का मर्म: पृ० १५। २--वही: पृ० ७५।
३--वही: पृ० ५५। ४--वही: पृ० ५६।
५--साहित्य का मर्म: पृ० ५६। ६--वही: पृ० ५६।
७--वही: पृ० ५६।

का तात्पर्य यह है कि कवि ने जिन भावों को सर्वसाधारण का भाव बना दिया है वे शुरू-शुरू में उसके अपने राग विरागों और मननिदिध्यासन द्वारा अनुरंजित चित्र में उपस्थित हुए थे। काव्य में प्रकट होने के बाद वे कवि के नहीं सहृदयमात्र के अपने भाव बन जाते हैं।[१] साहित्य में केवल यह देखना आवश्यक है कि वह हृदय के किसी भाव को छू पाया है या नहीं यदि साहित्यकार भाव का स्पर्श कर सका है, तो उसका काम पूरा हो गया।[२] इस प्रकार द्विवेदी जी काव्य का प्रमुख तत्व भाव या अनुभूति को ही मानते हैं।

छन्द

द्विवेदीजी छन्द को मात्राओं और यतियों का बन्धन नहीं मानते। वस्तुतः छन्द एक गति है।[३] छन्द सामाजिक बन्धनों का वाहन है।[४] छन्द ने मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध को दृढ़ और स्थायी बनाने में बड़ा काम किया है। छन्द एक समूहगत शक्ति है।[५] एक चित्र के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करने वाला महान् साधन है।[६] वह वागाश्रित मानवीय प्रतिनिधि है।[७] छंद भारसाम्य की रक्षा करता है। संतुलन नहीं बिगड़ने देता और नितांत गद्यात्मक प्रयोजनों के भारीपन से भाव को मुक्त करता है।[८] जिस समाज में छंद नहीं है उसमें संतुलन भी नहीं है और उसमें अध्यात्म भावना का अभाव हो जाता है समूची सृष्टि ही एक प्रकार छन्दोमयी गति है।[९] छन्द रसानुभव का सहायक है। छंद के प्रकट करने से साधारण बात में भी एक ऐसी गति आमी है जो मनुष्य के चित्र की अनुवर्तिनी हो उठती है।[१०] काव्य का छंद उस वृहत्तर सत्य के अनुरूप होने से ही महान् है।[११] वह कलाबाजों द्वारा आरोपित काल्पनिक मुकुट को पहन कर बड़ा नहीं हुआ है।[१२] छंद मनुष्य को देवता बनाने के संकल्प का वाहक है। काव्य साहित्य का बहुत बड़ा भाग छंद के कारण ही लोकप्रिय हुआ है।[१३] छंद सूक्तियों में गति भर देते हैं। छंद मनुष्य एवं उसके समाज के लिए बड़ा उपयोगी है। छंद कवि के भावावेग का वाहन है।[१४] इस

१—हिन्दी साहित्य: पृ० ४७६। २—सूरसाहित्य पृ० १५४।
३—साहित्य का मर्म: पृ० १६। ४—वही पृ० १७।
५—वही पृ० ४६। ६—वही पृ० ४६।
७—वही पृ० ४६। ८—वही पृ० ४६।
९—वही पृ० ४६। १०—वही पृ० १६।
११—वही पृ० ४६। १२—वही पृ० ४६।
१३—वही पृ० ४८। १४—वही पृ० ४१।

प्रकार छंद मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों को दृढ़ और स्थायी बनाने में भी बड़ा काम करता हैं।[1]

अलंकार

भारतीय अलंकारशास्त्र की व्यापक विवेचना के पश्चात् इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी के विचार इस प्रकार प्रकट होते हैं हमारे अलंकारशास्त्र रसबोध में सहायक हैं बाधक नहीं।[2] आज उन्हें प्रेरणा स्रोत के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहिए। वे काव्यार्थ में प्रवेश करने का मार्ग दिखाते हैं। परन्तु जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है, वह एक प्रकार की असान्द्र अनुभूतिजनक आवेग का कंपन उत्पन्न करता है।[3] अर्थभार हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं और न संगीत का प्रवाह ही। परन्तु जहां शब्दालंकार में अर्थभार बना रहता है वहां के काव्यगत प्रभाव को संगीत की सहजगति देकर बहुत अधिक आगे बढ़ा देते हैं ऐसे स्थलों पर शब्दालंकार काव्यप्रभाव की सहायता करते हैं।[4] अर्थालंकार यदि ठीक से प्रयुक्त हुए तो शब्द के प्राणपद और विशेषाधानहेतुक दोनों ही धर्मों में ही गाढ़ अनुभूति का रस ले आ देते हैं कि हम उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को गुणों को और क्रियाओं को गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं।[5] द्विवेदी जी शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को अधिक महत्व देते हैं। अर्थालंकारों में भी आवेग युक्त अलंकार को। अलंकार प्रयोग से कवि मनुष्य को अधिक सरलतापूर्वक गिरने से बचा सकता है ऊपर उठा सकता है। यदि अलंकारों के इन प्रयोजनों की पूर्ति न होती हो तो वे व्यर्थ हैं।

साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है अर्थात् मनुष्य के लिए साहित्य है : मानव के उत्थान के लिए साहित्य का मूल्यांकन होना चाहिए यहीं से मानवतावादी आदर्श की नींव पड़ जाती है। और एक प्रकार से यह आदर्श एक और भक्त कवियों की मुक्ति के लाभ का प्रयत्न है अर्थात् विशुद्ध अध्यात्मवाद से भी द्विवेदी जी का लक्ष्य भिन्न पड़ जाता है दूसरी ओर साहित्य का लक्ष्य आनन्द एवं रस की सृष्टि है तो वह भी एक प्रकार से इस मनुष्य के उत्थान के लक्ष्य के नीचे पड़ जाता है। द्विवेदीजी शास्त्रीय आदर्श से भिन्नता रखते हैं दूसरी ओर साहित्य की

---

१ —साहित्य का मर्म पृ० १७। २—वही पृ० २६।
३—हिन्दी साहित्य पृ० ३३१। ४—वही पृ० ३३१।
५—वही पृ० ३३१।

किसी एक दिशा चाहे भक्ति की हो, सबको साधन मानते हैं। साध्य नहीं। मनुष्य के प्रति सद्भावना और उदारता ही उसका लक्ष्य है। द्विवेदीजी का आधुनिक युग में नया प्रस्थान है। साहित्य का लक्ष्य मनुष्य भी है पर कला भी है। साहित्य के नियम अपने हैं। उनकी दृष्टि में कला या साहित्य के उत्कर्ष के जो शास्त्रीय अभिमत हैं वे अनपेक्षित रूप से उपेक्षित होते हैं। सूर कबीर के जैसे कवियों के काव्य को भी केवल मानवीय भूमि पर लेने का जो प्रयास हैं, लौकिक पक्ष शीर्ष बना रहता है। भक्त कवियों की जो साधना की भूमियाँ हैं उनके आधार पर उच्चतम दार्शनिक लक्ष्यों की पूर्ति भी द्वितीय स्थान पर आ जाते हैं। द्विवेदीजी ने मनुष्य को साहित्य का लक्ष्य बनाकर एक प्रकार मानव की इहलौकिक समष्टि को प्रमुखता दी है दूसरी है ओर शास्त्रीय सिद्धान्तों के मनुष्य के हित होने पर भी उनकी सार्थकता बताई है। काफी क्रान्तिकारी विचार हैं। टालस्टाय ने साहित्य के अलौकिक पक्ष से धार्मिक पक्ष को उसके कलापक्ष और सौन्दर्य पक्ष को गौण बनाकर मानवतावादी भूमिका पर साहित्य का आदर्श प्रतिष्ठित किया उसी से मिलती जुलती भूमिका द्विवेदीजी ने ग्रहण की है। वह एक नवीन आदर्शवाद है जिसकी तुलना एक ओर रस्किन और कारलाइल के साहित्य के आदर्शों से की जा सकती है दूसरी ओर इमर्सन से और तीसरी ओर टालस्टाय से भी की जा सकती है। यह सही है और इसी प्रकार अनेक समीक्षकों ने रस्किन कारलाइल के आदर्श को एक बताया है परन्तु फिर भी हिन्दी साहित्य में एक नये प्रस्थान का ऐतिहासिक महत्व है। आगे के समीक्षक विचारक इस मत के औचित्य, अनौचित्य पर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। साहित्य के उत्कर्ष की सिद्धि के लिए यह दृष्टि कहाँ तक सुसंगत है इस पर आगे की पीढ़ियाँ विचार कर सकती हैं जैसा कि यूरोपीय देश में विचार किया गया है और बहुधा अमान्य भी किये गये हैं। अब यह प्रसंग बाकी है जिस पर दृष्टिपात नहीं करना चाहते।

व्यावहारिक–समीक्षा

मानवतावादी दृष्टि

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी मानवतावादी समीक्षक हैं। उनका कहना है 'मनुष्य ही मुख्य है बाकी सब बातें गौण हैं। मनुष्यता या मनुष्य की एकता के संबन्ध में 'साहित्य का मर्म' शीर्षक अपने भाषण में द्विवेदीजी ने बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से विचार किया है। मानवतावाद निश्चय ही एक आदर्शवाद है जिसका प्रतिपादन आदिकाल से बड़े-बड़े महात्मा और महापुरुष करते आये हैं पर

द्विवेदी जी का मानवतावाद यथार्थोन्मुख मानवतावाद है जो इतिहास और विज्ञान से मुंह मोड़कर चलनेवाला नहीं है। इस मानवतावाद की अभिव्यक्ति उन्होंने हिन्दी साहित्य की भूमिका और कबीर में इतिहास का आश्रय लेकर की है तो 'साहित्य का मर्म' में यह अभिव्यक्ति ज्ञान और विज्ञान के विभिन्न स्वरूपों के उद्घाटन के माध्यम से हुई है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतना के दो किनारों की उपज है वे परस्पर विच्छिन्न नहीं है परस्पर विरुद्ध तो नहीं ही है। सौन्दर्य शास्त्र का आलोचक इसी परस्पर असंबद्ध और विच्छिन्न सी लगनेवाली रसप्रेरणा के स्त्रोतों में सामंजस्य खोजता है।[१]

द्विवेदी जी की दृष्टि में अलंकार, छंद, रस का अध्ययन सभी मनुष्य मात्र को समझने का साधन है। साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य मानव जीवन को उन्नत करना और देवोपम बना देना है। छंद, छंद के लिए नहीं लिखा जाता। मनुष्य को हर तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही उसका प्रथम कर्त्तव्य है। गद्य, पद्य कथा, कहानी, नाटक, चित्र, मूर्ति इत्यादि उसी महान उद्देश्य के साधनमात्र है। वे साहित्य को इसलिए बड़ा नहीं मानते हैं कि उसमें गद्य, पद्य, छन्द, कथा, कहानी होती हैं बल्कि इसलिए बड़ा है कि मनुष्य को उन्नत और विशाल बनाता है, उसको मोह और कुसंस्कार से मुक्त करता है उसे धीर और परदुखकातर बनाता है।[२]

मनुष्य ही बड़ी चीज है। भाषा इसी की सेवा के लिए है। साहित्य सृष्टि का भी यही अर्थ है। जो साहित्य मनुष्य समाज को अज्ञान, रोग, शोक, दारिद्रय और परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है वह निश्चय ही अक्षयनिधि है।[३] द्विवेदी जी मनुष्य की अतुलनीय शक्ति पर विश्वास करते हैं।[४] उनका कहना है मनुष्य का हृदय वह पारस है जो झट लोहे को सोना बना देता है।

द्विवेदी जी ने साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन को माना है।[५] हिन्दी की शक्ति' नामक पाठ में आपने भाषा और साहित्य के विषय में विचार करते हुए हिन्दी के बारे में कहा है कि हिन्दी भाषा और साहित्य हमारा

१—हमारी साहित्यिक समस्यायें : पृ० ९३। २—वही : पृ० ९९।
३—वही : पृ० ९९। ४-वही : पृ १०१।
५—वही : पृ० ९१।

साध्य ही नहीं साधन भी है बल्कि हमारी आज की परिस्थिति में वह साध्य की अपेक्षा साधन अधिक है ।[१]

हमे किसी एक भाषा या जाति के प्रति मोह या अन्य से चिढ़ने से हमारा दारिद्रय ही सूचित होता है । इसका अन्य कारण समझाते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि नाना प्रकार की ऐतिहासिक परम्पराओ के भीतर से गुजरने के कारण भिन्न भिन्न जनसमूह के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा आवश्यक है । परम लक्ष्य को ध्यान मे रखने की बात हमेशा स्मरण दिलाते हुए नहीं भूलते ।

मनुष्य बनाना ही ज्ञान विज्ञान का लक्ष्य है । मनुष्य अर्थात् पशुसामान्य क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त परमप्रेम स्वरूप । मनुष्य को प्रेम नहीं करने लगते तब तक हम रंक बने रहेंगे । रंक अर्थात् प्रवृत्तियों के गुलाम उत्तेजनाओं के शिकार और क्षुद्र स्वार्थों के मुहताज ।[२]

द्विवेदी जी प्रत्यक्ष मनुष्य को ही अध्ययन की सामग्री मानते हैं ।[३] यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है । मनुष्य का स्वरूप क्या है ? बाह्यरूप से धर्म, आचार परम्परा, वैश वैशिष्ट्य वर्ग, मनोविज्ञान आदि भेदों के होते हुए भी ऊपरी सतह के नीचे मनुष्य सर्वत्र एक है ।[४] दूसरों के साथ तादात्म्य या एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है ।[५] वह अपने को चलित द्राक्षा के समान निचोड़कर समस्त सुख दुखों को तेलबाती में जला कर मनुष्य अपने आपको महा 'एक' को समर्पण करता है तो वह मनुष्य बनता है । उसका सम्पूर्ण जीवन चरितार्थ होता है ।[६] मनुष्य का श्रेष्ठ रूप का प्रकट होना ही उसका स्वाभाविक धर्म है ।[७] मनुष्य की मनुष्यता पशुसामान्य मनोवृत्तियों को उत्तेजित करने में नहीं वरन् उसकी साधना, तपस्या में है ।[८]

मनुष्य एक है, भेद विभेद ऊपरी बाते हैं । मनुष्य की इस महान एकता को पाने के लिए समस्त संकीर्ण स्वार्थों का बलिदान, क्षणिक आवेगों का दमन, उत्ताल संवेगों का निरोध अशुचि वासनाओं का संयमन, गलत तर्क पद्धति

१—हमारी—वही : पृ० ४४ ।
२—विचार और वितर्क : पृ० १९८ ।
३—अशोक के फूल : पृ० १८० ।
४—विचार और तर्क : पृ० १०३ ।
५—साहित्य का मर्म : पृ० ६९ ।
६—वही : पृ० ७० ।
७—वही पृ० ७० ।
८—वही : पृ० ७० ।

का निराश और आत्मधर्म का विवेक आवश्यक साधन है।[१] इन्हीं से वह परम आनन्द चित्त में उच्छल हो उठता है जिसका प्रकाश साहित्य है।

साहित्यिक रचनायें केवल व्यक्ति की निजी अनुभूति की सीमाओं में आबद्ध नहीं होती। वे समूची सामाजिक चेतना का अनुरणन है।[२] मनुष्य के सुख दुखों का परिचय और उसकी आकांक्षाओं की गाढ़ उपलब्धि तब तक महनीय नहीं हो सकती जब तक उसे मनुष्य उस महान धर्म की ओर उन्मुख और क्रियाशील नहीं हो जाता जिसे मनुष्यता कहते हैं।[३] सब आसान और अनायास साध्य बातें मनुष्य को प्रिय नहीं है क्योंकि वह सृष्टा है, वह धर्म वृत्तिक है, वह समूचे प्राकृतिक जगत को अनुकूल और मनोरम रूप में गढ़ लेने का व्रती है। इसीलिए साहित्य का मर्म वही समझ सकता है जो साधन और तपस्या का मूल्य समझे। 'मनुष्य' रूपी पुरुष ही अर्थात् पशु-सुलभ धरातल से ऊपर उठा हुआ मनुष्यत्व धर्मी ही सृष्टि की सबसे बड़ी साधना है। उससे बड़ा कुछ भी नहीं।[४]

मानवता के दो प्रधान लक्षण बताये है। (१) मनुष्य की महिमा और मानवीय मूल्यों में विश्वास (२) मनुष्य के मर्त्य जीवन को किसी प्रकार के पाप फल भोगने का परिणाम न समझ कर इसे इसी दुनियाँ मे दुख शोक से बचाना और इसी दुनियाँ में इसे सुख समृद्धि से युक्त करना।[५]

भिन्न भिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई न कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का व्यापक विश्वास मानवतावाद है। इस मध्य युग के मानवतावाद से घुला नहीं देना चाहिए जिसमें किसी न किसी रूप में यह स्वीकार किया था कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है और भगवान अपनी सर्वोत्तम लीलाओं का विस्तार नर रूप धारण करके ही करते हैं। नवीन मानवतावादी विश्वास की सबसे बड़ी बात है इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और महत्व की मर्यादा का बोध।[६]

सृष्टि परम्परा में मनुष्य का विकास अद्भुत बात है। वह इस सृष्टि प्रक्रिया का सबसे उत्तम सबसे सुकुमार अतएव सबसे अधिक आदरास्पद और महत्वपूर्ण वस्तु है।[७] मनुष्य को सुखी बनाना उसे सब प्रकार की आर्थिक और

१—साहित्य का मर्म : पृ० ७५।
२—वही : पृ० ७७।
३-वही : पृ० ७७-७८।
४—वही : पृ० ७८।
५—विचार और वितर्क : पृ० १८६।
६—वही : पृ० १८८।
७—हिन्दी साहित्य : पृ० ४३०।

राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना और उसे रोग शोक के चंगुल से छुड़ाना ही सब प्रकार के शास्त्रों एवं विद्याओं का प्रधान लक्ष्य है।[१] मनुष्य को इसी मर्त्य-काया में इसी दुनियाँ में सुखी बनाने का लक्ष्य क्या है ? मनुष्य अद्भुत शक्तियों का भंडार है उसके अनेक स्थान आत्म बलिदान के बाद अपने भीतर अनेक सद्-गुणों का विकास, पशुसामान्य धरातल से ऊपर उठ गया । इस मनुष्य की संभावनायें अनन्त है। इस मर्त्यलोक को अद्भुत अपूर्व शान्तिस्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है। यही मानवतावादी दृष्टि है।[२] यही मानवतावादी दृष्टि आधुनिक संस्कृति का मेरुदण्ड सिद्ध हुआ है यह पूर्णतः आशावादी है। प्राचीन धर्मभावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने का संकल्प था, नई मानवता पर आधारित धर्मभावना में मनुष्य को इसी मर्त्यकाया में सुखी बनाने का संकल्प है। यह मानवतावाद पुरानी धर्म भावना का विरुद्धगामी दृष्टिकोण सिद्ध हुआ। फलस्वरूप आचारों, विश्वासों और क्रियाओं के मूल्यों में बड़ा अंतर आ गया, ईश्वर और मोक्ष को मानना न मानना, गौण बात हो गई, मनुष्य को इसी लोक में सुखी बनाना मुख्य।[३] आज का मानवतावाद व्यक्ति मानव की नहीं, समष्टि मानव की आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति चाहता है। आज के युग में सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है।[४]

कदाचित् इस मानवतावादी दृष्टि ने ही द्विवेदीजी को काव्य की परंपरा गत मान्यताओं और सर्व स्वीकृत विवेचनों से अलग कर दिया और उन्होंने इस मानवतावादी दृष्टि के कारण ही साहित्य के नये प्रतिमानों का निर्माण किया। द्विवेदीजी की दृष्टि परिनिष्ठित साहित्य से हटकर लोक साहित्य पर पहुँची और उन्होंने व्यापक भारतीय जीवन में जो निम्न वर्ग के उनके उत्थापन के लिए दिए गए कबीर आदि के प्रयत्न के महत्व को प्रतिपादित किया बल्कि यह कहना चाहिए कि मध्यकालीन धार्मिक साधना और नाथ संप्रदाय कबीर आदि के विवे-चनों से द्विवेदीजी ने स्वीकृत साहित्यिक पद्धति का अतिक्रमण कर दिया है विशेषकर कबीर को भारतीय साहित्यकारों में शीर्ष स्थान घोषित किया है।

प्राचीन हिन्दी साहित्य के विवेचन में द्विवेदीजी की स्वतन्त्र और मौलिक दृष्टि का परिचय उनकी कबीर नामक पुस्तक में सबसे अधिक मिलता है। यहीं यह सूचित होने लगता है कि द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य के प्राचीन

१–हिन्दी साहित्य : पृ० ४३०।
२—वही : पृ० ४३१।
३–वही : पृ० ४३१।
४—वही : पृ० ४६५।

कवियों पर वही दृष्टि रखते हैं जो आचार्य शुक्ल तथा उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती विचारकों ने प्रदर्शित की है। यद्यपि हिन्दी साहित्य के आरम्भिक अंग्रेज इतिहास लेखकों ने कबीर की पर्याप्त प्रशंसा की हैं परन्तु साहित्यिक भूमिका पर अधिक न कहकर उन्होंने धार्मिक दृष्टि से कबीर को हांकना चाहा हैं। यहाँ भी कबीर के जो धार्मिक आदर्श-क्रिश्चियन मत के अधिक समीप हैं उनकी विशेष रूप से प्रशंसा की गई है इस प्रकार इन विदेशी समीक्षकों का कबीर सम्बन्धी आक्लन अधूरा और एकांगी ही कहा जायगा। उनके पश्चात् मिश्रबन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' ग्रंथ में कबीर की चर्चा की है। परन्तु वह भी उसके परवर्ती संस्करण प्रथम संस्करण में कबीर को नवरत्नों में स्थान नहीं दिया गया। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि मिश्रबन्धु की साहित्यिक और आलंकारिक दृष्टि में कबीर महत्वपूर्ण नहीं दिखाई देते। मिश्रबन्धुओं के समक्ष हिन्दी साहित्य के इतिहास और भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की भी कोई स्पष्ट धारा नहीं बन सकी थी। वे स्फुट रूप में कवियों का विवेचन करते जा रहे हैं, फिर भी उन्होंने 'नवरत्न' के दूसरे संस्करण में कबीर की परिगणना की है। यह भी उनके साहित्यिक इतिहास के सम्बन्ध में नवीन चिंतन का परिणाम हैं।

शुक्ल जी और द्विवेदी जी की भिन्न दृष्टियाँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने इतिहास ग्रंथ में तो विभिन्न कवियों की समकालीन परिस्थियों का उल्लेख तो किया ही है, उन्होंने दार्शनिक भूमिका पर भारतीय धर्म के ज्ञान, भक्ति और कर्म के पक्षों का यथेष्ट दिग्दर्शन भी कराया है। इसके साथ ही उन्होंने अपने गोस्वामी तुलसीदास और जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में भी धर्म की उक्त तीन शाखाओं का उल्लेख किया है। उनके मत में मध्यकालीन हिन्दू धर्म श्रुतिसम्मत परम्परा को छोड़कर बहुत कुछ एकांगीरूप में दिखाया है। मध्य युग के सिद्ध और नाथ परम्परा के धार्मिक उन्नायकों और कवियों में जो गुह्य प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उन्हें शुक्ल जी भारतीय धर्म के ह्रास का लक्षण मानते हैं रामायण और महाभारत में वर्णित भारतीय समाज जो सर्वांगीण विकास होने में दिखाई देती है उनका परवर्ती काव्य भी बहुत कुछ अभाव हो गया हैं। एक ओर कवि जयदेव की गीतपरम्परा राधा कृष्ण के प्रेमपक्ष को लेकर ही अभियत्ता बना सके, दूसरी ओर ज्ञान के शुष्क पक्षों से लेकर रहस्यवादी सिद्धों और नाथों ने काव्य को जीवन से बहिष्कृत सा कर दिया। सूफियों के प्रेम मार्ग के अन्तर्गत जो प्रबन्ध काव्य लिखे गये उनमें यद्यपि सूफी प्रेम की प्रधानता थी परन्तु लोक जीवन के अनेकानेक दृश्य और पक्ष भी सम्मिलित हुये थे।

कबीर के सम्बन्ध में अपना अभिमत देते हुए शुक्ल जी ने उनकी आंशिक प्रशंसा की है। उनका कथन है कि कबीर ने नाथपंथियों के शुष्क योगाचार में सूफी प्रेमसाधना का योग देकर एक विशिष्ट भक्ति मार्ग की प्रतिष्ठा की जिसे निर्गुण भक्ति के नाम से प्रवर्तित किया गया। इस निर्गुण भक्ति में जहाँ एक ओर हिन्दू दर्शन का ब्रह्मवाद सम्मिलित है वहाँ दूसरी ओर सूफियों का प्रेमतत्व भी समाहित हो गया है। इस प्रकार ज्ञान और प्रेम के दो जीवन पक्षों का संयोजन तो कबीरदास ने किया परन्तु उस कर्म पक्ष की योजना नहीं की जो भारतीय धर्म का और विशेषकर लोकधर्म का एक अविच्छेद्य तत्व है। आचार्य शुक्ल के मत से ज्ञान भक्ति और कर्म का समन्वय गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस के द्वारा ही सम्पन्न हो गया है अतएव उनके मत में भारतीय धर्म के सच्चे उन्नायक और नवप्रतिष्ठाता गोस्वामी तुलसीदास ही थे।

तुलसीदास से कबीर का अन्तर बताते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी उपर्युक्त स्थापना का अनेक बार प्रयोग किया हैं। उन्होंने यह बताया है कि कबीरदास श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ के अनुयायी नहीं थे लोकजीवन में शिष्ट समाज के बीच उनकी वाणियों का कोई विशिष्ट प्रभाव न था। उनके विचार और उनका काव्य अधिकतर अनपढ़ लोगों के बीच में प्रसार पा गया और वहाँ भी वह धर्मोपदेशकों में झूठे अहंभाव की वृद्धि में सहायक हुआ। ब्रह्मदर्शन का दंभ करने वाले लोगों की संख्या बढ़ने लगी। तभी तो गोस्वामी तुलसीदास को कहना पड़ा 'साखी शब्दी दोहरा कहि किहिनी उपखान, भगति निरूपहिं भगत निदहिं वेदपुरान' स्पष्ट है कि यह उक्ति कबीर जैसे एकांगी भक्ति के निरूपकों के लिये ही कही गई है। शुक्ल जी ने कबीर के इस पक्ष को उपस्थित करके ही संतोष नहीं किया बल्कि वे दो कदम आगे बढ़कर तुलसी की इस उक्ति का उद्धरण भी देते हैं—

'हम लखि लखहि हमारि, लखि हम हमार के बीच
तुलसी अलखहि का लखे, राम नाम जप नीच।'[1]

नाथ पंथियों से कबीर की विशिष्टता एक और बात में भी आचार्य शुक्ल जी ने दिखाई वह यह है कि कबीर के वक्तव्यों में नैतिकता का इतना गहरा पुट है कि सूफियों और कृष्णभक्त कवियों की श्रृङ्गारिकता उसमें प्रवेश नहीं कर पाई अतएव इस दृष्टि से कबीर का निर्गुणमत सूफियों की प्रेममार्गी अतिशयता और कृष्णभक्तों के माधुर्यभाव से श्रृङ्गारिकता के बहुत कुछ बचा रहा।

१—गोस्वामी तुलसीदास . पृ० ९

यह सब लिखते हुए भी आचार्य शुक्ल जी के कबीर के काव्य को अनगढ़ भाषा और सधुक्कड़ी प्रयोगों का उदाहरण बताया है। और साहित्यिक दृष्टि से भी उनके काव्य की विशिष्टता स्वीकार नहीं की है। एक तो शुक्ल जी प्रबंधात्मक काव्य के इतने पक्षपाती रहे हैं कि उन्हें वर्णनात्मक काव्य की तुलना में गीतात्मक काव्य या मुक्तकों में कोई विशेषता लक्षित नहीं हुई इसीलिए उन्होंने जायसी की लोककथा के आधार पर काव्य रचना करने वाले कवियों को ही कबीर की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण माना है और इसी कारण उन्होंने कृष्णलीला के गायक महाकवि सूरदास को भी एकाँगी ही ठहराया है। हम कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल का यह समग्र विवेचन चाहे वह धार्मिक और दार्शनिक आधारों को लेकर चला हो अथवा साहित्यिक भूमिकाओं को स्पर्श करता हो उनके निजी विचारों का वाहक है।

इसके विपरीत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की स्थापनाएं न केवल कबीर को असाधारण महत्व देती हैं वरन् समस्त मध्यकालीन धर्मसाधना को, जिसमें सिद्धों और नाथों की परंपरा भी सम्मिलित है जनजीवन से सम्बद्ध होने के कारण असाधारण वैशिष्ट्य प्रदान करती है। जब कि शुक्ल जी तथा अन्य समीक्षक जैन साहित्य को साँप्रदायिक कहकर वास्तविक काव्य इतिहास के अन्तर्गत सम्मिलित करने को भी तैयार नहीं हैं तब द्विवेदी जैन साहित्य में सांप्रदायिकता का अंश मानते हुए भी उसे काव्य और सामाजिक संस्कृति की भूमिका पर रखकर परखना चाहते हैं। इस संबंध में उनका यह तर्क उल्लेखनीय है कि यदि समस्त जैन साहित्य को सांप्रदायिक कहकर छोड़ दिया जाएगा तब तो गोस्वामी तुलसीदास के काव्य को भी साहित्य की सीमा में नहीं लिया जा सकेगा क्योंकि उनमें भी भक्ति मार्ग का निरूपण है। यद्यपि द्विवेदी जी का यह तर्क जैनों के सांप्रदायिक काव्य के साथ तुलसीदास के महान् काव्य को एक श्रेणी में रखने का उद्योग सर्वथा-समर्थनीय नहीं है फिर भी इससे उनकी उस दृष्टि का परिचय मिलता है जो साहित्य को कला की वस्तु न मानकर मनुष्यों और मानवीय संस्कृति की वस्तु मानते हैं। आचार्य द्विवेदी कबीर की भाषा के संबंध में निम्नलिखित वक्तव्य देते हैं "भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे, जिस बात को उन्होंने जिस रूपमें प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है। बन गया है तो सीधे सीधे नहीं तो दरेरा देकर,[1] भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है, कबीर के

१—कबीर : पृ० ३१६।

साहित्यिक गुणों पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने उनके व्यंग्यों पर विशेष प्रकाश डाला है। वे कहते हैं पंडित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यंत सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़कर चल देने के सिवा और कोई दूसरा रास्ता ही नहीं पाता।"[१] कबीर की साहित्यिक विशेषताओं से भी बढ़कर द्विवेदी जी उनके व्यक्तित्व की विशेषता के कायल हैं। द्विवेदी जी यह स्वीकार करते हैं कि कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कहीं थी। काव्यगत रूढ़ि के वे न तो जानकार थे और न कायल परन्तु अपने व्यक्तित्व की अनन्य असाधारणता के कारण उनका लोहा सबको मानना पड़ता है। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियां श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं।

द्विवेदी जी ने कबीर पर लगाये गये इस आरोप का भी उत्तर दिया है कि कबीर का काव्य शिष्टजनों को आकर्षित नहीं करता जो लोग कबीर की वाणियों में पांडित्य की कमी की शिकायत करते हैं उनका उत्तर देते हुए द्विवेदी जी कहते हैं "यह मानी हुई बात है कि जो बात लोभ में अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेम के क्षेत्र में स्वाधीन भर्तृका नायिका के गर्व की भांति अपनी और अपने प्रिय के प्रति अखंड विश्वास के परिचायक, जो वाक्य लोक में दब्बू एवं कायरपन कहलाती है वही भगवत्प्रेम के क्षेत्र में भगवान के प्रति भक्त का अनन्य परायण आत्मार्पण होती है। और जो बातें लोक में परस्पर विरुद्ध जंचती हैं भगवान के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है इस प्रकार द्विवेदी जी ने भगवत्प्रेम के क्षेत्र को सामान्य लोकधर्म क भूमिका सेी भिन्न एवं पृथक बताया है। जहां शुक्ल जी लोकधर्म और व्यक्तिगत साधना के बीच एक नैसर्गिक विरोध देखकर दोनों में सामंजस्य की अभिशंसा करते हैं वहां द्विवेदी जी कबीर के वैयक्तिक साधना के स्वरूप विकसित हुए उनके व्यक्तित्व की शतशः अभ्यर्थना करते हैं। यहां भी दो विचारकों के बीच विचारधारा का स्पष्ट और आत्यंतिक अंतर देखते हैं। परन्तु इतना फिर भी कहा जा सकता है कि ये दोनों दृष्टियां समान रूप से विचारणीय हैं। आचार्य शुक्ल की दृष्टि जहां कर्म ज्ञान और भक्ति का समन्वय चाहती है और जहां वह श्रुतिसम्मत परंपरा का आग्रह करती है, शिष्टता और शालीनता को महत्व देती है वहाँ द्विवेदी जी की दृष्टि एक महान

१–कबीर : पृ० २२०।

केन्द्र से संपृक्त होकर उस व्यक्तित्व का गुणगान करती है जो सारी धर्मसाधना को अपने में समेट लेने की शक्ति रखती है। जहाँ तक साहित्यिक सौष्ठव की चर्चा है द्विवेदी जी का आग्रह मानवता को विकसित करने वाली साहित्य से है। सुसज्जित, समलंकृत रस विधायक और कलापूर्ण अभिव्यन्जना से ही नहीं। कबीर के सम्बन्ध में न केवल शुक्ल जी का ही मत विचारणीय है बल्कि साहित्यिक भूमिका पर कबीर के प्रदेय के सम्बन्ध में सदैव प्रश्न उठते रहेंगे। मतभेद के लिए पूर्ण स्थान रहते हुए भी यहाँ केवल द्विवेदी जी की दृष्टि का विकास देख रहे हैं, जो साहित्य में अपरिचित है उनको भी जैसे बाहुल संप्रदाय के लोककवियों के विषय में जिस प्रकार क्षितिमोहनसेन जैसे विद्वानों ने उन अपठित कवियों को महत्व दिया सरल भाषा कवियों को महत्व दिया उसी प्रकार द्विवेदीजी ने अर्द्ध शिक्षित कवियों को मानवतावादी दृष्टि से महत्व दिया। इस दृष्टि का विस्तार द्विवेदी जी के अनेकानेक साहित्यिक विचारों में मिलता है। भक्त कवियों की समीक्षा करते हुये द्विवेदी जी उनके लौकिक पक्ष, उनके जनजीवन में व्याप्त प्रभाव, लोक संस्कारक उनकी काव्य रचना को महत्व देते हैं, उनको साहित्यिक सौष्ठव को उनकी भाषा की समृद्धियों को द्वितीय स्थान देना चाहते हैं, कदाचित् आधुनिक साहित्य में प्रेमचन्द को सर्वोपरि महत्व दिया। प्रेमचन्द के प्रति विचार देखिए : प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित अवमानित और निष्पोषित कृषकों की आवाज थे। पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे। गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे।[1] 'प्रेमचन्द मनुष्य की सद्वृत्तियों में विश्वास करते थे। मनुष्य की दुर्वृत्तियों को वे अजेय तो समझते ही नहीं उनको भाव रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं इसी में संदेह है। वे मानते हैं कि जड़ोन्मुखी सभ्यता ने हमें जड़ता को ही प्रधानता दी है।[2] वर्ग रूप में व्यक्ति को देखना प्रेमचन्द की विशेष दृष्टि थी और संघर्ष में सहयोग के द्वारा ही शान्ति प्राप्ति उनकी चरम साधना थी।[3] साधारण जनता के अन्तस्तल में पहुँचकर उसे दुनिया के सामने विकृत करने में प्रेमचन्द कमाल करते हैं। वे गरीबों से इस प्रकार घुल मिल गये थे कि पैसेवालों के प्रति एक गहरी उपेक्षा उनके वैयक्तिक जीवन में आ गई थी।[4] दरिद्रता की वकालत करना लोकचक्षु गोचर करना प्रेमचन्द का मनोरंजन या बुद्धिविलास नहीं था। वह उनके जीवन का चरमलक्ष्य था उसमें वे आध्यात्मिक संतोष पाते

१—विचार और वितर्क पृ० ५०। २—वही : पृ० ५१।
३-वही : पृ० ६०। ४—वही : पृ० ६२।

थे। वे उनको अलग रखकर दूर से आर्थिक तत्व चिंतक की भांति नहीं देखते थे, अपने को उनमें घुलमिलाकर मानो अपना ही कलेजा चीरकर रख देते थे।[१] प्रेमचन्द सामान्य जनता के लेखक रहे है। सामान्य जनता के सुखदुखों में सहयोगी रहे है कदापि इसलिये निराला की संस्कृतनिष्ठ कविताओं में जनजीवन में प्रवेश करने की शक्ति वे नही देते। कदाचित् इसीलिए दिवेदी जी फक्कड़ कवियों के प्रेमी है। शालीन कवियों ने नही; हिन्दी साहित्य के विकास में यह एक प्रगतिशील दृष्टि मानी गई है और शुक्ल जी के शास्त्रीय लोकधर्मवादी दृष्टिकोण के विरोध मे इसकी स्वीकृति हुई है। हिन्दी के प्रगतिवादी लेखकों ने उनके इस विचार और आदर्श का स्वागत किया क्योंकि उनकी विचारधारा के अनुरूप पड़ते है। यद्यपि द्विवेदी जी ने इस मानवतावादी दृष्टि को वर्गसंघर्ष पर नही रखा फिर भी प्रगतिवादियों ने आधी दूर तक साथ देनेवाले विचारक के रूप में द्विवेदी जी का अभिनन्दन किया। वर्तमान समय में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे विविधवादों का विविध साहित्यिक दृष्टियों का एक अनिर्दिष्ट स्वरूप दिखाई पड़ता है जब इस वर्तमान अनिश्चयात्मकता के समाप्त होने का समय आयेगा और जब विविध विचारों और आदर्शों का साहित्यिक भूमिका पर मूल्यांकन होगा तब कदाचित् द्विवेदी जी के इस सिद्धान्त का एक भिन्न प्रकार का मूल्य स्वीकृत किया जायेगा। फिर भी एक नई स्थापना के लिए उनका स्मरण लोग करते रहेंगे।

द्विवेदी जी ने रोमांटिसिज्म के बारे में अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है। रोमांटिसिज्म एक ऐसी भावधारा है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा है। द्विवेदी जी का कहना है कि पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करना और अनुकरण करना कोई गल्ती व लज्जा की बात नहीं पर वह अनुकरण अंधानुकरण नहीं होना चाहिए। अंधानुकरण से तो मानसिक दैन्य और सांस्कृतिक दारिद्रय प्रकट होता है।[२] सोच समझकर ग्रहण करने में कोई अनौचित्य नहीं।

स्वच्छन्दतावाद के बारे मे उनका कहना है कि केवल परम्परा प्राप्त साहित्य का विरोध करने के लिए या परिपाटी विहित रसज्ञता का प्रत्याख्यान करने के लिये यह साहित्य नही रचा गया था। इसीलिए उसे स्वच्छन्दतावाद कहना उसके केवल एक पहलू को ही अधिक बढ़ाकर कहना है।[३]

१—विचार और वितर्क : पृ० ६२। २—साहित्य का मर्म : पृ० पृ०।
३—रोमांटिक साहित्यशास्त्र : पृ० २।

रोमांटिक साहित्य का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह के घन संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग के दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी है।[१] वस्तुतः यह साहित्य अपने युग की सम्पूर्ण चेतना और विचार संघर्ष की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति है।

रोमांटिक साहित्य कवि चित के आन्तरिक सौन्दर्य के आदर्श और बाहरी जगत के एकदम भिन्न परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम है। इस संघर्ष में विद्रोह का स्वर भी है परन्तु असली और प्रधान स्वर रचनात्मक है। वह कुछ नया करने का प्रयत्न है जो कुछ नया देखने को तीव्र आकांक्षा से उत्प्रेरित है और बाह्य असुन्दरता को बदलने के उद्देश्य से परिचालित है।[२] इस साहित्य ने हमारे देश के साहित्य को भी प्रभावित किया है।

द्विवेदीजी की समीक्षा का सांस्कृतिक आधार :

वे साहित्य को सांस्कृतिक [illegible] रखकर देखने के पक्षपाती हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में श्री द्विवेदीजी की दृष्टि भारतीय अभारतीय, आध्यात्मिक भौतिक के अर्थभेद को मानकर नहीं चलती है। उनकी दृष्टि मानवोत्थान पर ही सर्वत्र है। कहते हैं 'हम व्यर्थ के झगड़े में न पड़ जाय कि कोई चीज कहां तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज अगर अच्छी है तो वह भारतीय हो या न हो स्वीकार्य है, आध्यात्मिक हो या न हो ग्राह्य है।[१] विश्व भारती शान्तिनिकेतन के वातावरण ने उन्हें अति नवीन की ओर प्रस्थान नहीं करने दिया। इसलिए व्यापक भारतीय संस्कृति के अध्ययन अनुशीलन द्वारा उसने पुनरुद्धार के वातावरण में वास्तविक भारतीय संस्कृति के विवेचन तथ्य उसके माध्यम द्वारा प्राचीन भारतीय साहित्य को ही यथार्थ रूप में देखने की ओर प्रवृत्त हुए। प्राक्तन के अध्ययन मनन के आधार पर भविष्य के निर्माण की प्रेरणा के कारण भी वे नवीन की ओर न जाकर प्राचीन संस्कृति की मीमांसा में ही पहले लगे। अपने भूतकाल की संस्कृति के के अध्ययन के

आधार पर उसके दोष को त्याग और गुण को ग्रहण कर इस त्याग ग्रहण द्वारा भविष्य निर्मित किया जाय यह श्री द्विवेदी जी की मान्यता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा भी है 'यदि हमारे समूचे प्राक्तन तत्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होता तो वह बेकार है[१] अपनी संस्कृति को पूरी तौर से जाँच पड़ताल की उन्होंने वर्तमान अति नवीन के सम्बन्ध में अपनी राय देने का कार्य बाद में आरम्भ किया। संस्कृति को वे शाश्वत या एक देशीय वस्तु नहीं मानते, उनके अनुसार वह प्रगतिशील परिवर्तनशील और परम्परा नैरन्तर्य से युक्त है। इस तरह अनिवार्यतः साहित्य भी, संस्कृति का अंग होने के कारण परिवर्तनशील किन्तु प्रगतिशील है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है 'मनुष्य की जीवन शक्ति बड़ी निर्मम है वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।'[२] द्विवेदी जी अपनी संस्कृति के प्रति जागरूक हैं। जब हम संस्कृति के प्रति इतके प्रेम की बात करते हैं तो हमें स्मरण रखना चाहिए कि रूढ़िवादिता उनसे उतनी ही दूर है, जितना असत्य सत्य से। इनकी दृष्टि में जातीय पक्षपात, अपने धर्म और साहित्य का अंधविश्वास, उसकी हठवादिता और जड़वादिता-मानवता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधक है। 'भारतीय संस्कृति की देन' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं 'भारतीय संस्कृति' पर कुछ विचार करने से पहले मैं यह निवेदन करना कर्त्तव्य समझता हूँ कि मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है।'[३]

द्विवेदीजी की अन्तर्प्रान्तीय साहित्य-दृष्टि

द्विवेदी जी की साहित्यिक-दृष्टि बहुत व्यापक है। इसी व्यापक दृष्टि से उन्होंने साहित्य की परिभाषा की है। 'जो साहित्य अपने युग के मनुष्य को, उसकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ, उसकी समस्त आशा आकांक्षाओं के साथ हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर खड़ा कर देता है वह निस्संदेह महान

१—विचार और वितर्क : पृ० १४७। २—अशोक के फूल पृ० १३।
३—वही : पृ० ७५।

साहित्य है ।[१] इस दुनिया को प्रत्यक्ष करने की शक्ति एक मात्र इसी साहित्य में है ।[२] भारतीय साहित्य में एक विचित्र विरोधाभास है । रचना की नवीनता वक्तव्य की नवीनता का प्रमाण नहीं है । अनेक पुराणों की रचना परवर्तीकाल में हुई है पर उनमें जो परम्परा आभाषित है वह बहुत पुरानी हो सकती है । यही बात देशी भाषाओं के लिखित और अलिखित साहित्य के बारे में भी सच है । जिन आर्येतर भाषा भाषी जातियों को बहुत परिवर्तनकाल में अपने विश्वासों और अनुश्रुतियों को आर्य भाषा के माध्यम से कहने का मौका मिला है 'वे स्वयं नया नहीं है। उनकी अनुभूतियों को आर्य भाषा वाला रूप नया हो सकता है पर अनुश्रुतियाँ बहुत पुरानी हो सकती हैं। निस्संदेह उन पर परवर्तीकाल के चिन्ह भी इधर उधर चिपके रह गये होंगे पर फिर भी उनके प्राचीनतर रूप का साधन और किसी भी प्रकार से पाना दुष्कर है । इस दृष्टि से देशी भाषाओं का महत्व बहुत अधिक है ।[३] इन्हीं देशी भाषाओं में प्राचीन संस्कृति के अध्ययन के सूत्र खोजे जा सकते हैं ।

द्विवेदीजी का कहना है कि अगर हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना है तो उसके पड़ोसी साहित्यों-बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, नेपाली आदि के पुराने साहित्य लिखित और अलिखित को जाने बिना घाटे में रहेंगे । यही बात बंगला, उड़िया मराठी आदि के पुराने साहित्यों के बारे में भी ठीक है । हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य काल विधाता के हाथों सी दिया गया है कि उसे सीमाओं में बांधकर सोचा ही नहीं जा सकता ।[४]

द्विवेदीजी का कहना है कि ऐतिहासिक विकास को संस्कृत पोथियों के सहारे नहीं जाना जा सकता । इसके समझने का एकमात्र उत्तम मार्ग है वर्तमान देशी भाषाओं के प्राचीनतर साहित्य का अध्ययन ।[५] वस्तुत: केवल एक प्रान्त के साहित्यिक अध्ययन से इस इतिहास के सिर्फ एक ही अध्याय का पता चलेगा । सम्पूर्ण चित्र के लिए अन्यान्य देशी भाषाओं के साहित्य की जानकारी आवश्यक है ।[६] आगे और भी देशीं भाषा के अध्ययन के सम्बन्ध में लिखते हैं "यदि देशी भाषाओं के साहित्य का अध्ययन उपेक्षित रहेगा तो यह संभव नहीं हैं कि इस महान् धार्मिक उथल पुथल का सामान्य आभास भी अन्य किसी साधन से प्राप्त

हो सके।[१] यह साहित्य उस बीज की कहानी को बतायेगा जो हजार वर्ष बाद इस महादेश को दो परस्पर विरोधी टुकड़ों में बाँटने वाले विषवृक्ष के रूप में पनपा है। हमारी देश भाषाओं का आदिकाल का साहित्य एक दूसरे से बुरी तरह उलझा हुआ है और एक दूसरे का पूरक है :[२]

भारतवर्ष सुषुप्त मध्ययुग, जिसके पेट से यह हमारा आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है, बहुत महत्वपूर्ण है। इस देश की जनता को, उसके विश्वासों को, धर्मपरिवर्तन के कारणों को समझने की सामग्री इस काल के साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होगी। इसे समझे बिना हम भारतवर्ष को ही ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे।[३]

आरम्भिक आधुनिक हिन्दी गद्य पर बंगला भाषा का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल के अन्त तक इन दोनों भाषाओं के मूल में इतनी दृढ़ और व्यापक जीवन दृष्टि प्रतिष्ठित है कि दोनों को एकदम अलग करके सोचा नहीं जा सकता। जो लोग भिन्न करके सोचते हैं वे इन भाषाओं को साहित्य में अभिव्यक्त रस को आधे से अधिक खो देते हैं। केवल बंगला और हिन्दी भाषाओं की ही यह कहानी नहीं हैं। उड़िया, असमिया, गुजराती, पंजाबी, मराठी आदि भारत की अन्यान्य भाषाओं में भी इसी प्रकार का अंतरावलंबन पाया जाता है।[४] मध्यकाल में बंगला और हिन्दी के साहित्य में ही नहीं, बंगला और हिन्दी भाषी प्रदेशों में बने हुए संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य में भी अद्भुत समानता और परस्परावलंबन है।[५] द्विवेदीजी ने जोर देकर कहा है कि जो लोग ... प्रान्तीय सीमाओं में बंधकर मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन का प्रयत्न करते है वे बिसमिल्ला ही बोल देते हैं।[६]

वस्तुतः ही तत्तत प्रान्तीय भाषाओं में लिखित बताया जानेवाला साहित्य किसी प्रकार दूसरे प्रदेशों में रचित साहित्य से एकदम स्वतन्त्र नहीं है। हिन्दी काव्यरूपों और भाव योजनाओं की तह तक पहुँचने के लिये उसे कभी बंगला, कभी गुजराती, कभी मराठी कभी पंजाबी का सहारा लेना पड़ता है। हमें पुराने साहित्य को एक और अविच्छेद्य समझने की महिमा को स्वीकार करना ही

१—कल्पलता : पृ० १९६। २—वही : पृ० १९७।
३—वही : पृ० १९७। ४—विचार प्रवाह : पृ० ९२।
५—वही : पृ० ९०। ६—वही : पृ० ९१।

पड़ेगा ।[1] विभेदों और वैशिष्टयों की जानकारी आवश्यक है पर प्रधान रूप से दृष्टि साम्य की ओर ही केन्द्रित होना चाहिए । तभी हम यह अनुभव कर सकेंगे कि पंजाब या गुजरात या बंगाल में लिखे जाने मात्र से कोई साहित्यक कृति सर्वभारतीय रूप में च्युत नहीं हो गई है । जब तक हम इस यथार्थ तत्व को पूर्णत: हृदयंगम नहीं कर लेते कि भारतवर्ष की विभिन्न भाषायें सभी भारतवासियों की अपनी भाषायें है और समूचा साहित्य भारतवर्ष का अपना साहित्य है, तब तक हम राष्ट्रीय व्यवहार के लिए एक भाषा स्वीकार करने के प्रश्न पर दुविधा और हिचक अनुभव करते रहेंगे और यदि किसी प्रकार स्वीकार भी कर लिया तो समान गौरव बोध के अभाव के कारण यथोचित उत्साह और प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकेंगे ।

जहाँ तक इन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिता का प्रश्न उठता है, द्विवेदी जी का कहना है कि कोई भी प्रान्तीय साहित्य स्वतन्त्र रचना के रूप में नहीं उनमें परस्पर सापेक्षिता है । हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य कालविधाता के हाथों सी दिया गया है कि उसे प्रान्तीय सीमाओं में बाँधकर सोचा ही नहीं जा सकता । उसका एक टांका काशी में मिल गया तो दूसरा बंगाल में, तीसरा उड़ीसा में, और चौथा महाराष्ट्र में मिलेगा और पांचवां मलावार या सिलोन में मिल जाय तो आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है ।[2]

प्राचीन साहित्य की समीक्षा

संस्कृत साहित्य बहुत पुराना साहित्य है । द्विवेदी जी का सम्बन्ध में कहना है कि "संस्कृत का साहित्य वह उच्च गिरिश्रृङ्ग है, जिस पर चढ़कर मनुष्य काल के सुदीर्घ स्रोत को बड़ी दूर तक देख सकता है । इस महानद के तट पर मनुष्य के उत्थान और पतन के अनेक चिह्न दिखाई देते हैं । जैसे नदी की प्रत्येक बूंद एक दूसरे को ठेलकर अविराम प्रवाह पैदा करती है...... वैसे ही मनुष्य जाति के अनेक व्यक्ति और व्यक्तिपुञ्ज इस मानव प्रवाह को निरन्तर आगे ठेलते हुए गए हैं । संस्कृत का साहित्य हमें बताता है कि विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, समृद्धि और धनाढ्यता फेन बुद्बुद् के समान कालस्रोत में उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है, साम्राज्य और धर्मराज्य उठते हैं और गिर जाते हैं, परन्तु मनुष्य फिर भी बचा रहता है । शताब्दियों

की यात्रा से यह क्लान्त नहीं होता। चलना और आगे बढ़ना उसका स्वाभाविक धर्म है। इतिहास विधाता की अज्ञात योजना का ठीक-ठीक स्वरूप हम नहीं जानते, पर संस्कृत का साहित्य उच्च स्वर से पुकार कर कहता है कि वह योजना मंगल की ओर अग्रसर हो रही है। युद्ध और विग्रह केवल उस जय यात्रा में क्षणिक विक्षोभ भले ही पैदा कर दें, परन्तु उस मंगल यात्रा को रोक नहीं सकते।[1] उनका कहना है कि संसार में इतने दीर्घकाल तक बनने वाला और इतने विशाल जनसमूह को आन्दोलित करने वाला शायद दूसरा साहित्य नहीं है।[2] संस्कृत साहित्य इतना विशाल है कि उसके समूचे रूप को ध्यान में रखकर कोई उत्तर देना आसान नहीं।[3] लगभग छः हजार वर्षों से पन्द्रह लाख वर्गमील में बसे हुए करोड़ों मनुष्यों ने कई पीढ़ियों से इस साहित्य का सर्जन किया है और आज भी यह क्रिया बन्द नहीं हुई है।[4] संस्कृत साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरन्तर प्रवहमान मानवचिन्तन का विराट स्त्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ एक सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं।[5]

इसी संस्कृत के अनेक उपाख्यानों से विदेशी विद्वान मुग्ध होकर अनुवाद भी कर चुके हैं जो यद्यपि मूल कथा से सम्बद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ श्री एफ० वप्प जैसे मर्मज्ञ विद्वान ने आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले नल दमयन्ती के उपाख्यान की इस महिमा को अनुभव किया था ऐसी कहानियाँ महाभारत में बहुत हैं। सावित्री सत्यवान् के आख्यान के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध जर्मन पण्डित श्री विन्टरनित्स ने लिखा था कि 'चाहे जिस किसी ने सावित्री के काव्य की रचना की हो, चाहे वह कोई क्षुद्र हो या ब्राह्मण, वह अवश्यमेव सब कालों का सर्वोच्च कवि था, कोई महाकवि ही इस उत्कृष्ट महिला चरित्र को इतने मनमोहक एवं आकर्षक ढंग से चित्रित कर सकता था और शुष्क उपदेश की मनोवृत्ति में पड़े बिना भाग्य और मृत्यु पर प्रेम तथा पातिव्रत्य की विजय दिखला सकता था और प्रतिभाशाली कलाकार की जादू की तरह ऐसे आश्चर्यजनक चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित कर सकता था।[6] इस प्रकार इस कहानी का सम्बन्ध भी मूल कहानी से नहीं है, पर मूल कहानी भी भारतवर्ष

१– अशोक के फूल: पृ० १०१।
२– वही: पृ० ६५।
३– वही: पृ० ६५।
४– वही: पृ० ६५।
५– वही: पृ० ६८।
६– विचार प्रवाह: पृ० ३।

के और बाहर के सहृदयों और कवियों को शताब्दियों से प्रभावित करती रही है।

यद्यपि महाभारत एक हाथ की रचना नहीं फिर भी उसमें सम्पूर्ण युग का व्यक्तित्व बहुत स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है। महाभारत वीरपात्रों एवं उज्जवल चरित्रों का विशाल वन है। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी का कहना है कि संसार साहित्य में शायद ही कोई ऐसा दूसरा ग्रन्थ हो जो महाभारत की तुलना में रखा जा सके। वह अपने युग के शक्तिशाली व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है और आगे आने वाले काल को प्रेरणा देता है।[१]

रामायण के सम्बन्ध में द्विवेदी का यह कहना है कि ऋषि कवि के हृदय का पुञ्जीभूत शोक ही रामायण काव्य है। करुणा का ऐसा विशाल और महान् मोहक और ऐसा प्रभावशाली काल दूसरा नहीं लिखा गया।[२] भारतीय साहित्य के आधे से अधिक हिस्से को इसी पवित्र महाकाव्य ने प्रेरित किया है।[३] भारत के ही नहीं विदेशी विद्वान ने भी रामायण के पात्रों के अद्भुत चित्रण की मुक्तकन्ठ से प्रशंसा की है। शिलगल ने शायद ठीक ही कहा था कि रामायण के जीवन पात्रों की तुलना में यूरोप के क्लासिकल साहित्य के पात्र फीके पड़ जाते हैं और जब कभी बाल्मीकि प्रकृति की ओर दृष्टि डालते हैं, बल्कि उनके हृदय के सहज उल्लास से प्रकृति भावरस में स्थान करके नवीन हो उठती है।[४]

इन दोनों ने अपने परवर्ती साहित्य को बहुत प्रभावित किया है इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी के ये विचार दृष्टव्य है। 'परवर्ती भारतीय साहित्य को इन दो ग्रन्थों ने कितना प्रभावित किया है, इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि यदि समूचे भारतीय साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो अधिकांश शायद ९० प्रतिशत रचनायें इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर हुई हैं और आज भी हो रही हैं।[५]

महाभारत और रामायण के बाद भी संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे गये जैसे स्मृतिपुराण, वात्स्यायन का कामशास्त्र, कालिदास श्रीहर्ष की रचनाओं में

यद्यपि अपनी व्यक्तिगत विशेषतायें हैं भारवि और माघ की रचनाओं में बहुत उत्तम ढंग से विकसित जीवान्त मानव आदर्श पाठक को मुग्ध करते हैं पर महाभारत की जड़ें जिस गहराई मे गई है उसमे परवर्ती काव्यों की जड़ें नहीं जा सकतीं। किन्तु फिर भी उनमे प्राण है।[१]

इसके पूर्व वैदिक साहित्य का निर्माण हुआ। वैदिक साहित्य यज्ञ करने वालों के उद्देश्य से लिखा गया। रामायण और महाभारत जनता को चरितार्थ करने वाले महान् आदर्श को केन्द्र बिन्दु बनाकर लिखा गया जबकि परवर्तीकाल के काव्यों का केन्द्रबिन्दु शहरी जीवन हो गया। परवर्तीकाव्य का श्रोता वह सहृदय है जिसे छन्द और अलंकारों का अच्छा ज्ञान हो, वात्स्यायन की बताई विधियों का पूरा ज्ञान हो, नागरिक जनोचित जीवन का ठीक २ रूप मालूम हो साथ ही वह रुचिवाला व्यक्ति हो। इस रुचि का सर्वोत्तम प्रकाश कालिदास की रचनायें हैं। इनका काव्य महान् आदर्शों से अनुप्राणित है। नागरिक जीवन के विलास से इस मनोहर काव्य को खुराक मिली है। यह नागर सभ्यता की सर्वोत्तम उपज है।[२] परवर्ती काव्य मे जीवनधारा उतनी प्रबल न रह सकी। इस समय के आचार्यों ने काव्य-कौशल का, उक्तिवैचित्र्य का और रसपरिपाक का बहुत सूक्ष्म विवेचन किया पर कवि के व्यक्तित्व, अनुभूति जाग्रत करने वाले कल्पना शक्ति के उस रूप का कम विवेचन किया। इस समय के शास्त्रों को पढ़ने से कवि कौशल का अच्छा ज्ञान हो जाता है पर कवियों के भिन्न कोटि के व्यक्तित्व को समझने मे असमर्थ हो जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य के तत्वों को समझने का एक सामान्य प्रतिमान तो तैयार कर दिया पर कवि की विशेषताओं को समझने की मार्मिक दृष्टि की उतनी विवेचना नहीं की, और परवर्तीकाल के महाकाव्य अधिकाधिक रूढ़ि समर्थक और उक्ति वैचित्र्य को प्रश्रय देनेवाली मनोवृत्ति के शिकार होते गये।[३] कवि समयों, रूढ़, उपमानों, आरोपित कल्पित मूल्यों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि वे परवर्ती काव्य सामान्य जीवन की अपेक्षा रूढ़ परम्पराओं और घिसे घिसाये कलात्मक आदर्शों से अधिक प्रेरणा ले रहे थे।[४] इस समय के काव्यो में छन्दों की ऐसी परिमार्जित योजना, ध्वनियों का ऐसा सामञ्जस्य, पूर्ण संस्थापन, मानवीय मनोभावों का ऐसा स्पष्ट और ठोस चित्रण साथ ही मानवीय आदर्शों

१– विचार प्रवाह: पृ० १३। २– वही: पृ० ११।
३– वही: पृ० १२। ४– वही: पृ० १२।

का ऐसा सम्मिश्रण संसार के साहित्य में दुर्लभ है ।[1]

भारवि और माघ की रचनाओं में जो मानव आदर्श मिलते हैं वह वास्तव में पाठक को मुग्ध कर देते है । भारवि की रचनाओं में वाग्पाटव के साथ ही साथ समृद्ध राज व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक कूटबुद्धि का कौशल अभिव्यक्त हुआ है ।[2] इन काव्यों मे मनुष्यों की महान् आदर्शों की उपेक्षा नहीं हुई परन्तु मनुष्य की पुरुषोचित सहज आदिम वृत्तियाँ स्वस्थ रूप में प्रकट हुई है और स्थान स्थान पर उनका स्वर बहुत प्रबल हो गया है ।[3] वैसे तो लोक भाषा के काव्य बराबर ही संस्कृत के महाकवियों को प्रेरणा भी देते रहे होंगे पर ग्यारहवीं बाहरवीं शताब्दी में लौकिक संस्कृत के महाकाव्यों का वातावरण साधारण जीवन से दूर हट गया था । प्राणशक्ति की उद्वेल धाराअब लौकिक जीवन में ही रह गयी थी । इसी ने आगे चलकर तुलसीदास के काव्य के रूप मे अपने को प्रकट किया, जिस प्रकार किसी समय नवीन प्राणधारा ने विकसित होकर कालिदास के काव्यों में आत्मप्रकाश किया था ।[4]

प्राचीन हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी द्विवेदी जी के समीक्षात्मक विचार

हिन्दी–साहित्य के प्राचीन काल पर द्विवेदी जी के अभिमत अधिकतर भाषा सम्बन्धी ही हैं । उन्होंने अपभ्रंश भाषा का अधिक गहन संयोग प्राचीन हिन्दी के साथ प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है । भाषा विवेचन के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने काव्य रूपों पर भी दृष्टिपात किया है और रासक काव्य, चरित काव्य तथा निजधारी कथाकाव्य की परम्पराओं का उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य और नाथ सम्प्रदाय के साहित्य की प्रासंगिक विवेचना की है । इन समस्त विवेचनाओं का निष्कर्ष यह है कि हिन्दी साहित्य के पूर्वकाल को हमे बीरगाथा तक सीमित नहीं कर लेना चाहिए बल्कि जैनों के चरितकाव्य और अपभ्रंश मिश्रित रासक काव्यों को भी हिन्दी साहित्य की पूर्व पीठिका के रूप मे स्वीकार करना चाहिए ।

यद्यपि अपनी व्यक्तिगत विशेषतायें हैं भारवि और माघ की रचनाओं में बहुत उत्तम ढंग से विकसित जीवान्त मानव आदर्श पाठक को मुग्ध करते हैं पर महाभारत की जड़ें जिस गहराई में गई है उसमे परवर्ती काव्यों की जड़ें नहीं जा सकतीं। किन्तु फिर भी उनमे प्राण है।[१]

इसके पूर्व वैदिक साहित्य का निर्माण हुआ। वैदिक साहित्य यज्ञ करने वालों के उद्देश्य से लिखा गया। रामायण और महाभारत जनता को चरितार्थ करने वाले महान् आदर्श को केन्द्र बिन्दु बनाकर लिखा गया जबकि परवर्तीकाल के काव्यों का केन्द्रबिन्दु शहरी जीवन हो गया। परवर्तीकाव्य का श्रोता वह सहृदय है जिसे छन्द और अलंकारों का अच्छा ज्ञान हो, वात्स्यायन की बताई विधियों का पूरा ज्ञान हो, नागरिक जनोचित जीवन का ठीक २ रूप मालूम हो साथ ही वह रुचिवाला व्यक्ति हो। इस रुचि का सर्वोत्तम प्रकाश कालिदास की रचनायें हैं। इनका काव्य महान् आदर्शों से अनुप्राणित है। नागरिक जीवन के विलास से इस मनोहर काव्य को खुराक मिली है। यह नागर सभ्यता की सर्वोत्तम उपज है।[२] परवर्ती काव्य में जीवनधारा उतनी प्रबल न रह सकी। इस समय के आचार्यों ने काव्य–कौशल का, उक्तिवैचित्र्य का और रसपरिपाक का बहुत सूक्ष्म विवेचन किया पर कवि के व्यक्तित्व, अनुभूति जाग्रत करने वाले कल्पना शक्ति के उस रूप का कम विवेचन किया। इस समय के शास्त्रों को पढ़ने से कवि कौशल का अच्छा ज्ञान हो जाता है पर कवियों के भिन्न कोटि के व्यक्तित्व को समझने मे असमर्थ हो जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य के तत्वों को समझने का एक सामान्य प्रतिमान तो तैयार कर दिया पर कवि की विशेषताओं को समझने की मार्मिक दृष्टि की उतनी विवेचना नहीं की, और परवर्तीकाल के महाकाव्य अधिकाधिक रूढ़ि समर्थक और उक्ति वैचित्र्य को प्रश्रय देनेवाली मनोवृत्ति के शिकार होते गये।[३] कवि समयों, रूढ़, उपमानों, आरोपित कल्पित मूल्यों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि वे परवर्ती काव्य सामान्य जीवन की अपेक्षा रूढ़ परम्पराओं और घिसे घिसाये कलात्मक आदर्शों से अधिक प्रेरणा ले रहे थे।[४] इस समय के काव्यों में छन्दों की ऐसी परिमार्जित योजना, ध्वनियों का ऐसा सामञ्जस्य, पूर्ण संस्थापन, मानवीय मनोभावों का ऐसा स्पष्ट और ठोस चित्रण साथ ही मानवीय आदर्शों

१– विचार प्रवाह: पृ० १३। २– वही: पृ० ११।
३– वही: पृ० १२। ४– वही: पृ० १२।

का ऐसा सम्मिश्रण संसार के साहित्य में दुर्लभ है ।[1]

भारवि और माघ की रचनाओं में जो मानव आदर्श मिलते हैं वह वास्तव में पाठक को मुग्ध कर देते है । भारवि की रचनाओं में बाग्पाटव के साथ ही साथ समृद्ध राज व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक कूटबुद्धि का कौशल अभिव्यक्त हुआ है ।[2] इन काव्यों मे मनुष्यों की महान् आदर्शों की उपेक्षा नहीं हुई परन्तु मनुष्य की पुरुषोचित सहज आदिम वृत्तियाँ स्वस्थ रूप में प्रकट हुई है और स्थान स्थान पर उनका स्वर बहुत प्रबल हो गया है ।[3] वैसे तो लोक भाषा के काव्य बराबर ही संस्कृत के महाकवियों को प्रेरणा भी देते रहे होंगे पर ग्यारहवीं बाहरवीं शताब्दी में लौकिक संस्कृत के महाकाव्यों का वातावरण साधारण जीवन से दूर हट गया था । प्राणशक्ति की उद्वेल धाराअब लौकिक जीवन में ही रह गयी थी । इसी ने आगे चलकर तुलसीदास के काव्य के रूप में अपने को प्रकट किया, जिस प्रकार किसी समय नवीन प्राणधारा ने विकसित होकर कालिदास के काव्यों में आत्मप्रकाश किया था ।[4]

प्राचीन हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी द्विवेदी जी के समीक्षात्मक विचार

हिन्दी–साहित्य के प्राचीन काल पर द्विवेदी जी के अभिमत अधिकतर भाषा सम्बन्धी ही हैं । उन्होंने अपभ्रंश भाषा का अधिक गहन संयोग प्राचीन हिन्दी के साथ प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है । भाषा विवेचन के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने काव्य रूपों पर भी दृष्टिपात किया है और रासक काव्य, चरित काव्य तथा निजधारी कथाकाव्य की परम्पराओं का उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य और नाथ सम्प्रदाय के साहित्य की प्रासंगिक विवेचना की है । इन समस्त विवेचनाओं का निष्कर्ष यह है कि हिन्दी साहित्य के पूर्वकाल को हमें बीरगाथा तक सीमित नहीं कर लेना चाहिए बल्कि जैनों के चरितकाव्य और अपभ्रंश मिश्रित रासक काव्यों को भी हिन्दी साहित्य की पूर्व पीठिका के रूप में स्वीकार करना चाहिए ।

आधार पर प्राचीन काव्य का अध्ययन करने से उसकी परम्परा का ज्ञान अधिक स्पष्ट रूप से हो सकता है। यदि हम यह देख सकें पृथ्वीराजरासों में ऐसी कथानक-रूढ़ियां मिलती है जो पूर्ववर्ती अपभ्रंश और संस्कृत की काव्यरचनाओं में भी प्राप्त होती हैं और साथ ही यदि हम यह भी दिखा सकें कि सूफी प्रेमगाथाओं में रूढ़ियाँ क्रमश: घटती गयी हैं और तुलसी के रामचरित मानस में आकर वे प्राय: समाप्त हो गयी हैं तो इस अध्ययन के आधार पर हम पृथ्वीराजरासो के मूलस्वरूप और उसकी प्रामाणिकता के विषय में थोड़े बहुत विश्वास के साथ कुछ निष्कर्ष निकाल सकेंगे। स्वयं द्विवेदी जी ने कथानक रूढ़ियों के निर्देश की पद्धति को अपनाकर पृथ्वीराजरासो के निर्माण काल के सम्बन्ध में तथा उसके आदि रूप के विषय में कुछ अनुमानित निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर अधिकाधिक विचार करने की आवश्यकता है। जहाँ तक द्विवेदी जी की समीक्षात्मक विचारणा का प्रश्न है उनकी यह विचारणा भाषा और साहित्य के ऐतिहासिक पक्षों पर आधारित है। यहाँ द्विवेदी जी एक ऐतिहासिक समीक्षक और शोधकर्त्ता के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

रासों काव्य के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कवि-विद्यापति के काव्य का भी अगत: स्पष्टीकरण किया है। विद्यापति शैव थे या वैष्णव, भक्त थे या श्रृंगारी इन प्रश्नों को उठाकर द्विवेदी जी ने युगीन संस्कृति की भूमिका पर उनके काव्य स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनका यह विवेचन भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के निदर्शन पर आश्रित है।

कबीर के सम्बन्ध में तो द्विवेदी जी ने एक स्वतन्त्र पुस्तक ही लिखी है। जिसमें कबीर के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए विशेषत: लोकजीवन की भूमिका पर उन्होंने कबीर का महत्व प्रतिपादन किया है। द्विवेदी जी की समीक्षा दृष्टि किस प्रकार इतिहास, संस्कृति और साहित्य को सामाजिक विकास की अविछिन्नधारा के रूप में ग्रहण करती है इसका प्रमाण उनकी पुस्तक से मिलता है। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कबीर के काव्य के सम्बन्ध में शंकायें प्रकट की जा सकती है परन्तु जहाँ तक कवि के व्यक्तित्व और उसकी प्रगतिशील दृष्टि का 'सम्बन्ध है द्विवेदी जी ने उसे अच्छी तरह पकड़ा है। और उस आधार पर कबीर के काव्य के ऐतिहासिक महत्व को प्रकाश में ला रखा है। काव्य और साहित्य को द्विवेदी जी मानव व्यक्तित्व के उन्नयन का साधन मानते हैं। इसीलिये उनकी साहित्यिक दृष्टि, कलामूलक दृष्टि नहीं बन सकी है। कलामूलक ही क्या साहित्यिक क्षेत्र में जिसको रस और अलंकार का क्षेत्र कहते

हैं उसकी ओर भी द्विवेदी जी की विशेष प्रवृत्ति नहीं है। इस नयी समीक्षा दृष्टि का विकार उनके कबीर शीर्षक समीक्षात्मक ग्रंथ में पाया जाता है।

सूरदास के काव्य के सम्बन्ध में भी द्विवेदी जी की एक पुस्तक उपलब्ध है। यह द्विवेदी जी की एक आरम्भिक समीक्षा पुस्तक होने के कारण उतनी विवेचनात्मक नहीं है जितनी भावात्मक है। आचार्य शुक्ल के भ्रमरगीतसार की भूमिका में हम जिस प्रकार का बौद्धिक और शास्त्रीय विवेचन पाते हैं उससे भिन्न द्विवेदी जी की पुस्तक में सूरदास के काव्य सौन्दर्य की सहज झांकियाँ देख सकते हैं। काव्य के सौन्दर्य को परखने के लिये द्विवेदी जी ने इस पुस्तक में प्रभावाभिव्यंजक शैली को अपनाया है वे एक सहृदय बनकर सूरकाव्य को देखते हैं और जिस प्रकार प्रभावित होते जाते हैं उसे भावात्मक शैली से प्रकट करते जाते हैं। समीक्षा की यह दृष्टि साहित्य में बड़ी उपयोगी होती है। यदि समीक्षक सहृदय है, और अध्ययनशील या अधीर है तो उसकी प्रतिक्रियायें साहित्य सौन्दर्य के नए द्वारों का उद्घाटन कर सकती हैं। सूरदास पर लिखी गई द्विवेदी जी की समीक्षा पुस्तक इसी विषयी प्रधान या Subjective शैली में प्रस्तुत हुई है।

आधुनिक साहित्य सम्बन्धी समीक्षायें

आधुनिक साहित्य सम्बन्धी द्विवेदी जी की विभिन्न समीक्षायें कई भागों में बांट कर देखी जा सकती हैं। उनके आधुनिक सम्बन्धी समग्र विचार उनके हिन्दी साहित्य नामक इतिहास ग्रन्थ में आ गए हैं जिसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। इस विषय की उनकी अन्य पुस्तकें विचार और वितर्क, विचार प्रवाह, कल्पलता, हमारी साहित्यिक समस्यायें, आदि पुस्तकें हैं जो अधिकांश निबन्ध-संग्रह कही जा सकती हैं। ये निबन्ध भिन्न भिन्न समयों पर लिखे गए हैं। इन निबन्धों को पढ़ने पर ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ साहित्य के सिद्धान्तों संबन्धी जिन पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं उनके कुछ अन्य निबन्ध सामयिक साहित्यादर्श को लेकर लिखे गए है। और एक प्रकार के वे भी वैचारिक आधार रखते हैं कुछ निबन्ध भाषा सम्बन्धी भी हैं। आधुनिक साहित्य की वास्तविक समीक्षा को लेकर थोड़े ही निबन्ध मिल पाते हैं इनमें से साहित्य का नया रास्ता नया साहित्यिक दृष्टिकोण, (हमारी साहित्यिक समस्यायें) साहित्य का नया कदम, महिलाओं की लिखीं कहानियाँ (कल्पलता) साहित्य की नयी मान्यतायें (विचार प्रवाह) द्विवेदी जी की 'देन' प्रसाद की कामायनी, प्रेमचन्द का महत्व

आदि मुख्य है। चूंकि द्विवेदीजी का ध्यान साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा या तो साहित्य के विचार पक्ष की ओर या उसकी ऐतिहासिक रूपरेखा की ओर अधिक रहा है इसलिए उनकी ये समीक्षात्मक निबन्ध प्रकीणक ही कहे जायेंगे। विचार और वितर्क पुस्तक में जो सन् १९४५ में प्रकाशित हुई थी द्विवेदीजी के आधुनिक साहित्य सम्बन्धी तीन चार निबन्ध मिलते हैं। इनमें से एक निबन्ध प्रेमचन्द के महत्व पर है। इस निबन्ध के आरम्भ में द्विवेदीजी ने नये साहित्य के कुछ प्रतिमान रखे हैं जिनमें से पहला विचारों और वक्तव्य वस्तु की ताजगी, दूसरी आवश्यक बात जिसकी ओर द्विवेदीजी ने संकेत किया है जातीय गुण और दोषों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करना। जो कुछ लिखा जा चुका है, जो सामान्य दृष्टिकोण है, उससे कुछ नवीन दिया गया है या नहीं और वह नवीन ईमानदारी का ज्ञापक है या नहीं, द्विवेदीजी की दो कसौटियाँ हैं। तीसरी आवश्यक बात द्विवेदीजी साहित्य को लेखक के व्यक्तित्व का परिचायक मानते हैं। यह जानकारी केवल मनुष्यता के नाते ही नहीं, लेखक ने जो कुछ लिखा है आत्मानुभव से लिखा है या नहीं, इस अभिज्ञता के लिए भी आवश्यक है। इन कसौटियों की स्थापना करने के पश्चात् द्विवेदीजी ने प्रेमचन्द जी के साहित्य को अवमानत और निष्पेक्षित कृषकों की आवाज बताया है। मेड़ों पर गाते हुए किसान की, अन्तःपुर में मान किए प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्यापरायण प्रोफेसरों को, दुर्बल हृदय बैंकरों को, साहस परायण चमारिन को ढोंगी पण्डित को फरेबी पटवारी को नीचाशय अमीर को, अपने वास्तविक अनुभव के आधार पर चित्रित किया है। यह प्रेमचन्द जी के विशाल अनुभव का द्योतक है।

यह विशाल चित्रण करते हुए भी प्रेमचन्द जी की निजी सहानुभूति अशिक्षित और निर्धन के प्रति है। यह तथ्य भी प्रेमचन्द जी को आधुनिक सामाजिक जीवन के अध्ययन से प्राप्त हुआ था। यही प्रेमचन्द जी का आदर्श है। उनको इतना अवकाश नहीं कि वे भूत की चिन्ता करें। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद जी के साहित्य में प्रेम और विश्वास के आदर्श भी गहराई से अंकित किए गए हैं। द्विवेदीजी यह भी कहते हैं प्रेमचन्द जी से किसी नयी उद्भावना या नवीन जीवनदर्शन की आशा नहीं की जा सकती। वे अपने समय की समस्याओं में पूरी तरह तल्लीन हैं कि उन्हें किसी नये तथ्य की खोज की फुरसत नहीं। प्रेमचन्द जी में सामयिक राजनीति का अमिट प्रभाव है। आदर्श के रूप में उन्होंने पहले गांधीवाद और बाद को समाजवाद के सिद्धान्तों से राष्ट्र की बुनियादी समस्याओं

का समाधान किया।

प्रेमचन्द जी के पात्र वर्गों और श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसका यह आशय नहीं कि आजकल के class conscious लेखकों की भांति प्रेमचन्द जी वर्गवादी लेखक हैं। बल्कि प्रेमचन्द के ध्यान में विभिन्न वादों की अच्छाइयाँ और बुराइयां दोनों ही प्रतिबिंबित हुई हैं। अपने अन्तिम समय में प्रेमचन्द जी ने इस तटस्थ दृष्टि को छोड़कर वर्गसंघर्ष के आर्थिक पक्ष को प्रधानता दी है यह द्विवेदीजी का मत है। अन्त में द्विवेदीजी कहते हैं कि भले ही प्रेमचन्द ने वर्गसंघर्ष के आर्थिक पक्ष को अपने अन्तिम समय की रचनाओं में प्रमुखता दी हो, परन्तु वे जीवन की सफलता, संघर्ष में न मानकर त्याग में मानते हैं, सेवा और त्याग प्रेमचंद के साहित्य से केंद्रीय तत्व हैं। द्विवेदीजी के निबन्ध के अन्तिम अंशों में यह बताया गया है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में आधुनिक भारतीय समाज का पूरा रेखाचित्र मिलता है। यही नहीं हमारी समस्त जाति का इस युग का इतिहास प्राप्त होता है। इसके साथ ही द्विवेदीजी ने सरल और जोरदार हिन्दी लेखक के रूप में प्रेमचन्द को तुलसीदास भारतेन्दु हरिश्चंद्र की श्रेणी में रखा है।

'प्रसाद' जी की 'कामायनी' निबन्ध में द्विवेदीजी ने कामायनी का संक्षिप्त कथानक देकर बीच बीच में छोटी छोटी टिप्पणियां दी हैं। इसके पश्चात् उन्होंने प्रसाद जी के विशाल अध्ययन की चर्चा की है। निबन्ध के अन्त में वे यह निष्कर्ष देते हैं कि प्रसाद जी का कवि कामायनी में कवि जीवन को दूर से देखता है। यहीं उन्होंने दो प्रकार के दर्जियों की कल्पना की हैं। जिनमें से एक शरीर के ऊबड़ खाबड़ अवयवों की, नजदीक जाकर धैर्यपूर्वक परीक्षा करता है और प्रत्येक अंग में बैठने लायक सुन्दर कुर्ता तैयार कर देता है, और एक दूसरा दर्जी कम परिश्रम और ज्यादा कल्पना करके एक लम्बा चौड़ा झूल तैयार कर देता है, जो प्रत्येक आदमी को ढंक सकता है। उनके मत में कामायनी का कवि दूसरी श्रेणी का है इसके साथ ही द्विवेदीजी यह भी कहते हैं कि कल्पना की प्रमुखता होते हुए भी कामायनी का कवि कल्पना के इन्द्रजाल में पाठकों को बतलाता या फंसाता नहीं है। उनका मत है कि कामायनी की दुनिया Philosopher की दुनिया है जिसमें सभी समस्याओं के तह तक पहुँचने की कोशिश तो है पर इसी कोशिश के कारण समस्याओं की अपील जोरदार न हो सकी।

तृतीय निबन्ध द्विवेदी जी की देन शैली शीर्षक निबन्ध में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की शैली निर्माण की विशेषता पर प्रकाश डाला गया है।

द्विवेदी जी के मत में आचार्य महावीर प्रसाद एक अवतारी पुरुष थे। जिन्होंने नया कुछ भी नहीं लिखा परन्तु समस्त लेखकों को प्रकाशन भंगिमा को शैली को एकदम नयारूप दे दिया है। द्विवेदी जी का निष्कर्ष यह है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी में आज के युग की छीना झपटी का भाव न था। वे दूसरों की वस्तु को नया चोला देकर अपनाते नहीं थे। वे ज्ञान को प्रचार की पूजा बुद्धि से देखते थे जैसे कोई किसी मन्दिर की सफाई में लगा हो वैसे ही द्विवेदी जी साहित्य मन्दिर के परिष्कारक थे। वे कूड़ाकर्कट या गलीज को साहित्य के मंदिर में देखना नहीं चाहते थे।

द्विवेदी जी ने प्राचीन और नवीन का प्रौढ़ सामञ्जस्य दिखाया है। वे एक और अतीत की ज्ञानराशि को सरल निबन्धों में लिखकर प्रसारित करते हैं ओर दूसरी ओर नये युग के नये प्राणों के स्पन्दन को उसे परिपूरित कर देते हैं। द्विवेदी जी का अभिमत है आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी क्या के बल पर खड़े नहीं है कैसे के बल पर खड़े हैं। अर्थात् उनका मुख्य उद्देश्य एक स्वच्छ शैली का विन्यास करना रहा है।

दूसरी निबन्ध पुस्तक कल्पलता में द्विवेदी जी ने आधुनिक साहित्य पर 'साहित्य का नया कदम और महिलाओं की लिखी कहानियाँ शीर्षक दो निबन्ध लिखे हैं। 'साहित्य का नया कदम' में द्विवेदी जी ने एक नाटकीय संवादात्मक सांचा अपनाया है। जो लोग प्राचीन साहित्य को आधुनिक उपयोग का नहीं मानते या जो नये साहित्य को छिछला और बेकार समझते हैं दोनों के बीच की खाई को किस प्रकार पाटा जाय इस पर विचार किया गया है। द्विवेदी जी का मुख्य वक्तव्य यह है कि प्राचीन कलाकारों में भी ऐसी काव्य रचनायें और मार्मिक उक्तियाँ और दृष्टिकोण मिलते हैं जो आज के नये से नये लेखक के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। और इसी प्रकार नये साहित्य में जीवन संबंधी ऐसे चित्र मिलते हैं जो एक दम नये नहीं हैं पुराने चित्रों का रूपान्तर मात्र हैं। इस प्रकार द्विवेदी जी ने साहित्य के एक अविच्छिन्न परम्परा की स्थापना की है। जो नए समीक्षक या लेखक नये नये वादों की बात करते हैं, सामन्तीय सभ्यता, पूंजीवादी सभ्यता, श्रमजीवी सभ्यता आदि के नारे लगाते हैं और साहित्य का सम्बन्ध इन विभिन्न सभ्यताओं से जोड़ते हैं, उनकी यह दृष्टि एकांगी है। वास्तव में मनुष्य और मानव जीवन की मूल भूमिकायें बहुत कुछ समरस रही हैं और कवियों का कार्य ऐसे माया लोक की सृष्टि करना है जिससे युगों की संकीर्णता और युगीन परिधियां टूट जांय और अनन्तकाल तक साहित्य सहृदयों को आह्लाद देता रहेगा।

महिलाओं की लिखी कहानियाँ निबन्ध में द्विवेदीजी ने कदाचित् एक 'रेडियो टाक के अन्तर्गत कुछ स्फुट कहानी लेखिकाओं का उल्लेख किया है। यद्यपि द्विवेदीजी के सभी निबन्धों में समीक्षा और विश्लेषण के तत्व मिल जाते है परन्तु इस निबन्ध में सुभद्राकुमारी चौहान, कमलादेवी, होमवतीदेवी, आदि की कहानियों का स्फुट विवेचन किया गया है। द्विवेदी जी का अभिमत है कि नारी कहानीकार कतिपय जीवन प्रश्नों पर जिस स्वाभाविकता के साथ विचार कर सकती हैं उस स्वाभाविकता से पुरुष 'लेखक नहीं कर सकते। इन कहानी लेखिकाओं का लक्ष्य द्विवेदीजी के मत में रूढ़ि समर्पित, आदर्श स्त्री और व्यक्ति, स्वाधीनता से प्रभावित आधुनिक स्त्री का द्वन्द्व दिखाया है। द्विवेदीजी का कथन है कि आधुनिक कहानी लेखिकायें स्वाधीनता की माँग तो करती हैं परन्तु उस स्वाधीनता में लापरवाही या उच्छृङ्खलता नहीं है वे वर्तमान की परिस्थितियों के साथ समाज का सामञ्जस्य चाहती हैं।

'हमारी साहित्यिक समस्यायें' द्विवेदी जी की तीसरी निबन्ध पुस्तक है। जिसमें साहित्य का नया रास्ता शीर्षक निबन्ध आधुनिक साहित्य से सम्बन्धित है। साहित्य का नया रास्ता निबन्ध साहित्य का नया कदम निबन्ध से, जो ऊपर विवेचित हो चुका है बहुत कुछ मिलता जुलता है। इस निबन्ध में द्विवेदीजी ने आधुनिक तरुण लेखकों को नसीहत दी है कि वे किसी वाद विशेष के घेरे में न घिर जाँय बल्कि अनेकमत मतान्तरों से परिचित होकर जीवन के वास्तविक अनुभव से लाभान्वित हों उनका विचार है कि ज्ञान सौंदर्य और कल्याण के अस्थायी और परिवर्तनशील रूप के साथ उनके स्थायी और शाश्वत रूप को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार इस निबन्ध में साहित्य के स्थायित्व और उसकी परिवर्तनशीलता की मध्यवर्ती भूमियों पर प्रकाश डाला गया है।

नया साहित्यिक दृष्टिकोण निबन्ध में द्विवेदी जी ने साहित्य की बढ़ती हुई वैयक्तिकता पर दृष्टिपात किया है। वैयक्तिकता की ये धारा छायावादी काव्य में दिखाई देती है और दूसरी धारा उस नये काव्य में परिलक्षित होती है जो अनासक्त भाव से जगत को देखना चाहता है। परन्तु इन दोनों दृष्टियों को व्यक्तिवादी मानकर और उन्हें यूरोपियन संसर्ग का परिणाम बताया है।

'साहित्य की नयी मान्यतायें, विचार प्रवाह में संकलित साहित्य की नयी मान्यतायें शीषर्क निबन्ध वैचारिक समीक्षा के क्षेत्र में जाता है। परन्तु नये साहित्य से सम्बन्धित होने के कारण इनकी चर्चा यहाँ भी की जाती

है। इस निबन्ध मे द्विवेदी जी ने प्राचीन साहित्य परम्पराओं से निकल कर आने वाले नये साहित्यक दृष्टिकोण का विवरण दिया है जिस प्रकार यूरोप में शेक्सपियर के आने पर साहित्य के पुराने आदर्श बदल रहे थे उसी प्रकार भारतवर्ष में भी परिवर्तन हो रहे है पुराने नाटकों मे चारित्र्य द्वन्द्व का दिखाया जाना उचित नहीं माना जाता। अतएव पुराने समीक्षक उस द्वन्द्व में या तो अंग अंगी सम्बन्ध बता देते थे या फिर ऐसे द्वंद्वात्मक चित्रणों को अनपेक्षित बताते थे परन्तु मानवीय वास्तविकता जब इस बात को स्वीकार करने लगी कि मनुष्य के मानस में ऐसे द्वंद्व होते हैं और हो सकते है तब ट्रेजेडी की नयी कल्पना पश्चिम में बनी। जिसमें द्वंद्वात्मक चित्रण को उपादेय ही नहीं नाटक के लिए उत्कर्ष बर्द्धक भी बताया गया है। उसी प्रकार हमारे देश में भी नये अनुभवों से समाज में नवीन विकासों से नयी साहित्यक दृष्टियों एवं आदर्शों का उन्मेष हो रहा है।

इस निबन्ध के अन्त में द्विवेदी जी ने यह निर्देश किया है कि साहित्य चूंकि मानव के लिए है, साहित्य ही की समस्त सृष्टि मानव सापेक्ष्य है, इसलिए मानवीय परिस्थितियों के विकास के साथ साहित्यक मान्यताओं में भी विकास होना अवश्यंभावी है। मानव केन्द्र की इस आदर्श को द्विवेदी जी दो रूप में देखते है। एक व्यक्ति केन्द्रित मानवादर्श दूसरा समूह केन्द्रित मानवादर्श यद्यपि द्विवेदी जी दोनों को आदर्श मानते हैं परन्तु अन्ततः वे ये कहते है विकासवान सामूहिक मानवादर्श वैयक्तिक मानवादर्श से उच्चतर है। इस प्रकार द्विवेदी जी दोनों को आदर्श मानते हैं परन्तु अन्ततः वे ये कहते हैं कि विकासवान सामूहिक मानवादर्श वैयक्तिक मानवादर्श से उच्चतर है। इस प्रकार द्विवेदी जी साहित्य की प्रगतिशील विचारणा के पक्षपाती सिद्ध होते हैं और उन्होने साहित्य की नयी मान्यताओं में प्रगतिशील मान्यता को शीर्षस्थान दिया है।

४

शोधकर्त्ता द्विवेदी

शोध का स्वरूप

हिन्दी का शोध अभी अल्पवयस्क है इसकी परम्परा अब तक निर्मित नहीं हुई और न इसमें प्रौढ़ता आई है। सच पूछा जाय तो अभी शोध शब्द का अर्थ भी स्पष्ट नहीं हुआ। उसका स्वरूप उसकी व्याप्त और उसके लक्ष्य भी बहुत कुछ अतिरिक्त बने हुए हैं। विश्वविद्यालयों तक में शोध शब्द का यह अर्थ लिया जाता है कि ज्ञान का विस्तार किया जाय अथवा उपलब्ध ज्ञान की नई व्याख्या की जाय तथा शोध कार्य की शैली सुव्यवस्थित हो। परन्तु इतने से शोध सम्बन्धी धारणा स्पष्ट नहीं होती। अज्ञात कवि की कोई कृति प्रकाश में आ गई और उस पर कुछ विवरण विवेचन कर दिया गया तो उसे भी शोध समझ लिया जाता है। कभी किसी प्राचीन विवेचन को नवीन आकार प्रकार दे देने पर ही शोध की पूर्ति मान ली जाती है। अनेक बार किसी युग की काव्य प्रवृत्तियों का संग्रह या आकलन कर देना भी शोध कहलाने लगता है। कवि विशेष या लेखक विशेष की कृतियों का संकलित विवेचन भी शोध में परिगणित होता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी का यह मत है 'शोध में केवल आकलन और विवेचन ही नहीं, नई दृष्टि और नये ज्ञान का योग भी आवश्यक है' कभी कभी नई दृष्टि और नये ज्ञान के रहते हुए भी कोई कार्य शोध नहीं बन पाता। उसे पुस्तक का सामान्य स्वरूप ही मिलता है। उनके शब्दों में शोध कार्य अधिक नियम और प्रणालीबद्ध होता है। शोध में प्राचीन साक्ष्य और प्रमाण अधिक मात्रा में दिए जाते हैं। शोध में अधिक परमुखापेक्षिता रहती है। शोध का महत्व विषय को उपस्थापित करते हुए उसमें नवीन ज्ञान का प्रवेश और स्थापना करने में है।

शोध और समीक्षा का अन्तर

शोध ओर समीक्षा दो पृथक् शब्द हैं। दोनों के अर्थों में भिन्नता है। शोध में किसी अज्ञात तथ्य को प्रकाश में लाने और प्रतिष्ठित करने का आशय निहित रहता है। शोध में बिखरे हुए तथ्यों का संयोजन और समाहार भी किया जाता है। शोध के लिए उस समस्त सामग्री का संग्रह और संग्रथन आवश्यक है जो उस वस्तु या विषय से सम्बन्धित है और उसके आधार पर वस्तुमूलक स्थापनायें की जाती है और निर्णय दिये जाते हैं। शोध में विषय से सम्बन्धित पूर्ववर्ती वक्तव्य भी दिए जाते हैं तथा उनके आधार पर नया अभिमत व्यक्त किया जाता हैं। शोध में तर्क सम्मत प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है, तभी किसी नये निष्कर्ष का उपन्यास किया का सकता है। फिर उस निष्कर्ष का मुक्त करने के लिए विरोधी अभिमतों का खण्डन और निराकरण कर नये निर्णय की प्रतिष्ठा की जाती है। जब कि समीक्षा या आलोचना में किसी अज्ञात या अनुपलब्ध वस्तु की खोज की आवश्यकता नहीं होती। वह एक सुस्पष्ट और प्राय: सुप्रसिद्ध कृति के सम्बन्ध में दिया हुआ वैचारिक अभिमत होता है। समीक्षा में समीक्षक की अपनी दृष्टि और विचार भी प्रमुख रूप से आते है और उसमें समीक्षक की अपनी धारणाओं का प्राधान्य होता है। किसी कृति विशेष के सम्बन्ध में व्यक्त किए गए सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित विचार ही समीक्षा है। उन विचारों के आधार पर कभी किसी सिद्धान्त का भी निरूपण और संस्थापन हो सकता है। नयी समीक्षा दृष्टि या शैली का विन्यास होता है। परन्तु उस प्रकार के विन्यास में लेखक की अपनी अभिरुचियां ओर संस्कार ही अधिक मात्रा में रहते हैं। इसीलिए समीक्षा अधिक व्यक्तिपरक वस्तु होती है, जब कि शोध में व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता।

शोध के आधार पर जिन तथ्यों और निर्णयों की स्थापना होती है वे जनसमाज और उसकी क्रमागत ज्ञान भूमिका के लिये नये होते हैं। उनसे किसी का पूर्व परिचय नहीं हुआ रहता। पर समीक्षा के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। समीक्षा जिस कृति या वस्तु की की जाती है उसे अध्येता समाज पहले से ही जानता रहता है। उसके सम्बन्ध में उसका अपना मत तो रहता ही है अन्य अनेक समीक्षकों के अभिमत भी रह सकते हैं। अतएव उस समीक्षा विशेष से उस अध्येता समुदाय को एक नयी दृष्टि का परिचय मिल सकता है, किसी नवीन ज्ञान का नहीं। समीक्षा या आलोचना सामाजिक जीवन की बौद्धिक और कलात्मक अभिरुचियों का नित्य नया विन्यास कही जा सकती है। परन्तु शोध से विस्तृत तथ्य और निष्कर्ष एक अभिनव विचारधारा का निर्माण करते

हैं और नये ज्ञान की सृष्टि में सहायक होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शोध का सम्बन्ध नये तथ्य और सत्य के उद्घाटन से है, जब कि समीक्षा का सम्बन्ध प्रचलित धारणाओं और विचारों के उपबृंहण और विकास से है।

शोध का लक्ष्य सत्योन्मुखी और आविष्कार मूलक है तथा वह अधिक इतिवृत्तात्मक वस्तु है, जबकि समीक्षा का लक्ष्य हमारी सांस्कृतिक और कलात्मक चेतना को व्यवस्था और विस्तार देने में है तथा समसामयिक साहित्यिक दृष्टिकोण के सुनियोजन में है। अतएव वह अधिक लोकाभिमुख, व्यावहारिक और विनिमेय वस्तु है। समीक्षा में व्यक्तिपरकता के लिये समीक्षक की वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं के लिये अधिक स्थान हैं, जब कि शोध में वैयक्तिक शैलियों के निर्माण की गुन्जाइश नहीं होती। आलोचना या समीक्षा समाज के सार्वजनिक जीवन में अधिक सक्रिय अधिक लोकप्रिय और अधिक प्रेरणाप्रद होकर युगीन जीवन में क्रियाशील होती है, जब कि शोध प्राय: विशिष्ट जनों का ध्यान ही आकृष्ट करता है और पुस्तकालयों में ऐमी निधि के रूप में सुरक्षित रहता है, जिसका उपयोग विशिष्ट पंडित मण्डली ही करती है। सामान्य रूप से हम देखते हैं कि समीक्षा की पुस्तकें शोधग्रन्थों की अपेक्षा नहीं अधिक पढ़ी जाती है और अधिक दैनिक चर्चा का विषय बनती हैं। समीक्षा या आलोचना तात्कालिक प्रभाव में शोध की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त पदार्थ है परन्तु शोध का परिणाम अधिक मौलिक और स्थायी हुआ करता है।

हिन्दी में शोधकार्य की परम्परा

हिन्दी का अधुनिक शोधकार्य भाषा के क्षेत्र में डा० ग्रियर्सन द्वारा आरम्भ हुआ था। साहित्य के क्षेत्र में भी शिवसिंह सेंगर के पश्चात् उन्हीं का नाम परिगणित किया जा सकता है। उस आरम्भिक स्थित में साहित्यिक शोध कतिपय कवियों की सामान्य जीवनी और उनकी रचनाओं में नामोल्लेख के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। डा० ग्रियर्सन के भाषा संबन्धी शोधकार्य अधिक प्रौढ़ हैं और हिन्दी के भाषा सम्बन्धी शोधविकास में उनका नाम सदैव स्मरणीय है। इस क्षेत्र के अधिकांश शोधकर्त्ता ग्रियर्सन की स्थापनाओं को स्वीकार करते हैं और उन्हीं का उन्नयन एवं पल्लवन किया है। इस क्षेत्र में काम करने वाले लेखकों में डा० वीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी तथा उन्हीं के समकक्ष कतिपय अन्य विद्वानों के नाम लिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा को लेकर भी विस्तृत शोधकार्य हुआ है। प्राकृत पैंगलम्

हेमचन्द्र के व्याकरण, संदेशरासक आदि ग्रन्थों का आधार लेकर अपभ्रंश सम्बन्धी शोधकार्य होता रहा है। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने भी इस भाषाकाल सम्बन्धी शोधकार्य को आगे बढ़ाया है। 'बौद्धदूहा ओ गान' के संबन्ध में डा० हरप्रसाद शास्त्री की स्थापनाओं का खण्डन भी राहुल जी ने अनेक अंशों में किया है। कुछ ही वर्ष पूर्व डा० हेमचन्द्र जोशी ने प्राचीन हेमचन्द्र के व्याकरण का अनुवाद करके भाषासम्बन्धी अध्ययन को एक भूमिका प्रदान की है। पुरानी हिन्दी पर चंद्रधर शर्मा गुलेरी, मोतीलाल मेनारिया और स्वयं हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का कार्य उल्लेखनीय है हिन्दी भाषा के व्यापक विकास को लेकर डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि के शोध कार्य भी विशेष महत्व रखते हैं। इधर कुछ वर्षों में संभाषात्मक क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हो रहा है।

साहित्यिक शोध की दिशा में डा० ग्रियर्सन के पश्चात् काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों का शोध एक महत्वपूर्ण उत्थान काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भिन्न-भिन्न स्थानों में मिलने वाले ग्रन्थों की सूची एवं उसका रचनाकाल तथा उसमें मिलनेवाले विषयों का पता लगाने के लिये सर्वेक्षण कराया था। कई वर्षों तक यह कार्य संचालित होता रहा। मिश्रबन्धुओं में से एक श्री श्यामबिहारी मिश्र ने समस्त संकलित सामग्री का उपयोग अपने 'मिश्रबन्धु विनोद 'ग्रन्थ में किया। इस ग्रन्थ में केवल कवियों की सूचनायें नहीं उनके सम्बन्ध में और विशेषकर उनकी कविता को लेकर कुछ साहित्यिक विचार भी प्रकट किए गए हैं। इस ग्रन्थ में शोध का अंश कवियों के जीवनकाल और उनकी कृतियों की रचना तिथियों और उनकी संक्षिप्त जीवनियों के रूप में यत्र तत्र पाया जाता है।

इस संग्रहात्मक कार्य के पश्चात् नागरी प्रचारणी सभा ने प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था और तत्कालीन विद्वानों के द्वारा उन ग्रन्थों का संपादन भी कराया। इन संपादित ग्रन्थों में पृथ्वीराजरासो, तुलसी ग्रंथावली, सूरसागर, बीसलदेव रासो आदि मुख्य हैं। भूमिका के रूप में इन ग्रन्थों में शोधात्मक विवरण दिये गये हैं। पृथ्वीराज रासो, जायसी ग्रंथावली आदि की भूमिकायें विशेषकर शोधात्मक सामग्री से संयुक्त हैं। ये शोध मुख्यत: प्रामाणिकता मूलपाठ और उन ग्रंथों के पूर्वपरम्परा से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूफी धर्म, सूखी आख्याकों की प्रेमचर्या, सूफी प्रेम के स्वरूप, सूफी साधना के स्वरूप आदि पर ऐसे विचार दिए हैं जिसमें हिन्दी के क्षेत्र में शोध और प्रवृत्ति बढ़ी है। कुछ ही समय पश्चात् हिन्दी के प्रमुख

कवियों की काव्य रचनाओं पर संपादित ग्रन्थ और उनकी विवेचनात्मक भूमिका के रूप में 'कबीर ग्रंथावली' केशव ग्रन्थावली आदि भी प्रकाशित हुईं। तुलसी-दास जी की जीवनी और काव्य से सम्बन्धित डा० श्यामसुन्दरदास और बड़थ्वाल का गोस्वामी तुलसीदास शीर्षक ग्रंथ इसी काल का निर्माण है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी के इस शोधात्मक कार्य विकास में अनेक पंडित और विचारक शोधकर्त्ता बड़ी तत्परता से संलग्न रहे हैं।

द्विवेदीजी के शोधकार्य के विभिन्न क्षेत्र

शोध का लक्ष्य अज्ञात तथ्यों को प्रकाश में लाना होता है। प्राचीन इतिहास केवल सामाजिक या राजनीतिक ही नहीं होता वरन् राष्ट्रीय जीवन के सभी प्राचीन पक्ष उसकी भूमिका पर आ जाते हैं। इन्हीं विभिन्न पक्षों में एक साहित्य का भी पक्ष है। इस साहित्यिक शोध के अन्तर्गत और कवियों और लेखकों की सामाजिक पृष्ठभूमि, उन उन युगों के वैचारिक और साँस्कृतिक आदर्श तथा साहित्यिक परम्परायें ली जाती है। स्वयं साहित्य के अन्तर्गत काव्य-रूपों का, छंदों का और भाषा आदि का अंग भी सम्मिलित है। अतएव साहि-त्यिक शोध की सीमा में भी सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के अनेकानेक पक्षों का समावेश हो जाता है। हिन्दी के भाषा सम्बन्धी शोध की एक स्वतन्त्र परंपरा भी है। जिसकी गणना साहित्यिक शोध के बाहर भी चली जाती है। परन्तु जहाँ तक द्विवेदी जी का प्रश्न है उन्होंने भाषा सम्बन्धी शोध को भी साहित्य की सीमा में ही रखने का प्रयास किया है। कतिपय अन्य भाषा सम्बन्धी शोधकों से उनकी यह तुलना उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदीजी के शोध कार्य की अनेक दिशायें हैं। सांस्कृतिक शोध के अन्तर्गत देश के भक्ति संप्रदायों की रूपरेखा, दार्शनिक ग्रन्थ, निर्गुण सगुण काव्य सम्बन्धी शोध, भारतीय धर्म के मध्यकालीन धार्मिक विकास के सम्बन्ध में जो स्थापनायें आ जाती हैं। मध्यकालीन धार्मिक विकास क्रम पर शोधात्मक विचार, इसी सिलसिले में मध्यकालीन धर्मसाधना पर पुस्तकें लिखी हैं, उनकी कबीर नामक पुस्तक का एक पक्ष इसी धार्मिक शोध से सम्बन्धित है। मध्यकालीन संस्कृति के कतिपय पक्ष उनकी हिन्दी साहित्य की भूमिका नाम की पुस्तक में शोध का विषय बने हैं। विशुद्ध साहित्यिक शोध के लिए उनकी हिन्दी साहित्य का आदिकाल पुस्तक प्रस्तुत की गई है। काव्य परम्पराओं, काव्य रूढ़ियों और भाषा के प्राचीन विकास क्रम को भी द्विवेदीजी के शोध में स्थान मिला है इस दृष्टि से देखने पर द्विवेदीजी का शोध कार्य काफी विस्तृत और बहुमुखी है।

विस्तृत विवेचन एवं स्पष्ट रूप से इनके शोध को समझने के लिए हमें इनके शोध को कुछ वर्गों में विभाजित कर देखना होगा। मुख्यतया हम इनके शोध कार्य को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) ऐतिहासिक शोध (२) साहित्यिक एवं भाषागत शोध और (३) सांस्कृतिक शोध ।

ऐतिहासिक शोध

ऐतिहासिक शोध के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य का आदिकाल 'एवं' हिन्दी साहित्य की भूमिका 'ये दोनों पुस्तकें आती हैं। समस्त कृतियों का विहंगावलोकन नामक द्वितीय अध्याय में यद्यपि हमने हिन्दी साहित्य का आदिकाल' के पाँच व्याख्यानों का एक संक्षिप्त रूप दे दिया है फिर भी यहाँ पर उन व्याख्यानों में जो शोधात्मक अंश इधर उधर बिखरे पड़े हैं उनका प्रदर्शन ही इस प्रकरण का उद्देश्य है। प्रथम व्याख्यान यद्यपि विषय प्रवेश ही कहा जा सकता है फिर भी इसमें कुछ स्थापनायें नयी हैं जिन्हें अन्य इतिहासों में कम महत्व दिया गया है। अपभ्रंश काव्य की परम्परा को परवर्ती साहित्य से सम्बद्ध करने में द्विवेदीजी ने एक कदम आगे बढ़ाया है। इसके अध्ययन से यह अवगत होता है कि हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य में प्राचीन परम्पराओं का किस प्रकार पालन हुआ है। यद्यपि पाँच व्याख्यानों की यह पुस्तक पूर्ण नहीं है यह स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है। वे १०वें पृष्ठ में लिखते हैं 'जिन प्रदेशों में आगे चलकर अवधी और ब्रजभाषा का साहित्य लिखा गया, उनमें बसने वाले कवि इन दिनों किस प्रकार की रचना कर रहे थे, इस बात का कोई प्रामाणिक सूत्र हमारे पास नहीं है। राजस्थान और बिहार के बीच का प्रदेश उन दिनों कवियों से खाली नहीं होगा। यह तो निश्चित है परन्तु ऐसी प्रमाणिक पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं जिनके आधार पर इन प्रदेशों की इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों का ठीक ठीक अंदाजा लगाया जा सके।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल सम्बन्धी जितनी विभिन्न धारणाये विद्वानों की हैं उतनी अन्य किसी काल सम्बन्धी नहीं। यह काल भारतीय विचारों के मंथन का काल है इसीलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रथम व्याख्यान में शुरू से नौ पृष्ठ तक अपभ्रंश साहित्य की उन सभी ग्रंथों पर विचार किया गया है जो अन्य विद्वानों द्वारा संग्रहीत, संपादित अनूदित एवं संकलित हैं। अपभ्रंश साहित्य पर द्विवेदीजी का ध्यान ज्यादा गया है और उन्होंने इन ग्रन्थों को वैसा ही महत्व दिया है जैसे अन्य साहित्यिक ग्रन्थों को। उनका कहना है अपभ्रंश भाषा में ही सभी जैन ग्रन्थ पल्लवित एवं पुष्पित हुए हैं. इसका यह तात्पर्य नहीं कि सिर्फ

जैन कवियों ने ही अपभ्रंश की सेवा की जैनेत्तर कवियों ने नहीं। उनके द्वारा ही इस भाषा की काफी वृद्धि हुई। इस अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों को प्रकाश में लाने का श्रेय चंद्रधरगुलेरी, शुक्ल जी, पं० पिशेल, डा० हरमन याकोबी नामक जर्मन पंडित, बड़ौदा के महाराजा सर सयाजी गायकवाड़ की आज्ञा से सन् १९१४ ई० में श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल, पाण्डुरंग गुणे आदि सुप्रसिद्ध विद्वानों एवं खोजियों की है।[1] तत्पश्चात् सन् १९१८ में भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना हुई और डैकन कालेज मे सुरक्षित प्रतियां उस संस्था में लाई गईं तो सुप्रसिद्ध विद्वान मुनिजिन विजय जी ने जैन ग्रंथों का अवलोक और परीक्षण किया। उस समय उन्हें अनेक महत्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रन्थों जैसे पुफयन्त का तिसट्ठीलम्खण महापुराण, स्वयंभू का सउम चरिउ, हरिवंशपुराण आदि प्राप्त हुईं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने स्वयंभू और पुष्पदंत के हस्तलिखित पोथियों से संग्रह करके कुछ महत्वपूर्ण रचनायें अपने काव्यधारा नामक ग्रन्थ में प्रकाशित की हैं। उधर कई विद्वानों ने इस साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है जिनमें श्री मुनिजिनविजय, आदिनाथ उपाध्ये, डा० हीरालाल, डा० परशुराम वैद्य, पं० लालचन्द्र गांधी, डा० जगदीशचन्द्र जैन और डा० अल्सडोर्फ प्रभृति विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जैनेतर अपभ्रंश ग्रन्थों की खोज हुई है। सन् १९०२ में चन्द्रमोहनघोष ने प्राकृत पैंगलम नामक छन्दोविधान के ग्रन्थ का संपादन किया। सन् १९१६ में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध गान ओ दोहा नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकें प्रकाशित कराईं सन् १९१८ और २१ ई० में जनरल आफ डिपार्टमेंट आफ लैटर्स में डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने कुछ और बौद्ध सिद्धों के दोहे प्रकाशित कराए। राहुल जी के प्रयत्नों का ही शुभ परिणाम है कि हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान अपभ्रंश की ओर खिंचा है। मैथिल भाषा में विद्यापति की कीर्तिलता, कीर्तिपताका और राजस्थानी और गुजराती में 'ढोला मारूरा दूहा' आदि का विवेचन अपभ्रंश के साहित्य विस्तार को समझाने के लिए किया गया है।

द्विवेदीजी ने १० वीं० से १४वीं शताब्दी तक के काल को हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना है। जबकि शुक्ल जी ने १०५० से १३७५ तक के काल को। इस काल में प्राप्त १२ ग्रंथों के आधार पर ही शुक्ल जी ने उस काल का नाम वीरगाथाकाल रखा जिसे द्विवेदी जी आदिकाल के नाम से अभिहित करते है। शुक्लजी का मत उपदेश विषयक उन रचनाओं को जिनमें केवल सूखा

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल पृ० ४।

धर्मोपदेश मात्र हैं अतः शुद्ध साहित्य की कोटि मे नहीं आ सकतीं, का खंडन करते हुए द्विवेदी जी ने बताया कि अपभ्रंश के कई ग्रन्थ धार्मिक तो हैं किंतु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है।[१] धर्म यहाँ केवल कवि को प्रेरणा दे रहा है। उसके पश्चात् शुक्ल जी द्वारा कथित बीसलदेवरासो, जयचंद्र प्रकाश, जयमयंकजसचंद्रिका आदि पर विचार करते हुए कहा है–कि 'चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश भाषा के उस रूप का प्राधान्य रहा है जिनमे तद्भव शब्दों का ही एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे।[२] द्विवेदी जी के मतानुसार दसवीं से चौदहवी शताब्दी के काल का साहित्य अपभ्रंश प्रधान साहित्य है इस काल की भाषा की मुख्य प्रवृत्ति थी बोलचाल में तत्सम शब्दों का प्रचार।

यहीं पर रासो की भाषा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए द्विवेदी जी कहते है कि चंद का रासो अपने मूलरूप मे सुरक्षित नही रह सका है। इसमें बहुत प्रक्षेप हुआ है। फिर भी इसके वर्तमान रूप से (जो सत्रहवीं शताब्दी के आसपास है) अनुमान किया जा सकता है कि इसमे संस्कृत की ओर जाने की प्रवृत्ति है। तद्भव शब्दों में अनुस्वार लगाकर, संस्कृत की छोंक देना तत्कालीन भाषा के नये घुमाव की सूचना देता है परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।[३] उनकी दृष्टि में १० वीं १४ वीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस काल की भाषा पर कुछ विचार करते हुए कहा है 'पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग—२, अंक ४ में पुरानी हिन्दी शीर्षक लेख में जो नमूने दिए हैं वे प्राय: गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों मे बने ग्रन्थों के हैं। अतः इनमें हिन्दी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं इसके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रन्थों को इस काल के अपभ्रंश

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० ११। २—वही : पृ० १७।
३—वही : पृ० २१।

साहित्य के अन्तर्गत रखना ही अधिक उचित मालूम पड़ता है।' अन्त में द्विवेदी जी का निर्णय इस सम्बन्ध में इस प्रकार है वस्तुत: १४ वीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिन्दी भाषी प्रदेशों में क्या और कैसा था इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है कुछ अधिक प्रामाणिक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ और शिलालेख आदि से ही उस भाषा का परिचय मिल सकता है। दुर्भाग्यवश इस काल का ऐसा साहित्य उपलब्ध नहीं है जो एकाध शिलालेख और ग्रंथ (जैसे मुक्तिव्याक्तिप्रकरण) मिल जाते हैं वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की ओर बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था पर पद्य में अपभ्रंश ही प्राधान्य था। इसलिए इसकाल को अपभ्रंश काल कहना उचित ही है।[1] साथ ही राहुल जी के दिए नाम सिद्ध सामान्तकाल के औचित्य को भी वे मानते हैं नाना प्रकार की सिद्धियां योगियों के लिए और सामन्त चारणों के लिये प्रेरणास्रोत कहे जा सकते हैं। अंत में द्विवेदी जी ने वीरगाथाकाल नाम की अनुपयुक्तता बतलाते हुए यह कहा है 'यह राजस्तुतिपरक रचनायें वीरगाथा उतनी नहीं है जितनी राजस्तुति हैं। उनकी लड़ाइयाँ और विवाहों की कथाओं में कल्पना अधिक है तथ्य कम।[2] अंत मे द्विवेदीजी ने अपना मत स्थापित किया है ये रचनायें आदिकालीन हिन्दी साहित्य के काव्यरूपों के अनुपात में सहायक हैं परन्तु यह सत्य है कि जिन प्रदेशों में आगे चलकर ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली का साहित्य लिखा जाने लगा, उन प्रदेशों की बहुत ही थोड़ी रचनायें हमें मिलती हैं—बहुत ही थोड़ी। फिर भी मात्रा और विस्तार में अत्यंत अल्प इन रचनाओं का भी बहुत महत्व है, इन थोड़ी रचनाओं ने भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है और अनेक विद्वानों ने इसके मूल रूप को समझने का प्रयास भी किया हैं।''

अपने द्वितीय व्याख्यान में द्विवेदी जी ने आदिकाल की प्राप्त सामग्री की न्यूनता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। तथा इस काल की सभी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जिनमें आगे आनेवाले भाषा काव्य की प्रवृत्तियों के बीज निहित मिलते हैं। इस काल की सामग्री तीन स्रोतों से प्राप्त होती हैं। (१) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर (२) सुसंगठित धर्म संप्रदाय का आश्रय पाकर और मठों विहारों आदि की पुस्तकालयों

१—हिन्दी भाषा का इतिहास : पृ० ७७।

२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० २३।

में शरण पाकर (३) जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पाकर। तृतीय स्रोत से प्राप्त सामग्री पर भाषा या साहित्य सम्बन्धी कोई विचार या धारणा नहीं बनाई जा सकती। अवशेष दो स्रोतों से भी पर्याप्त सामग्री नहीं मिलती कारण चौदहवीं शताब्दी तक देश में आक्रमण प्रत्याक्रमण हो रहे थे अतः कोई भी अंश या संप्रदाय प्रभावशाली नहीं रह पाता था जिससे उससे कुछ सामग्री की आशा की जाय। इस प्रकार न तो राज्याश्रित साहित्य का पता चलता है और न वंशानुक्रम से कुछ व्यक्तियों के पास उस काल की सामग्री शेष रह गई है जिस पर द्विवेदी जी का ध्यान कम गया है।

मध्यदेश की भाषा का प्राचीन रूप नहीं मिलता। इसके लिए उन्होंने अनुमान लगाया है कि अन्य देशी राजाओं का राज्य इस देश खंड में रहा जिसके कारण देशी भाषा एवं उसके साहित्य को राज्याश्रय नहीं मिला वे गाहड़वालों को कहीं बाहर से आया हुआ मानते हैं। कहाँ से आये हैं उन्होंने निश्चित मत नही दिया है। गाहड़वालों को अन्य देशीय मानने के लिये भी उन्होंने पुष्ट प्रमाण नहीं दिया है। वे उस खण्ड में शैवों, नाथों, सिद्धों और शाक्तों का जोर मानते हैं। वास्तव में आदिकाल में प्राप्त सामग्री की अपभ्रंश और अवहट्ठ मिश्रित देशभाषा मध्यदेश की भाषा थी। उनकी थोडी बहुत रचनायें प्रक्षिप्त या परिवर्तित रूप में आज भी प्राप्य है। अवहट्ठ भाषा मिश्रित देशभाषा को द्विवेदी जी ने बिना विशेष कारण दिये पश्चिम और पूर्व देशीय मानलिया है। इसी व्याख्यान के अन्त में उन्होने प्राकृत अपभ्रंश और देशी भाषाओं के स्वर अनुस्वर और व्यञ्जन विपर्यय का नियम बताया जाता है जो वैज्ञानिक और सूक्ष्म है। इस प्रकार सभी प्रवृत्तियों का बीजारोप इस काल की प्रामाणिक रचनाओं में मिल जाता है जो आगे चलकर भाषा काव्य में व्यापक रूप से मिलने लगती हैं।

तृतीय व्याख्यान से आदिकाल में प्राप्त सामग्री का परीक्षण प्रारम्भ होता है। पृथ्वीराजरासो किसी समय प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया था और पृथ्वीराज विषयक इतिहास के लिए प्रामाणिक स्रोत समझा गया था। बाद में लोगों ने इसमें तरह तरह की ऐतिहासिक गल्तियाँ दिखाई। 'रासो' के प्रति साहित्यिक मोह रखने वालों को इस बात का कष्ट हुआ और नानायुक्तियों से उसे ऐतिहासिक सिद्ध करने का प्रयत्न शुरू किया। उसमें इतने प्रक्षिप्त अंश मिल गये हैं कि मूल अंश का पता लगाना कठिन हो गया। श्री मुनिजिनविजय जी ने पुरातन प्रबन्ध संग्रह में प्राप्त चार छप्पयों की ओर पंडितों का ध्यान

आकृष्ट किया है तब से मूलरासो में प्रक्षेपवाले सिद्धांत की पुष्टि हो गई है। ये छप्पय अपभ्रंश में हैं। यहाँ द्विवेदीजी भाषा की दृष्टि से विचार न कर साहित्यिक दृष्टि से विचार करते हैं।

वे चारों छंद दोहा और छप्पय छंदों में ही हैं। अपभ्रंश रचना को दोहाबन्ध कहने की प्रथा भी रूढ़ हो गयी थी और फिर पद्धड़ियाबन्ध भी उन दिनों की कथाओं की विशिष्ट पद्धति बन गया था। इसी पद्धड़िया को चन्द ने भी अपने काव्य के लिए चुना होगा। चरित काव्यों को कुछ विद्वानों ने कथा कहा है। इस कथा शब्द को भामह दण्डी से लेकर पृथ्वीराजरासो तक विभिन्न रूपों में निर्देशित किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि पृथ्वीराजरासो आरम्भ में ऐसा कथा काव्य था जो प्रधान रूप से उद्धत प्रयोग प्रधान मसृण प्रयोग युक्त गेय रूपक कथा उसमें कथाओं के भी लक्षण थे और रासकों के भी। जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, रूपक नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये प्रकाश नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, उसी प्रकार रासो या रासक नाम देकर भी – चरितकाव्य लिखे गये। 'रासक' का तो इस प्रकार का लक्षण भी मिल जाता है। परन्तु धीरे-धीरे ये भी कथा काव्य या चरितकाव्य के रूप में ही याद किये जाने लगे। इनका पुराना रूप क्रमशः भुला दिया गया। परन्तु पृथ्वीराज के काल में यह रूप संपूर्ण रूप से भुलाये नहीं गये थे। इसीलिए पृथ्वीराजरासो में कथाकाव्यों के भी लक्षण मिल जाते हैं और रासक रूप के भी कुछ चिन्ह प्राप्त हो जाते हैं। कीर्तिलता की कहानी भृंग भृंगी के संवाद रूप के रूप में कहलवाई गई है। प्रत्येक पल्लव के आरम्भ में भृंग भृंगी से प्रश्न करती है और फिर भृंग कहानी शुरू करता है। रासो के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल रासो में भी शुक और शुकी के सम्वाद भी ऐसी ही योजना रही होगी। द्विवेदी जी कहते रहे इस मामूली से इंगित को पकड़कर हम मूल रासो के कुछ रूप का अन्दाजा लगा सकते हैं। रासो की सब घटनाओं का निरीक्षण अच्छी तरह करने के पश्चात् द्विवेदी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चन्द का मूल ग्रन्थ शुक शुकी सम्वाद के रूप में लिखा गया था और जितना अंश इस सम्वाद के रूप मे है उतना ही वास्तविक है। विद्यापति की कीर्तिलता के समान रासों में भी प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में और कदाचित् अन्त में भी शुक और शुकी की बातचीत उसमें अवश्य रही होगी। साहित्यिक दृष्टि से भी यह अंश बहुत उपादेय हुआ है।

चतुर्थ व्याख्यान में कथानक रूढियों की चर्चा करते हुए द्विवेदीजी ने पृथ्वीराजरासो की कथा के सौंदर्य का चित्रण किया है। इच्छिनी विवाह का

वर्णन विस्तृत रूप से दिया गया है इच्छिनी विवाह के प्रकरण में इनका मन रम गया है। शशिवृता का और संयोगिता के विवाह को सुकवि रचित जान पड़ते हैं। इच्छिनी विवाह के प्रसंग में तीन घटनायें उल्लेखनीय हैं जो शुकशुकी के प्रश्नोत्तर के रूप में आई है। (१) भीम भोरंग के साथ पृथ्वीराज के वैर का कारण (२) भीम की इच्छिनी से विवाह की इच्छा (३) बारात का वर्णन और इच्छिनी के नखशिख का वर्णन। इस विवाह के पहले और बाद में पटापट दो विवाह और हुए हैं पर उनमें कवि का मन रमा नहीं है। इससे द्विवेदीजी का अनुमान है कि वे मूल रासो के विवाह नहीं हैं। इच्छिनी विवाह की शायद मूल रासो का प्रथम विवाह है। विवाह का वैशिष्ट्य दिखाने के लिये कवि ने इस सहज विवाह की पृष्ठभूमि तैयार की है। अगले विवाह में कवि ने जय के कथानक रूढ़ियों का सहारा लिया है। पद्मावती समय को पूर्ण रूप से इन्होंने प्रक्षिप्त माना है। संयोगिता वाले प्रसंग को निस्संदिग्ध रस के मूल रासो का सर्वप्रधान अंग मानते हुए द्विवेदीजी ने उसकी कथा का वर्णन किया है। प्रक्षिप्त अंशों का उल्लेख द्विवेदीजी ने निर्देश नहीं दिया। अन्त में द्विवेदी ने अपना अभिमत देते हुए कहा है सभीं ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यों के समान इसमें भी इतिहास और कल्पना का फैक्ट और फिक्शन का मिश्रण है। सभी ऐतिहासिक मानी जाने वाली रचनाओं के समान इसमें भी कालगत और कथानक प्रथित रूढ़ियों का सहारा लिया गया है। इसमें भी रस सृष्टि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, संभावनाओं पर अधिक जोर दिया गया है और कल्पना का महत्वपूर्ण रूप से स्वीकार किया गया है।

पंचम व्याख्यान छन्दों को लेकर चला है। इसमें मुख्यत: तीन छन्दों पर आद्यन्त विचार किया गया है। यों शार्दूल विक्रीड़ित, मंदाक्रांता आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। द्विवेदीजी ने श्लोक को लौकिक संस्कृत का गाथा, प्राकृत का और दोहा को अपभ्रंश का प्रतीक माना है। सबसे पहले दोहा पर विचार किया गया है इसी दोहे के आधार पर अपभ्रंश भाषा के समय को निर्धारित करने का प्रयास किया है। माइल्लधवल नामक कवि ने दव्वसहायपयास नामक ग्रंथ में पहले दोहाबंध में लिखा था लोगों ने उनकी हंसी उड़ाई कारण अपभ्रंश भाषा गंवारू भाषा थी अत: उन्होंने गाहाबंध में कर दिया। पर यह छन्द कब चल पड़ा समय निर्धारण करना कठिन सा अवगत होता है। विक्रमोर्वशीय में का दोहा छन्द अपभ्रंश भाषा में ही निबद्ध है। परमात्मप्रकाश के दोहों को सातवीं शताब्दी का बताया गया है, परन्तु द्विवेदीजी ने बताया है कि ये दोहे नवीं, दसवीं, शताब्दी के पहले के नहीं हो सकते। अन्त में इस सम्बन्ध में कहा है आधुनिक अहीरों के अत्यन्त प्रिय विरहगान का खाका मूलत: दोहा छन्द ही

है। सोरठा सम्बन्ध सौराष्ट्र से जोड़ा गया है क्योंकि इसने कभी कभी सोरट्ठ दोहा ही कहा गया है और आभीर गुर्जरों का सौराष्ट्र से पुराना सम्बन्ध है। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि दोहा का कुछ सम्बन्ध संभवतः आभीर आदि जातियों से स्थापित किया जा सके, परन्तु यह बात ठोस प्रमाणों पर कम और अटकल पर अधिक आधारित है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य के काव्य रूपों का अध्ययन कर आदिकाल के मध्य प्रदेश में अर्थात् उस प्रदेश में जहां ब्रज और अवधी साहित्य की रचना हुई प्रचलित काव्य रूपों के सम्बन्ध और निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। इससे हमें यह समझने के लिये कि प्राकृत और अपभ्रंश के कौन कौन सी शैलियाँ और काव्य रूपों का आगे चलकर हिन्दी में प्रचार हुआ सहायता मिलती है। सब दृष्टियों से दोहे की परीक्षा की गई है। दूसरे छन्दों के सम्बन्ध में भी द्विवेदीजी ने अच्छा विचार किया है। शार्दूल-विक्रीड़ित और नाटक की एकता सिद्ध की गई है। छन्दों के सम्बन्ध में बतलाते हुए भक्तिकाल तक के प्रयुक्त छन्दों का विकास प्रस्तुत किया गया है। बड़े विस्तार के साथ छन्दों के प्रयोग पर विचार किया गया है। आदिकाल की काव्य शैलियों का निरीक्षण सूक्ष्मता से किया गया है।

हिन्दी साहित्य की भूमिका

भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास नामक दो अध्यायों में द्विवेदी जी ने आज के १००० वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य कैसा था और उसकी वृद्धि कैसी हुई, पर विचार किया है। कुछ लोगों का कहना है कि हिन्दी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की संपत्ति है, इसलिए उसका महत्व उस जाति के राज-नीतिक उत्थानपतन के साथ अंगगति भाव से संबद्ध है, दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूर्तप्रतीक है जो अपने आप में कोई विशेष महत्व नहीं रखता।[1] द्विवेदीजी इन दोनों मतों से सहमत नहीं हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए द्विवेदीजी ने ईसा की पहली शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक की सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है और यह सिद्ध किया है कि सन् ई० के हजार वर्ष बाद यहाँ के सभी संप्रदाय शास्त्र और मत धीरे धीरे लोकमत से घुलमिल कर लुप्त हो गए जिसकी स्वा-भाविक परिस्थिति का मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है। द्विवेदीजी हिन्दी के आदि-काल और भक्तिकाल के साहित्य को मुसलमान आक्रमण की प्रतिक्रिया नहीं

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० २।

मानते और न वे मतों, आचार्यों, संप्रदायों और दार्शनिक चिन्ताओं के मानदंड से लोकचिन्ता की माप ही करना चाहते हैं। इसके विपरीत वे लोकचिन्ता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय पंडित ईसा के एक सहस्त्राब्दी बाद आचार विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावत: ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना (अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार) न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिए जा रही थी उसका वक्तव्य विषम कथमपि विदेशी न था।[1] इस प्रकार द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य को भारतीय साहित्य परम्परा का स्वाभाविक विकास और लोक चेतना का प्रतीक माना है। यह मत पूर्ववर्ती इतिहासकारों के मत से सर्वथा भिन्न है। उनका कहना है इस साहित्य का अध्ययन करना नितांत आवश्यक है, क्योंकि दस सौ वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्यों की बात भी मानवता की प्रगति के अनुसंधान के लिए केवल अपेक्षणीय ही नहीं बल्कि अवश्य ज्ञातव्य वस्तु है।[2] आगे वे कहते हैं कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[3]

सन् ईसवी की सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का काफी प्रबल प्रभाव था। मुसलमानी आक्रमण के आरम्भिक युगों में भी भारत से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी। पर इससे इसका अमिट प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। आठवीं नवीं शताब्दी में बौद्ध महायान संप्रदाय का जोर रहा। इसी समय बंगाल में पालराज्य कायम हुआ जो इसका अन्तिम शरणदाता रहा। हिन्दी साहित्य के जन्मकाल के समय बौद्ध धर्म एकदम नष्ट तो हो ही नहीं गया था, जीवित जोश के साथ वर्तमान भी था। द्विवेदीजी का कहना है मुसलमानी संसर्ग से उसका कोई संपर्क नहीं है। हजार वर्ष पहले वे ज्ञानियों पंडितों के ऊँचे आसन से नीचे उतर कर अपनी असली प्रतिष्ठा भूमि लोकमत की ओर जाने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है। द्विवेदी जी का कहना है चिन्ता पारतंत्र्य मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था और परवर्ती हिन्दी साहित्य में इसके उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी बिल्कुल गलत है। असल में वह कोई और कारण होना चाहिये जिसमें भारतीय चिन्ता में इस चिन्ता पारतंत्र्यत

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० १५। २—वही पृ० : २।
३—वही : पृ० २।

को जन्म दिया विदेशी आक्रमण नहीं।[1] इस प्रकार जिन दिनों बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर लोकधर्म में घुलमिल रहा था, उन्हीं दिनों ब्राह्मणधर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। मूलग्रन्थों की टीकायें, उनकी भी टीकाएं, इस प्रकार कभी कभी छः छः आठ आठ पुश्त तक टीकाओं की परम्परा चलती आई, लेकिन ये टीकायें सर्वत्र चिंता पारतंत्र्य की निदर्शन नहीं हैं। कुछ समय पश्चात् स्मार्त और बौद्ध दोनों ही हिन्दी साहित्य के जन्मकाल के समय लोकमत का प्राधान्य स्वीकार कर चुके थे। इसी तरह अपभ्रंश लोकभाषा की ओर झुकाव स्वाभाविक रूप से ही हो चला था किसी बाहरी शक्ति के कारण नहीं।[2] और प्रो० हेवेल के मत के अनुसार मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राजकाज से अलग कर दिये इसलिये दुनियां की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर, जो उनके लिए एक मात्र आश्रयस्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ, का खंडन द्विवेदी जी ने किया है। आगे के सहस्त्राब्दक की साहित्यिक चेतना को जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में देखे, अस्वाभाविक अधोगति के रूप में नहीं अवश्य ही जो अंश उसमें अस्वाभाविव भाव मे बाधाग्रस्त और विकृत हो उसे मैं भूल जाने को नहीं कहता पर हिन्दी साहित्य के अध्ययन से उन्हें विश्वास हो सकेगा कि सारा सहस्त्राब्दक का साहित्य भावी इतिहास में बौद्ध या अन्य किसी भी काल से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

हिन्दी साहित्य के बहुत पहले अपभ्रंश या लोक भाषा में कविता होने लगी थी। यद्यपि प्राकृत्त में लिखे गए काव्यों के बाद ही अपभ्रंश भाषा में काव्य लिखे गए परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राकृत नामकी कोई भाषा पहले बोली जाती थी और अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है, जो नाथकाल और नाना स्थान में नाना रूप में बोली जाती थी और बोली जाती है। शुरू शुरू में इसको आभीरों की भाषा जरूर माना जाता था पर बाद में चलकर वह लोकभाषा का ही नामान्तर हो गया। अपभ्रंश का किस प्रकार विकास एवं प्रचार हुआ यह हिन्दी साहित्य का आदिकाल नामक पुस्तक में निर्देश किया जा चुका है। अतः यहाँ पुनरावृत्ति करना उचित नहीं है। द्विवेदी जी का कहना है आभीरों की भाषा ही उस युग के पंडितों की दृष्टि में अपभ्रंश का उत्तम नमूना थी। पर यह समझना ठीक नहीं है कि अपभ्रंश केवल आभीरों या अहीरों की ही भाषा थी। इस कथन का यही अर्थ है कि देश भाषा की वह विशेषता जो आभीरों

१— हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० ११। १—वही: पृ० २९—३०।

के संसर्ग से प्राप्त हुई थी वही प्रधान हो गई और भाषा का साधारण रूप तत्काल प्रचलित प्राकृत ही रहा।[१] अपभ्रंश मे काव्यरचना १४, १५ वीं शताब्दी तक होती रही यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नई भाषा को स्थान दे दिया था।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि आधुनिक भाषा में इन अपभ्रंशों का स्वाभाविक विकास है तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकता से संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है जबकि अपभ्रंश के काव्यों मे खोजने पर भी संस्कृत के शब्द अपने मूल रूपों में नहीं मिलते। द्विवेदी जी का कहना है कि उनका तात्पर्य भाषा से नहीं बल्कि सूरदास, तुलसीदास आदि की प्राचीनकाव्य भाषा से है। केवल पुस्तकगत भाषा में ही नहीं, उन दिनों में प्रचलित बोलचाल की भाषा में भी संस्कृत तत्सम शब्द, अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में बोले जाते थे। ऐसा न होता तो कबीर और दादू आदि की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानों ने इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था।[१] इसका कभी यह अर्थ नहीं कि मुसलमानी धर्म का कोई प्रभाव इस साहित्य पर नहीं पड़ा है यह कहना अनुचित है। एक जीवित जाति के स्पर्श मे आने पर दूसरी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्य के सुवर्णकाल में भी इस प्रकार विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार कालिदास की कविताओं में या ग्रीक प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शन है, उसी प्रकार साहित्य में भी यह प्रभाव प्रभाव के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।

नाथ संप्रदाय

'नाथ संप्रदाय का विस्तार' नामक अध्याय में इस संप्रदाय का नाम नाथ संप्रदाय कैसे पड़ा इस पर विचार किया गया है। इस मत के अनेक नामों का उल्लेख करते हुए अंत में नाथ मत का व्युत्पत्त्यर्थ बताया है कि नाथ के आश्रयण से इस से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है इसलिए नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है। नाथसंप्रदाय के मूल उपास्य देवता शिव हैं। नाथ संप्रदाय के ग्रन्थों की अपनी गवाही से ही

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृ० ३२।

मालूम होता है कि तांत्रिकों का कौलमार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी है कनफटा इस शब्द की प्रचलित अनेक अर्थों को बताते हुए उनकी सार्थकता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। खपारी, सुमिरनी, अधारी, कंथा आदि शब्दों का इस मत में क्या अर्थ लिया जाता है—स्पष्ट बताया है । योगियों के बारे में इब्नबतूता आदि के विचार भी दिये है। गृहस्थ योगियों के बारे मे भी विचार किया है । नाथयोगी एवं गृहस्थ योगी के भेद को स्पष्ट करते हुये यह बतलाया है कि इनकी मर्यादा कनफटे योगियों से हीन मानी जाती है। इन योगियों में सभी प्रकार की जातियां पायी जाती है जैसे जुलाहा, रंगसाज आदि। ये जातियाँ बरार, गुजरात, महाराष्ट्र करनाटक और दक्षिण भारत मे भी पाई जाती है।

नाथसंप्रदाय के पुराने सिद्ध नामक दूसरे अध्याय मे नवनाथ के नाम दिए गये हैं। जिन्होंने संप्रदाय का प्रवर्द्धन किया था। तत्पश्चात् नाथपंथियों एवं सहजयानियों, सिद्धों में इनमें के कई सिद्ध अभिन्न हैं। अनेक सिद्ध उभय-साधारण है। तालिका देकर इसे स्पष्ट किया है। द्विवेदी जी कहते है कि नाथ-संप्रदाय के सर्वमान्य आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ जालंधरनाथ, गोरक्षनाथ और कानिया है क्योंकि इनका नाम सब ग्रन्थों मे पाया जाता है।

मत्स्येन्दनाथ कौन थे ? नामक तृतीय अध्याय मे बताया है कि नाथ-परम्परा में आदिनाथ के बाद सबसे महत्वपूर्ण आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। आदि-नाथ शिव का ही नामान्तर है। मानव गुरुओं मे मत्स्येन्द्र ही सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं। काश्मीर शैवागमों मे भी इन का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। इजका आविर्भाव युग संधिकाल मे हुआ। अनेक साधना मार्गों के ये प्रवर्तक मान लिए गए हैं। प्रथम इनके नाम पर विचार किया गया है। योगि संप्रदाय में इनका नाम 'मंछन्दरनाथ' प्रसिद्ध है इनके द्वारा रचित पुस्तक नेपाल की लाइब्रेरी में सुरक्षित है उनमें एक का नाम है कौलज्ञाननिर्णय। इस ग्रंथ का काल हरप्रसादशास्त्री ने ९ वीं शताब्दी एवं डा० प्रबोध चंद्र बागची ने ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग बतलाया है। अनुसंधान से ज्ञात हुआ है इन पांचों किताबों में इनके नाम कई तरह के आये है। इस पर हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि मत्स्येन्द्रनाथ मछली मारने वाली कैवर्त्त जाति में उत्पन्न हुये थे। कौलनिर्णय से भी मत्स्यन्ध नाम का समर्थन होता है। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ की जीवितावस्था में ही मत्स्यन्ध के प्रतीकात्मक अर्थ में उनका कहा जाना असंगत कल्पना नहीं है।

इसके बाद ही एक प्रश्न उठाया है कि मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ

एक व्यक्ति हैं या भिन्न भिन्न ? हठयोग प्रदीपिका में दोनों को पृथक व्यक्ति बताया गया है। डा० बागची के अनुसार एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। साम्प्रदायिक अनुश्रुतियों के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र थे पर डा० बागची का कहना है कि यह परवर्ती कल्पना है। तिब्बती अनुश्रुती के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ के पिता थे और नेपाल में प्रचलित विश्वास के अनुसार वे मत्स्येंद्रनाथ के छोटे भाई है। पर द्विवेदीजी ने अनेक प्रामाणिक बातों को देते हुए यह सिद्ध किया है कि प्राचीनकाल में मत्स्येंद्रनाथ का नाम ही मीन या मीननाथ माना जाता था। ये मत्स्येंद्रनाथ कौन थे किस देश में उत्पन्न हुए ? इनके रचित ग्रन्थ क्या है ? साधन मार्ग क्या था और कैसा था ? आदि प्रश्न भी सहज समाधेय नहीं है। बहुत से लोगों ने मत्स्येंद्रनाथ और लुईपाद को एक ही व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया है परन्तु कई कारणों से एक व्यक्ति होने में संदेह है। हरप्रसाद शास्त्री जी के मत से भी ये दोनों भिन्न२ हैं। योगिसम्प्र–दायाविष्कृति में चंद्रगिरि नामक समान को गोरक्षनाथ की जन्मभूमि कहा गया है।

मत्स्येंद्रनाथ विषयक कथायें और उनका निष्कर्ष नामक अध्याय में पांच तरह के प्रचलित कथाओं को दिया गया है। इन पांच कहानियों के अनुशीलन के पश्चात् द्विवेदीजी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मत्स्येंद्रनाथ और जालंधरनाथ सम-सामयिक थे। दूसरी मत्स्येंद्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे और जालधरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे, तीसरी मत्स्येंद्रनाथ कभी योगमार्ग के प्रवर्त्तक थे फिर संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गए थे जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी। सम्भवत: यह बामाचारी साधना थी। चौथी यह कि शुरू से ही जालंधरनाथ और कानिपा की साधनापद्धति मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधनापद्धति से भिन्न थी। इनके समय निर्धारण के लिए भी युक्ति मन्दी है। इन प्रमाणों के आधार पर द्विवेदीजी ने नाथ मार्ग के आदि प्रवर्त्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य भाग मानना उचित जान पड़ता है ऐसा कहा है। अनेक खोज के पश्चात् द्विवेदीजी ने अनुमान लगाया है कि मत्स्येंद्रनाथ चंद्रगिरि नामक स्थान में पैदा हुए थे जो कामरूप से बहुत दूर नहीं था।

मत्स्येंद्रनाथ द्वारा अवतरित कौलज्ञान 'नामक अध्याय में मत्स्येंद्रनाथ के मत एवं इस मत की जानकारी से हमें ऊपर की दन्तकथाओं के समझने में मदद मिलती है। इस पर विचार किया गया है। 'कौलज्ञान–निर्णय' के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ कौलमार्ग के प्रथम प्रवर्त्तक है। खोज के पश्चात् इस निर्णय पर

पहुँचते हैं कौलज्ञान–सिद्धिपरक विद्या है और यद्यपि शास्त्र में अद्वैतभाव की चर्चा है पर मुख्यत: यह उन अधिकारियों के लिए लिखा गया है जो कुल और अकुल, शक्ति और शिव के भेद को भूल नहीं सके है। कुल और अकुल का सम्बन्ध स्थापन ही कौलम मार्ग है इसलिए कुल और अकुल का सामरस्य ही कौलज्ञान है। इसके अतिरिक्त कुल के चार के अर्थ एवं कौलमार्ग पर विचार किया गया है।

छठवें अध्याय में जालंधरनाथ का साधारण जीवन परिचय दिया गया है। जालंधरनाथ मत्स्येंद्रनाथ के गुरु भाई थे। तिब्बती परम्परा में मत्स्येंद्रनाथ के गुरु भी माने जाते हैं। भोटिया ग्रन्थों में इन्हें आदिनाथ भी माना जाता है। तनजूर में इन सात ग्रन्थों का उल्लेख है जिनमें राहुलजी के मतानुसार दो मगही भाषा में लिखे गये हैं। डा० कर्दिये ने फ्रेंच भाषा में बौद्ध ग्रन्थों की एक तालिका प्रकाशित की थी उसमें जालंधरनाथ लिखित एक टिप्पणिग्रंथ का भी नाम है। ये पंजाब में अधिष्ठित जालंधरपीठ नामक तांत्रिक स्थान में उत्पन्न हुए थे ऐसा माना जाता है। दूसरी परम्परा मानती है कि वे हस्तिनापुर के पुरुवंशी राजा बृहद्रथ के यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे और इसी से इनका नाम ज्वालेन्द्रनाथ पड़ा था। इस प्रकार इनका जन्म स्थान नगरभोग हस्तिनापुर और जालंधरपीठ माना गया है। जाति के बारे में भी विवाद है। तिब्बती परम्परा के अनुसार ब्राह्मण, बंगाली परम्परा के अनुसार हाड़ी या हलखोर, और योगि सम्प्रदायाविष्कृति के अनुसार ये युधिष्ठर की सौवीं पुश्त में उत्पन्न पुरुवंशी राजा बृहद्रथ के पुत्र होने के कारण क्षत्रिय भी माने जाते हैं। द्विवेदी जी का अनुमान है कि जालंधरपीठ मे या तो उत्पन्न हुए होंगे या सिद्ध हुए होंगे। हठयोग की पुस्तकों में एक बन्ध का नाम जालंधरबन्ध है। जालंधर-नाथ के साथ संबद्ध होने के कारण यह बन्ध जालंधर बन्ध कहा जाता है। जितनी भी परम्परायें हैं वे सभी जालंधर नाथ का जन्म स्थान पंजाब की ओर ही निर्देश करती हैं। जालंधरनाथ का सम्बन्ध उड्यान या जालंधर दोनों बन्धों से है। इस प्रकार के अनुमान का कारण यह है कि सचमुच जालंधर नामक राजा का उल्लेख मिलता है।

चीनी और तिब्बती ग्रन्थों में लंकापुरी की चर्चा आती है। इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है (१) उड्डियान और जालंधरपीठ पास ही पास हैं। (२) उड्डियान में ही कहीं लंकापुरी है जहाँ कोई जालेंद्रनामक राजा थे। जो सुप्रसिद्ध साधक इन्द्रभूत के बहनोई थे। (३) हठयोग के ग्रन्थों में

उड्डियानबंध और जालंधरबंध नाम के दो जो बंध हैं उनका सम्बन्ध इनमें से किसी एक से या अनेक से होना असम्भव नहीं है। यह कहना बडा कठिन है कि जालेंद्र इाजा ही जालंधर है या नहीं। अन्त में निष्कर्ष रूप में अनेक खोज के पश्चात् यह निर्णय दिया है कि जालंधरपीठ किसी जमाने में वज्रयानी साधना का प्रधान केन्द्र था पर इतना तो निश्चय है कि जालंधरपीठ के प्राचीन और महत्वपूर्ण होने में कोई संदेह नहीं है। ये परम्परा में इतनी विकृत हो गई हैं कि इन पर से किसी ऐतिहासिक तथ्य का खोज निकालना दुष्कर ही है। जालेंद्र, ज्वालेन्द्र और जालंधर नामों के उच्चारण साम्य के कारण इनको आपस में बुरी तरह से उलझा दिया है परन्तु यह बात फिर भी जोर देकर ही कही जा सकती है कि जालंधरनाथ का सम्बन्ध जालंधरपीठ से भी था और उड्डियान पीठ से भी।

राहुल जी ने इन्हें खिब्बती परम्परा के आधार पर कर्णाटकदेशीय ब्राह्मण और डा० भट्टाचार्य ने इन्हें जुलाहा जाति में उत्पन्न उड़िया भाषी लिखा है। शरीर का रंग काला होने से इन्हें कृष्णपाद भी कहा गया है। इनका कहीं महाचार्य, कहीं महासिद्धाचार्य, कहीं उपाध्याय और कहीं मण्डाचार्य कहकर सम्मानपूर्वक नाम लिया गया है। इनकी भाषा पर से श्री विनयतोषजी भट्टाचार्य इन्हें उड़िया भाषी हरप्रसाद शास्त्री, बंगलाभाषी, राहुलजी मगही भाषी कहते हैं। कानपा ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है और अपने को जालंधरपाद का शिष्य बताया है। इसी कापालिक मत के सम्बन्ध में अनेक वादविवाद हैं।

वि० संवत् की दसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के महान् गुरु गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली महापुरुष भारतवर्ष में नहीं हुआ। भक्ति आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योग मार्ग ही था। भारतवर्ष में ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरक्षनाथ सम्बन्धी कहानियां न प्रचलित हों। इन कहानियों में परस्पर ऐतिहासिक विरोध होने पर भी इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि ये अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। इनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नहीं चलता। योगि संप्रदायाविष्कृति ने उन्हें गोदावरी तीर के किसी चंद्रागिरि में उत्पन्न बताया है। नेपाल दरबार लाइब्रेरी के पास गौरक्ष सहस्त्रनामस्तोत्र नामक छोटे ग्रंथ से पता चलता है कि बड़वनामक देश में गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ था। बुक्स के उल्लेख के अनुसार ग्रियर्सन ने उद्धृत किया है कि 'गोरक्षनाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर, द्वापर में द्वारिका के आगे हुरमुज में, और कलिकाल में काठियाबाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे।' नेपाली

परम्परा के अनुमार पंजाब से चलकर नेपाल गये थे। नासिक के योगियों का विश्वास है नैपाल से पंजाब आये थे बाद में नासिक की ओर गये थे। ब्रिग्स का अनुमान है पंजाब निवासी रहे होंगे। ग्रियर्सन के अनुसार संभवत: पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे। द्विवेदीजी का अनुमान है निश्चित रूप से गोरक्षनाथ ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे, उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों।

गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत ग्रंथ चलते हैं जिनमें अनेक परवर्ती और कई संदेहास्पद हैं। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर गोरखनाथ का काल निर्णय करने का प्रयत्न किया है। कबीरदास के साथ बातचीत हुई थी इसको आधार बना ग्रियर्सन ने गोरखनाथ का समय १४वीं शताब्दी माना है, गुरु नानक के साथ बातचीत एवं जैन दिगम्बर संत बनारसीदास से शास्त्रार्थ होने के प्रसंग से १७वीं शताब्दी का भी होना माना जाता है। इन सबका ऐतिहासिक मूल्य अति न्यून है। अत: द्विवेदीजी के मतानुसार इनका समय १०वीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता। इनकी भाषा को लेकर जो काल निर्णय करने का प्रयास किया गया है वह निष्फल ही सिद्ध हुआ है।

गोरखनाथ के ग्रन्थ जिन्हें द्विवेदीजी ने देखा है एवं संग्रह किया है ऐसे २८ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त हिन्दी में भी गोरक्षनाथ की कई पुस्तकों का संपादन बड़े परिश्रम एवं योग्यता के साथ स्व० डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने किया है। इनकी खोज के अनुसार ४० पुस्तकों का पता चला है। डा० बड़थ्वाल ने इस सम्बन्ध में कहा है कि गोरखनाथ विक्रम की ११वीं शती में हुए थे। ये रचनायें जैसी उपलब्ध हो रही हैं, ठीक वैसी ही उस समय की हैं यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं जिससे कहा जा सकता है कि संभवत: इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती में हुआ हो।

गोरखनाथ के समसामयिक सिद्ध २४ सिद्धों का भी विवरण दिया गया है। तत्पश्चात् परवर्ती सिद्धसंप्रदाय में प्राचीन मत के सम्बन्ध में विचार किया गया है। गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्तसंप्रदाय थे जो वेद बाह्य होने के कारण हिन्दू थे और न मुसलमान। उत्तर भारत में ऐसे अनेक संप्रदाय थे जो वेदबाह्य होकर भी वेदसम्मत योगसाधना या पौराणिक देव देवियों की उपासना किया करते थे, ये अपने को शैव शाक्त और योगी कहते रहे। द्विवेदीजी का अनुमान है गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया

हो—एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे पर शैव या शाक्त नहीं थे दूसरे वे जो शिवशाक्त के उपापक थे पर शैव या शाक्त नहीं थे। परन्तु गोरक्ष सम्मत योगमार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। बाद में उन्हें गोरक्षनाथी माना जाने लगा। धीरे धीरे जब परम्परायें लुप्त हो गईं तो उन पुराने संप्रदायों के मूल प्रवर्तनों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इसे स्वीकार कर लेने पर इस सम्बन्धी जो वाद विवाद है स्वयमेव परास्त हो जाता है तत्पश्चात् इस मत सम्बन्धी ८ शाखाओं का वर्णन दिया गया है।

कबीर

प्रस्तावना में द्विवेदीजी ने कबीरदास सम्बन्धी विवाद को उपस्थित किया है। आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकाँश किसी समय ब्राह्मण श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थी। (१) जोगी नामक आश्रय भ्रष्ट घर वारियों की एक जाति सारे उत्तर और पूर्व भारत में फैली थी। ये नाथपंथी थे, कपड़ा बुनकर और सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे। (३) इनमें से निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी, जातिभेद और ब्राह्मण श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति न थी और न अवतारवाद में ही कोई आस्था थी। (४) आसपास के बृहत्तर हिन्दूसमाज की दृष्टि में ये नीच और अश्पृश्य थे। (५) मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे धीरे मुसलमान होते रहे। (६) पंजाब युक्तप्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। (७) कबीरदास इन्हीं नव धर्मान्तरित लोगों में पालित हुए थे।

कबीरदास के नाम पर जो वाणियां मिलती हैं उनका कोई हिसाब नहीं। खोज में जब तक कबीरदास के नाम पर छः दर्जन के आस पास पुस्तकें मिली हैं। इनमें से कुछ उनकी नहीं हैं और कुछ अन्य पुस्तकों के भीतर आ जाती हैं। सन् १९०६–७ की खोज रिपोर्ट में अनुरागसगार की एक प्रति पाई गई थी जिसके सम्बन्ध में रामकुमार वर्मा ने लिखा हैं कि उसमें पद्यों की संख्या १५९० है। पर सन् १९०६–११ में इसी पुस्तक की इससे १६ वर्ष पुरानी एक और प्रति मिली। इस पुरानी प्रति में पद्यों की संख्या १५०४ थी। १६ के अन्तराल में ८६ पद्यों की वृद्धि हो गई। अतः इन ग्रंथों की प्रामाणिकता सन्देह का ही विषय है। श्री विश्वनाथसिंह जू देव ने अपनी टीका के अन्त में कबीरदास का कहा जाने वाला एक पद उद्धृत किया है यह पद स्वयं संदेहास्पद है। इन सबको देखते हुए द्विवेदीजी की यह धारणा है कि बीजक के कुछ अंश अवश्य बाद के हैं। जो

हो बीजक कबीरदास के मतों का पुराना और प्रामाणिक संग्रह है इसमें सन्देह नहीं ।

अवधूत कौन है नामक अध्याय में अवधूत का सम्बोधन किस किस प्रकार होता है इस पर विचार किया गया गया है और कबीरदास अवधूत का अर्थ क्या लेते हैं बताने का प्रयास किया है । कबीरदास का अवधूत नागपंथी सिद्ध योगी है । वह अवधूत जिसके वाक्य वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे हाथ में भोग फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है, वर्णाभय से परे है, समस्त गुरुओं का साक्षात् गुरु है; न उससे बड़ा है और न बराबर । इसी अवधूत की चर्चा कबीरदास ने भी की है । कबीरदास के अनुसार योगी वह है जो न भीख माँगे न भूखा सोये, न झोली पत्र और बटुआ रखे, अनहद नाद के बनाने से विरत हो, पाँच जने की जमात का पालन करे और संसार से मुक्ति पाने की साधना भी जाने । जो ऐसा नहीं वह अवधूत योगी कबीर का आदर्श नहीं हो सकता यद्यपि इन योगियों के संप्रदाय के सिद्धों को ही कबीरदास का अवधूत कहते हैं, तथापि वे साधारण योगी और अवधूत के फर्क को बराबर याद रखते हैं । अवधूत को ज्यादा आदर दिया है ।

नाथपंथियों के सिद्धाँत और कबीर का मत नामक अध्याय में नागपंथी अवधूत का मत क्या था और कबीरदास पर उसका कुछ प्रभाव पड़ा था या नहीं इस पर विचार किया गया है । गोरखनाथ ने योगमार्ग में गुरू की बड़ी महिमा गाई गई है । गुरू ही समस्त क्षेत्रों का मूल है और एक मात्र अवधूत ही गुरु पद का अधिकारी हो सकता है ।

निरंजन कौन है

कबीर पंथ के अध्ययन से निरंजन का सम्बन्ध बुद्ध से था ऐसा अनुमान होता है । नाथपंथ में निरंजन की महिमा खूब गाई गई है । स्वयं कबीरदास की उक्तियों में से ऐसी ढूढ़ी जा सकती हैं जिनमें उन्होंने निरंजन को परमाराध्य समझा है । द्विवेदीजी की अनुमान है कबीरदास के समय का अपेक्षाकृत सहज मतवाद बाद में चलकर जटिल हो गया है । स्पष्ट है कबीरदास निर्गुण या निरंजन ब्रह्म को शैतान जैसा नहीं समझते थे ।

मानी जाती हैं और उनका सम्पादन अन्तिम रूप में इस काल में हुआ था, जो काव्य, नाटक कथा आख्यायिकाएँ गुप्तकाल में रची गयीं, वे आज भी भारतवर्ष का चित्र मुग्ध कर रही हैं। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए वे सैकड़ों वर्ष बाद आज की भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं। इस काल को भारतीय उन्नति के स्तब्ध हो जाने का काल नहीं कहा जा सकता।[१] इन लगभग १२ सदियों के १२०० वर्ष की अवधि में भारतवर्ष की जनता की क्या धर्मसाधना रही इसे स्पष्ट करते हुए लेखक ने लिखा है कि एक तो इस युग में निरक्षर साधकों की प्रधानता रही और दूसरा भगवान् के भावगृहीत रूप को विशेष महत्व प्राप्त हुआ। नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन भक्तों की अपनी विशेषता है द्विवेदीजी की दसवीं शताब्दी के बाद ही भारतीय इतिहास का वह काल प्रारम्भ होता है जिसे संकोचनशील और स्तब्ध मनोवृत्ति का काल कहा जा सकता है। यह सत्य है कि मध्यकाल में कोई भी ऐसी प्रवृत्ति कठिनाई से मिलेगी जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती काल मे न हो गया हो। पर वे धर्म साधना के इतिहास को जीवन्त वस्तु मानते हैं।[२] विक्रम की छठी शताब्दी से लेखक के अनुसार 'धर्म साधना से एक नई प्रवृत्ति का उदय होता है जिसे तान्त्रिक प्रभाव कहा जाता है। यह प्रभाव ब्राह्मण ही नहीं जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है। छठीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक का प्रभाव चलता रहता है फिर इस देश की धर्म साधना नए रूप में प्रकट होती है। यह अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रहती रहती हैं और उसके बाद भारतवर्ष फिर नए ढंग से सोचना प्रारम्भ करता है।

विक्रम की छठी शताब्दी के बाद जो तांत्रिक प्रभाव भारतीय साधना के ऊपर पड़ा वह परिवर्तीकाल के सन्तों या निर्गुण भक्तों की साधना के रूप में प्रकट हुआ।[३] उस साहित्य का बीजारोपण विक्रम की छठी शताब्दी में ही हुआ और विक्रम की नवीं और दसवीं शताब्दी तक वह अंकुरित होता रहा।[४] पूर्वमध्य युग में विविध साधनायें पनपीं और इसे तन्त्र प्रभाव का काल कहा हैं और इस काल की मुख्य घटना पांचरात्र संरिताओं का अभ्युत्थान काल है। ये संहिताएँ वैष्णवों का कल्पसूत्र कहा गया है। लेखक का मत है विक्रम की छठी शताब्दी के बाद जो तांत्रिक प्रभाव भारतीय साधना के रूप में प्रकट

१– मध्यकालीन धर्मसाधना: पृ० १७। २– वही: पृ० १७।
३– वही: पृ० २५। ४– वही: पृ० २५।

हुआ। छठी से दसवीं सदी तक के काल में 'वैष्णव, शैव शाक्त, गाणपत्य, अं
सौर से लेकर बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तक के मन्त्र तन्त्र, मुद्रा आदि का प्रच
बढ़ता दिखाई देता है। तन्त्र शास्त्रों में मन्त्र-तन्त्र, न्याय दीक्षागुरू, आदि त
सम्मिलित किये जाते हैं। मध्ययुग के धार्मिक साहित्य को दो प्रकार से विभ
करके विचार किया गया है। स्मृतियों उनकी टीकाओं, पुराणों और निबन
का साहित्य पुराने जमाने से ही 'धर्मशास्त्र' कहा जाता रहा है, दूसरे प्रक
का साहित्य जो साधनों के परम पुरुषार्थ प्राप्ति की प्रतिक्रियाओं को बताते
जिसमें तन्त्र, भोग के ग्रन्थ है भक्ति की पुस्तकें हैं और पुराणों के वे अंश हैं
इन्हीं बातों की चर्चा करते हैं। इसे द्विवेदीजी ने 'धर्मसाधना' के नाम से अभि
किया है।[१] धर्म साधनाओं को भी दो मोटे विभागों में बाट लिया है (१) योग
मूलक साधानएँ और भक्तिमूलक साधनाएँ। इन दोनों साधनाओं का प्राच
हम मध्ययुग में ज्यादा पाते हैं। तत्पश्चात् वैदिक देवतावाद से इस साधना
अन्तर कैसे हुआ पर विचार किया गया है। योग साधना की परम्परा में स
प्रथम पातंजलि का नाम आता है जिसने व्याकरण, महाभाष्य, पातंजलि यो
सूत्र और संहिता की रचना की थी। मध्यकाल में लोक भाषाओं में जो यो
सम्बन्धी पुस्तकें लिखी गयी, उनमें पतंजलि के ग्रन्थों के समान इतनी सूक्ष
विवेचना नहीं की गयी। पातंजल दर्शन विचार प्रधान दर्शनग्रन्थ हैं जब
मध्ययुग के हठयोग वाले ग्रन्थ प्रक्रिया प्रधान हैं।[२] पर ज्ञान मार्ग का प्रभ
उन पर है। द्विवेदीजी का अनुमान है कि उत्तर मध्यकाल में इन योगांगों
लोक भाषा में लिखने की परिपाटी दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा
अन्तिम रूप है।[३] आगे वह कहते हैं निर्गुण भक्ति मार्ग की आरम्भिक अवस
ज्ञान की कथनी वाले मार्गों की परम्परा का ही अन्तिम रूप रही होगी, कबी
दादू आदि के नाम पायी जाने वाली वाणियों के विश्लेषण से इस नतीजे
पहुँचना सम्भव है। साखियाँ आठ योगांगो के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट क
के उद्देश्य से ही लिखी गयी हैं। इन उपदेशों में ज्ञान प्रवण नैतिक स्वर प्रध
एवं योग सम्बन्धी स्वर गौड़ दिखलाई पड़ता है। इसी ज्ञानप्रवण नैतिक
प्रधान योगमार्ग के खेत में भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर लता उत्पन्न
उसी का नाम निर्गुण भक्ति मार्ग हैं।[४]

धर्म और निरंजन मत में यह बताया है कि किसी न कि

१– मध्यकालीन धर्मसाधना: पृ० ५९। २– वही: पृ० ७०।

रूप में दीर्घ काल तक बौद्धधर्म जीवित रहा और अब भी किसी न किसी रूप में कहीं कहीं जी रहा है। पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में धर्मपूजा एक जीवित मत है। उसमें सबसे बड़े देवता निरंजन या धर्म हैं। उन्हें रूप, वर्ण आदि से अतीत और शून्यरूप बताया गया है। इस पंथ का अपना साहित्य है जिसे बंगाल में धर्म मंगल साहित्य नाम दिया गया है पंडितों का अनुमान है कि धर्मपूजा बौद्धधर्म का भग्नावशेष है, कुछ दूसरे पंडितों का अनुमान है कि धर्म या निरंजन देवता वस्तुत: आदि वासियों के ग्रामदेवता है। जो हो धर्म में बौद्ध प्रभाव है अवश्य।[1]

कबीरमत में धर्मदेवता का 'अवशेष' उड़ीसा में निरंजन नाम के देवता की पूजा प्रचलित थी जिस पर बौद्ध मत का जबरदस्त प्रभाव था। कबीर मत को इस पंथ से निबटना पड़ा। विशेष रूप से कबीर पंथ की दक्षिणी शाखा को इस प्रबल प्रतिद्वंद्वी मत को आत्मसात करने का श्रेय प्राप्त है।

इसके बाद संत साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है। फिर सामाजिक विषय, जैसे जातिभेद की कठोरता और उसकी प्रतिक्रिया, स्पृश्या-स्पृश्य विचार, अन्तर जातीय विवाह, वर्तमान जनसमूह अवतारवाद, पर प्रकाश डाला गया है। जिससे मध्ययुग की समाज में परिस्थिति को जानने में पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है श्रीकृष्ण की प्रधानता नामक शीर्षक के लेकर मधुर रस की साधना तक करीब करीब उन्हीं विषयों पर प्रकाश डाला गया है जो सूरसाहित्य में हैं अत: पिष्टपेषण करना समीचीन न होगा। इन अन्तराल में आने वाले शीर्षक में कृष्ण, गोपी, राधा तथा लीलाभक्ति आदि के वर्णन में समीक्षात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है जिसका वर्णन हम दूसरे अध्याय में दे चुके हैं।

'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' नामक दूसरी किताब भारतीय संस्कृति की एक लम्बी परम्परा को हमारे सामने उपस्थित करती है। प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारत की उसी संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है। सुविधा की दृष्टि से लेखक ने भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग 'गुप्तकाल' के कुछ सौ वर्ष पूर्व से लेकर सौ वर्ष बाद तक के समय को इस विवेचन के लिए चुना है यद्यपि यदाकदा वे इस काल सीमा का अतिक्रमण आवश्यकतानुसार कर जाते हैं। लेखक इस ऐहिकता को आध्यात्मिकता का विरोधी नहीं मानते उनका कथन है :

१—मध्यकालीन धर्मसाधना : पृ० ८९।

'प्रत्येक मनुष्य इनसे (कला विनोद) बंधा है। परन्तु इनके दो पहलू होते हैं। जब ये मनुष्य को अपने आप तक ही सीमित रखते हैं तो ये बन्धन बन जाते हैं परन्तु जब ये अपने ऊपर वाले तत्व की ओर उन्मुख करते हैं तो मुक्ति के साधन बन जाते है। कला भी वही श्रेष्ठ है जो मनुष्य को अपने आप में सीमित न रखकर परम तत्व की ओर उन्मुख कर देती है। कला का स्वरूप है आत्मा-स्वरूप का साक्षात्कार या परमतत्व की ओर उन्मुखीकरण। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि लेखक ने प्रायः इस परमतत्व की ओर उन्मुखीकरण का विशेष उल्लेख नहीं किया है परन्तु सिद्धान्ततः वे भारतीय कला का लक्ष्य अलौकिक रस की प्राप्ति ही मानते हैं।[१]

प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद विविध और बहुसंख्यक रहे हैं। लेखक ने पुस्तक में रईस की दैनिक कृतियों का आभास दिया हैं जिससे इन कलाओं के विकास पर आश्चर्य होता है जो उस ऐश्वर्य युग में वर्धमान हुईं थीं। इस प्रकार यह पुस्तक भारत में [illegible] की पृष्ठभूमि प्रदान करती है।[१]

५

इतिहास लेखक द्विवेदी

इतिहास लेखन का आदर्श : भारतीय और पश्चिम

इतिहास एक तो राजनीतिक और सामाजिक हुआ करता है। उसके लेखन सम्बन्धी आदर्श बदल रहे हैं। पहले राजनीतिक घटनाओं एवं राजाओं के युद्ध-विग्रह की प्रमुखता रहा करती थी, परन्तु यह पुरानी परिपाटी बहुत कुछ परिवर्तित हो गई है और अब सामाजिक भूमिका पर समस्त राष्ट्रीय जीवन की दिशाओं को आधार बनाकर इतिहासलेखन-प्रणाली चल पड़ी हैं। नवीन इतिहास लेखक राजा या राज्य का नेतृत्व करने वाले लोगों को केन्द्र में न रखकर सामाजिक जीवन की विविध दिशाओं के क्रमिक विकास की समस्त रूपरेखा को केन्द्र में रखकर इतिहास लिख रहे हैं। इसी के साथ इतिहास लेखन की और भी कई मध्यवर्तिनी दिशायें हैं। उदाहरण के लिए किसी एक महान घटना को केन्द्र में रखकर उसका विस्तार से वर्णन करते हुए भी इतिहास लिखा जाता है। जैसे कि फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति को केन्द्र बनाकर इतिहास लिखे गये हैं। दीर्घकाल तक यूरोपीय देशों को प्रभावित करने वाले वृतांतों को केन्द्र में रखकर ऐतिहासिक लेखन और विवेचन किया जाता है।

हमारा प्रयोजन यहाँ साहित्यिक इतिहास लेखन से है। साहित्यिक इतिहास भी हिन्दी साहित्य का एक अंग है। हमारे यहाँ कवि परिचय या कवि-वृत्त के रूप में इतिहास लेखन का प्रारम्भ हुआ था। इस प्रकार के इतिहासों में हमें संवत् १९४० में लिखा शिवसिंह सेंगर का शिवसिंह सरोज' पहले पहल मिलता है जिसमें कवियों का विवरण और उनके काव्य ग्रन्थों आदि का विवरण दिया गया है। इसी के आधार पर सं० १९४६ में सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' लिखा इसमें शिवसिंह सेंगर से यही

एक विशेषता है—कि साहित्य के काल विभाग के साथ समय समय पर उठी हुई एक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया है। यह शिवसिंह सरोज से अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक शैली में लिखा गया है। तत्पश्चात् कई अंग्रेजों ने छोटे मोटे इतिहास ग्रंथ लिखे।

दूसरी कड़ी मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रस्तुत की गई जिसमें इतिहास को युगों में विभाजित कर विभिन्न युगों की साहित्यिक धाराओं को प्रकाश में लाया गया। इसमें साथ ही कवियों के प्रत्येक युग के इतिवृत्त भी दिये गये जिसके कारण 'मिश्रबन्धु विनोद भी समग्र या वस्तुमूलक इतिहास की भूमिका पर नहीं पहुँचा। फिर भी इतिहास को इतिवृत्तात्मक धाराबद्ध एवं विस्तारपूर्वक लिखने का श्रेय सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं को दिया जाता है।

इतिहास की तीसरी कड़ी वास्तव में शुक्ल जी ने जोड़ी। उन्होंने विभिन्न युगों की प्रमुख प्रवृत्तियों को आधार बनाकर युगों का नामकरण किया और युग विशेष की प्रवृत्तियों की भूमिका पर ही कवि चर्चा की। इस तरह प्रवृत्तियों एवं कवियों के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिक समीप लाने का महत्व शुक्ल जी को दिया गया है और एक मापरेखा भी बनाई गई जिसमें कि लोकमुखी जीवनधारा का या लोक की प्रतिनिधि विचारधारा या भावधारा का आधार लेकर युगीन प्रवृत्तियों की खोज की गई और उन युगीन प्रवृत्तियों के कवियों का प्रदर्शन कराया गया। इस तरह लोकाभिमुख साहित्यिक और वैचारिक प्रतिमानों की भूमिका पर शुक्लजी ने इतिहास का निर्माण किया। मिश्र बन्धुओं की अपेक्षा साहित्यिक इतिहास का अधिक प्रशस्त आधार शुक्लजी के इतिहास में विद्यमान है। इस तरह लोकजीवन या सामाजिक जीवन की भूमिका पर साहित्यिक प्रवृत्तियों का निरूपण और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर वैयक्तिक कवियों की काव्य रचनाओं का निरूपण इन तीनों सूत्रों का समाहित स्वरूप शुक्लजी के इतिहास में देखा जाता है। इनका समग्र समाहार नहीं हुआ है। कवियों का बड़ी संख्या दी है। उन सबका कतिपय सीमित प्रवृत्तियों के भीतर समावेश करना सम्भव न था। विशेषकर आधुनिक साहित्य में तो कवियों की अधिक संख्या एक ही युग में चलने वाली प्रवृत्तियों का इतना वैविध्य था कि शुक्ल जी को आधुनिक युग को कई उत्थानों में विभाजित करना पड़ा। यह उत्थान शैली उन्होंने अन्य कालों के लिये नहीं बरती। इससे साहित्य इतिहास लेखन की और आधुनिक इतिहास लेखन शैली की कठिनाइयों का परिचय मिलता है।

कवियों की वैयक्तिक समीक्षा का पक्ष सीमित कर दिया गया है और युगीन काव्य प्रवृत्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। एक और विशेषता डा० श्यामसुन्दरदास के इतिहास में यह है कि उन्होंने विभिन्न युगों के काव्य रचना के साथ अन्य ललित कलाओं का इतिवृत्त भी दे दिया है। जिसमें विभिन्न युगों की कलात्मक अभिव्यंजनाओं को एक समाहित पट पर रखकर देखा जा सकता है। बाबू श्यामसुन्दरदास के सामने युगजन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के साथ व्यक्ति-गत रूप से कवियों के काव्य रचना के व्यवहार का प्रश्न नहीं था, क्योंकि उन्होंने बहुत थोड़े कवियों को विचारार्थ रखा था। उनका इतिहास भी विवर-णात्मक इतिहास नहीं है।

इसके पश्चात् द्विवेदी जी का इतिहास आता है। यह आकार में सबसे छोटा है। इसमें विद्यार्थियों की सीमाओं का भी ध्यान रखा गया है जिसके कारण इस इतिहास ग्रंथ में शोध सम्बन्धी विवेचनात्मक पक्ष या सिद्धान्त निरू-पण सम्बन्धी शास्त्रीय विचार अधिक नहीं आ सके हैं क्योंकि एक विशेष प्रयोजन से लिखा हुआ यह एक धारावाहिक इतिहास ग्रंथ है।

इतिहास लेखन शैली

इतिहास लेखन की आदर्श प्रणाली क्या हो सकती है इस विषय में हम अंग्रेजी साहित्य के आधुनिक इतिहास ग्रन्थों पर दृष्टिपात करें। पहली बात उनके यहाँ लम्बे युगों की कल्पना नहीं की गई जैसे अपने यहाँ भक्ति युग ३०० वर्षों एवं रीतिकाल २०० वर्षों जैसे लम्बे अर्सों के युग नही रखे गये हैं जिसके कारण युगीन प्रवृत्तियों का एक मोटा परिचय दिया जाता है। वीरगाथाकाल, (आदिकाल) ३०० वर्षों तक बहने वाली धारा का जो सामान्य परिचय है युग के साथ नहीं किसी भी युग की साहित्य की प्रवृत्तियां विकासमान हैं तो इतनी समरस नहीं हो सकती। आदिकाल में जैसे बौद्धों का रहस्यवाद अपभ्रंश भाषा मे लौकिक काव्य जिसने वीरगाथा की रचनायें, जैनों का धार्मिक सिद्ध साहित्य एक ही युग मे समानान्तर दिखाई पड़ते हैं। इसलिए युगों की दीर्घता का निरू-पण हिन्दी के इतिहास में चला आ रहा है वह संदिग्ध उपक्रम बन गया है। वास्तव में यूरोपीय इतिहास मे कोई युग ५०–६० वर्षों से अधिक नहीं होता तब भिन्न भिन्न स्थिति को उपस्थित करने में ज्यादा अवकाश रहता है। नामकरण की समस्या में कठिनाई नहीं होती है। एक ही युग में चलने वाली प्रवृत्ति का स्वतन्त्र रूप से निरूपण कर सकते हैं। यूरोपीय इतिहासकार काव्य शैली एवं काव्यरूपों को दूसरा समाज देते हैं। युग निरूपण के बदि काव्य रूपों को जैसे

प्रबन्ध काव्य, नाट्य साहित्य, गद्य साहित्य को अलग अलग देखते हैं इस तरह विभिन्न सहित्य रूपों का युग आता है उससे युगीन काव्य में किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ है, प्रबन्धकाव्य में क्या आदर्श है सबका एक चित्र सम्मुख आ जाता है। इतिहास को फैलावदार होने के लिये जब हम समय की मात्रा, काव्यरूपों की प्रगल्भता का विवेचन और भिन्न भिन्न काव्य रूपों, काव्यशैली को लेते हैं तब हमारा सीधा संबन्ध कवि से हो जाता है। प्रबन्ध कवियों एवं प्रगीत कवियों की युग के भीतर परिमित संख्या रहती है। अलग-अलग काव्य एवं काव्यरूपों का बटवारा हो जाने पर कवियों की कृति को काव्यधारा के साथ जोड़ने में अधिक सुगमता हो जाती है इस तरह समरसता का इतिहास लिखना सुलभ हो जाता है। हिन्दी इतिहास लेखन में अन्तर्निहित एक असामंजस्य दिखाई दे रहा है जिसमें कवियों की गणना के साथ युग का आकलन जुड़ नहीं पाता इस असामंजस्य को दूर करने के लिए हम अंग्रेजी इतिहासकारों की पद्धतियों से सहायता ले सकते हैं। हमें उसका आधार ले लेना चाहिए। इस तरह कहा जा सकता है, प्रथमत: कवि को ही या कवियों के समुदाय को काव्य रूप में ढालकर काव्यरूपों के समुच्चय को समग्र युगीन इकाई में ढालदें और तब हम निष्कर्ष के रूप मे आदि मध्य युग का सामान्य परिचय दें। यदि हम काव्य रूपों को बता सकें साथ ही कवियों की अपनी अपनी विशेषताओं को दूसरी तरह प्रकाश में ला सकें, तुलनात्मक उद्भासित कर सकें तो अधिक सुसंगत एवं साहित्यिक कहा जा सकता है।

द्विवेदीजी की इतिहास लेखन शैली की विशेषता व आदर्श

'हिन्दी साहित्य' इसका आकार सीमित है और शुक्ल जी की इतिहास की अपेक्षा इसमें कवियों की और प्रवृत्तियों की चर्चा संक्षेप में दी गई है।

द्विवेदीजी की इतिहासलेखन की स्वच्छन्दशैली है। विद्यार्थियों के लिखे गए इस पुस्तक में धारावाहिक शैली के प्रवाह को अपनाया गया है। शास्त्रीय विवेचन के शब्द बहुत कम मिलते हैं। सामान्य पाठक को, कलात्मक समीक्षा का ज्यादा प्रयोजन नहीं है, ऐसे लोगों को दृष्टि में रखकर ही इस पुस्तक को अशास्त्रीय बनाने का प्रयत्न किया है। साहित्य विवेचन से शास्त्रीय तत्व में बाधा पड़ती है। पारिभाषिक शब्दों के ग्रन्थ में शास्त्रीयता आती है पर सार्व-जनिक ग्राह्यता नहीं आती। मध्यमार्ग का अनुसरण कर उन्होंने कोरा साहित्य नहीं पर विशेष रूप से सामान्य पाठक की दृष्टि से इतिहास ग्रन्थ लिखा है। ऐसा करते हुए भी काव्य की अधिकांश बातें, कवियों के सम्बन्ध में

केन्द्रीय विचार को प्रातिभ पद्धति से मूल विशेषताओं का उल्लेख करते चले गए हैं।

सबसे बड़ी विशेषता इनकी यह है कि इन्होंने इतिहास लेखन में भी मानवतावादी दृष्टिकोण को सामने रखकर इतिहास लिखा है।

द्विवेदीजी अन्य इतिहास लेखकों से एक कदम आगे बढ़ गये हैं। इतिवृत्तात्मकता को छाँट दिया है, हटा दिया है। कवियों के साथ युगीन प्रवृत्तियों का सामंजस्य ला सके हैं। लेकिन साथ ही इस इतिहास में समग्रता या लेखकों या कवियों की बहुलता नही मिलती अधिक विस्तृत और बड़ा इतिहास लिखने के लिये यदि यह प्रणाली अपनाई जाय जिसे सक्षिप्त रूप मे द्विवेदी जी ने कार्यान्वित किया है तो हम इतिहास लेखन में अधिक सफलता पा सकेंगे।

अन्य एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है। आधुनिक खंड मेंप्राय: १०० पृष्ठों के अन्तर्गत संपूर्ण आधुनिक साहित्य का एक धारावाहिक चित्र उपस्थित किया है लोगों को इस पर शिकायत हो सकती है। इसमें बहुत से कवियों का विवेचन नहीं हुआ है। चुने हुये कवियों को विचारार्थ ले लिया गया है। जितनी धारा को लिया, वर्ग एवं उत्थान बनाये उनका स्वरूपगत परिचय व्यवस्थित रूप से आ गया है। इतिहास लेखन की मूल कठिनाई है कि वह धाराओं का उल्लेख करे और दूसरी ओर कवियों के वैशिष्ट्य का परिचय दे, इस द्विविधात्मक कार्य के लिए सबसे अच्छी प्रणाली अपनायी जा सकती थी उसे द्विवेदी जी ने अपनाया है।

विभिन्न युगों का नामकरण विभाजन उन युगों की सामाजिक पृष्ठभूमि और साहित्यिक प्रवृत्तियों की समानता के आधार पर किया है। इसके पश्चात् इन विभिन्न युगों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर युगों का नामकरण किया है। इसके पश्चात् इन विभिन्न युगों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है और उन प्रवृत्तियों के परिचायक प्रमुख कवियों का समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। इस प्रकार अन्विति की दृष्टि से द्विवेदी का इतिहास अधिक सुसम्बद्ध कहा जा सकता है। शुक्ल जी द्वारा युगीन प्रवृत्तियों का निरूपण और युगीन कवियों की विवेचना उतनी संबद्ध नहीं है, अलग अलग दिखा देती है। आधुनिक धारणा के अनुसार इतिहास की संबद्धता के लिए प्रवृत्तियाँ और कवियों की काव्य रचना अधिक समीप पहुँचनी चाहिए और दोनों का अन्तर मिट जाना चाहिए। शुक्ल जी इस अन्तर को इसी तरह न मिटा सके

प्रबन्ध काव्य, नाट्य साहित्य, गद्य साहित्य को अलग अलग देखते हैं इस तरह विभिन्न सहित्य रूपों का युग आता है उससे युगीन काव्य में किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं, प्रबन्धकाव्य में क्या आदर्श है सबका एक चित्र सम्मुख आ जाता है। इतिहास को फैलावदार होने के लिये जब हम समय की मात्रा, काव्यरूपों की प्रगल्भता का विवेचन और भिन्न भिन्न काव्य रूपों, काव्यशैली को लेते हैं तब हमारा सीधा संबन्ध कवि से हो जाता है। प्रबन्ध कवियों एवं प्रगीत कवियों की युग के भीतर परिमित संख्या रहती है। अलग-अलग काव्य एवं काव्यरूपों का बटवारा हो जाने पर कवियों की कृति को काव्यधारा के साथ जोड़ने में अधिक सुगमता हो जाती है इस तरह समरसता का इतिहास लिखना सुलभ हो जाता है। हिन्दी इतिहास लेखन में अन्तर्निहित एक असामंजस्य दिखाई दे रहा है जिसमें कवियों की गणना के साथ युग का आकलन जुड़ नहीं पाता इस असामंजस्य को दूर करने के लिए हम अंग्रेजी इतिहासकारों की पद्धतियों से सहायता ले सकते है। हमें उसका आधार ले लेना चाहिए। इस तरह कहा जा सकता है, प्रथमत: कवि को ही या कवियों के समुदाय को काव्य रूप में ढालकर काव्यरूपों के समुच्चय को समग्र युगीन इकाई में ढालदें और तब हम निष्कर्ष के रूप मे आदि मध्य युग का सामान्य परिचय दें। यदि हम काव्य रूपों को बता सकें साथ ही कवियों की अपनी अपनी विशेषताओं को दूसरी तरह प्रकाश में ला सकें, तुलनात्मक उद्भासित कर सकें तो अधिक सुसंगत एवं साहित्यिक कहा जा सकता है।

द्विवेदीजी की इतिहास लेखन शैली की विशेषता व आदर्श

'हिन्दी साहित्य' इसका आकार सीमित है और शुक्ल जी की इतिहास की अपेक्षा इसमें कवियों की और प्रवृत्तियों की चर्चा संक्षेप में दी गई है।

द्विवेदीजी की इतिहासलेखन की स्वच्छन्दशैली है। विद्यार्थियों के लिखे गए इस पुस्तक मे धारावाहिक शैली के प्रवाह को अपनाया गया है। शास्त्रीय विवेचन के शब्द बहुत कम मिलते हैं। सामान्य पाठक को, कलात्मक समीक्षा का ज्यादा प्रयोजन नही है, ऐसे लोगों को दृष्टि में रखकर ही इस पुस्तक को अशास्त्रीय बनाने का प्रयत्न किया है। साहित्य विवेचन से शास्त्रीय तत्व में बाधा पड़ती है। पारिभाषिक शब्दों के ग्रन्थ में शास्त्रीयता आती है पर सार्वजनिक ग्राह्यता नहीं आती। मध्यमार्ग का अनुसरण कर उन्होंने कोरा साहित्य नहीं पर विशेष रूप से सामान्य पाठक की दृष्टि से इतिहास ग्रन्थ लिखा है। ऐसा करते हुए भी काव्य की अधिकांश बातें, कवियों के सम्बन्ध में

केन्द्रीय विचार को प्रातिभ पद्धति से मूल विशेषताओं का उल्लेख करते चले गए हैं।

सबसे बड़ी विशेषता इनकी यह है कि इन्होंने इतिहास लेखन में भी मानवतावादी दृष्टिकोण को सामने रखकर इतिहास लिखा है।

द्विवेदीजी अन्य इतिहास लेखकों से एक कदम आगे बढ़ गये हैं। इतिवृत्तात्मकता को छाँट दिया है, हटा दिया है। कवियों के साथ युगीन प्रवृत्तियों का सामंजस्य ला सके हैं। लेकिन साथ ही इस इतिहास में समग्रता या लेखकों या कवियों की बहुलता नहीं मिलती अधिक विस्तृत और बड़ा इतिहास लिखने के लिये यदि यह प्रणाली अपनाई जाय जिसे सक्षिप्त रूप में द्विवेदी जी ने कार्यान्वित किया है तो हम इतिहास लेखन में अधिक सफलता पा सकेंगे।

अन्य एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है। आधुनिक खंड मेंप्राय: १०० पृष्ठों के अन्तर्गत संपूर्ण आधुनिक साहित्य का एक धारावाहिक चित्र उपस्थित किया है लोगों को इस पर शिकायत हो सकती है। इसमें बहुत से कवियों का विवेचन नहीं हुआ है। चुने हुये कवियों को विचारार्थ ले लिया गया है। जितनी धारा को लिया, वर्ग एवं उत्थान बनाये उनका स्वरूपगत परिचय व्यवस्थित रूप से आ गया है। इतिहास लेखन की मूल कठिनाई है कि वह धाराओं का उल्लेख करे और दूसरी ओर कवियों के वैशिष्ट्य का परिचय दे, इस द्विविधात्मक कार्य के लिए सबसे अच्छी प्रणाली अपनायी जा सकती थी उसे द्विवेदी जी ने अपनाया है।

विभिन्न युगों का नामकरण विभाजन उन युगों की सामाजिक पृष्ठभूमि और साहित्यिक प्रवृत्तियों की समानता के आधार पर किया है। इसके पश्चात् इन विभिन्न युगों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर युगों का नामकरण किया है। इसके पश्चात् इन विभिन्न युगों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है और उन प्रवृत्तियों के परिचायक प्रमुख कवियों का समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। इस प्रकार अन्विति की दृष्टि से द्विवेदी का इतिहास अधिक सुसम्बद्ध कहा जा सकता है। शुक्ल जी द्वारा युगीन प्रवृत्तियों का निरूपण और युगीन कवियों की विवेचना उतनी संबद्ध नहीं है, अलग अलग दिखा देती है। आधुनिक धारणा के अनुसार इतिहास की संबद्धता के लिए प्रवृत्तियाँ और कवियों की काव्य रचना अधिक समीप पहुँचनी चाहिए और दोनों का अन्तर मिट जाना चाहिए। शुक्ल जी इस अन्तर को इसी तरह न मिटा सके

प्रबन्ध काव्य, नाट्य साहित्य, गद्य साहित्य को अलग अलग देखते हैं इस तरह विभिन्न सहित्य रूपों का युग आता है उससे युगीन काव्य मे किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं, प्रबन्धकाव्य में क्या आदर्श है सबका एक चित्र सम्मुख आ जाता है। इतिहास को फैलावदार होने के लिये जब हम समय की मात्रा, काव्यरूपों की प्रगल्भता का विवेचन और भिन्न भिन्न काव्य रूपों, काव्यशैली को लेते हैं तब हमारा सीधा संबन्ध कवि से हो जाता है। प्रबन्ध कवियों एवं प्रगीत कवियों की युग के भीतर परिमित संख्या रहती है। अलग-अलग काव्य एवं काव्यरूपों का बटवारा हो जाने पर कवियों की कृति को काव्यधारा के साथ जोड़ने में अधिक सुगमता हो जाती है इस तरह समरसता का इतिहास लिखना सुलभ हो जाता है। हिन्दी इतिहास लेखन में अन्तर्निहित एक असामंजस्य दिखाई दे रहा है जिसमें कवियों की गणना के साथ युग का आकलन जुड़ नहीं पाता इस असामंजस्य को दूर करने के लिए हम अंग्रेजी इतिहासकारों की पद्धतियों से सहायता ले सकते हैं। हमें उसका आधार ले लेना चाहिए। इस तरह कहा जा सकता है, प्रथमत: कवि को ही या कवियों के समुदाय को काव्य रूप में ढालकर काव्यरूपों के समुच्चय को समग्र युगीन इकाई में ढालदें और तब हम निष्कर्ष के रूप में आदि मध्य युग का सामान्य परिचय दें। यदि हम काव्य रूपों को बता सकें साथ ही कवियों की अपनी अपनी विशेषताओं को दूसरी तरह प्रकाश में ला सकें, तुलनात्मक उद्भासित कर सकें तो अधिक सुसंगत एवं साहित्यिक कहा जा सकता है।

द्विवेदीजी की इतिहास लेखन शैली की विशेषता व आदर्श

'हिन्दी साहित्य' इसका आकार सीमित है और शुक्ल जी की इतिहास की अपेक्षा इसमें कवियों की और प्रवृत्तियों की चर्चा संक्षेप में दी गई है।

द्विवेदीजी की इतिहासलेखन की स्वच्छन्दशैली है। विद्यार्थियों के लिखे गए इस पुस्तक में धारावाहिक शैली के प्रवाह को अपनाया गया है। शास्त्रीय विवेचन के शब्द बहुत कम मिलते हैं। सामान्य पाठक को, कलात्मक समीक्षा का ज्यादा प्रयोजन नहीं है, ऐसे लोगों को दृष्टि में रखकर ही इस पुस्तक को अशास्त्रीय बनाने का प्रयत्न किया है। साहित्य विवेचन से शास्त्रीय तत्व में बाधा पड़ती है। पारिभाषिक शब्दों के ग्रन्थ में शास्त्रीयता आती है पर सार्व-जनिक ग्राह्यता नहीं आती। मध्यमार्ग का अनुसरण कर उन्होंने कोरा साहित्य नहीं पर विशेष रूप से सामान्य पाठक की दृष्टि से इतिहास ग्रन्थ लिखा है। ऐसा करते हुए भी काव्य की अधिकांश बातें, कवियों के सम्बन्ध में

केन्द्रीय विचार को प्रातिभ पद्धति से मूल विशेषताओं का उल्लेख करते चले गए हैं।

सबसे बड़ी विशेषता इनकी यह है कि इन्होंने इतिहास लेखन में भी मानवतावादी दृष्टिकोण को सामने रखकर इतिहास लिखा है ।

द्विवेदीजी अन्य इतिहास लेखकों से एक कदम आगे बढ़ गये हैं। इतिवृत्तात्मकता को छाँट दिया है, हटा दिया है। कवियों के साथ युगीन प्रवृत्तियों का सामंजस्य ला सके हैं । लेकिन साथ ही इस इतिहास में समग्रता या लेखकों या कवियों की बहुलता नही मिलती अधिक विस्तृत और बड़ा इतिहास लिखने के लिये यदि यह प्रणाली अपनाई जाय जिसे संक्षिप्त रूप मे द्विवेदी जी ने कार्यान्वित किया है तो हम इतिहास लेखन मे अधिक सफलता पा सकेंगे।

अन्य एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है। आधुनिक खंड मेंप्राय: १०० पृष्ठों के अन्तर्गत संपूर्ण आधुनिक साहित्य का एक धारावाहिक चित्र उपस्थित किया है लोगों को इस पर शिकायत हो सकती है। इसमें बहुत से कवियों का विवेचन नहीं हुआ है। चुने हुये कवियों को विचारार्थ ले लिया गया है । जितनी धारा को लिया, वर्ग एवं उत्थान बनाये उनका स्वरूपगत परिचय व्यवस्थित रूप से आ गया है। इतिहास लेखन की मूल कठिनाई है कि वह धाराओं का उल्लेख करे और दूसरी ओर कवियों के वैशिष्ट्य का परिचय दे, इस द्विविधात्मक कार्य के लिए सबसे अच्छी प्रणाली अपनायी जा सकती थी उसे द्विवेदी जी ने अपनाया है।

विभिन्न युगों का नामकरण विभाजन उन युगों की सामाजिक पृष्ठभूमि और साहित्यिक प्रवृत्तियों की समानता के आधार पर किया है। इसके पश्चात् इन विभिन्न युगों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर युगों का नामकरण किया है। इसके पश्चात् इन विभिन्न युगों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है और उन प्रवृत्तियों के परिचायक प्रमुख कवियों का समीक्षात्मक परिचय दिया गया है। इस प्रकार अन्विति की दृष्टि से द्विवेदी का इतिहास अधिक सुसम्बद्ध कहा जा सकता है। शुक्ल जी द्वारा युगीन प्रवृत्तियों का निरूपण और युगीन कवियों की विवेचना उतनी संबद्ध नहीं है, अलग अलग दिखा देती है। आधुनिक धारणा के अनुसार इतिहास की संबद्धता के लिए प्रवृत्तियाँ और कवियों की काव्य रचना अधिक समीप पहुँचनी चाहिए और दोनों का अन्तर मिट जाना चाहिए। शुक्ल जी इस अन्तर को इसी तरह न मिटा सके

क्योंकि उनको मिश्रबन्धुओं का इतिवृत्तात्मक उपलब्ध था, कवि चर्चा उपलब्ध थी, जिनकी चर्चा अपने ढंग से करना था। उसके सामने शिवसिंह सेंगर 'सरोज' उपलब्ध था। इनका उपयोग करने के लक्ष्य से शुक्लजी ने कवियों का इतिवृत्तात्मक परिचय, तिथियां और उनके काव्य, रचनाओं के नाम, विषयवस्तु और उनके वैशिष्ट्य का भी विवेचन किया है परन्तु इस वस्तुमूलक विवेचन के साथ वे प्रवृत्तिमूलक विवेचन को समन्वित नहीं कर सके। एक खाई बनी रही है। द्विवेदीजी का लक्ष्य इतिहास की इतिवृत्तात्मकता नहीं था। कतिपय प्रतिनिधि कवियों के नामोल्लेख एवं विवेचन मे ही काम चलाया। यथासंभव जीवनी एवं तिथियों से विरक्त रहे हैं। अतएव युगीन प्रवृत्तियों के साथ कवियों लेखकों का चरित्रचित्रण संतुलन करने मे अधिक सफल हुए हैं। इनके समक्ष आदिकाल की समग्री अधिक विस्तृत रूप मे उपस्थित थी। अतएव वे हिन्दी साहित्य के आदि काल को कई शाखाओं एवं प्रशाखाओं मे विभक्त कर सके जबकि शुक्लजी ने अपभ्रंश काल की स्वतन्त्र स्थिति मानकर हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल पूर्वपीठिका के रूप में उन कृतियों को दिया है। अपभ्रंश के विकसित रूप में हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काव्य को समन्वित करने मे द्विवेदीजी अधिक सफल हुए हैं।

द्विवेदीजी ने इतिहासलेखन शैली के शास्त्रीय पद्धति को अपनाकर सीधे सम्पर्क की शैली को अपनाया है अपने विचारों को किसी विशेष रूप से न लेकर प्रमुख कवियों की केन्द्रीय आधार को विशेषता बनाकर लिखा है। उनकी इतिहास सम्बन्धी मान्यता साहित्य के परवर्ती इतिहासकारों अथवा इतिहास शास्त्र के अध्यापकों की मान्यता से बिल्कुल भिन्न हैं। इतिहास को वे गड़ामुर्दा या विगत तथ्यों का ब्योरा नहीं मानते, बल्कि उसे एक जीवन शक्ति मानते है जिसे वे इतिहास विधाता या इतिहास देवता कहते है। अत: उनके अनुसार मनुष्य ही इतिहास को नहीं बनाता बल्कि इतिहास ही मनुष्य को बनाता है। इस प्रकार इतिहास सामाजिक जीवनधारा का प्रवाह जो एक ओर व्यक्ति को समाप्ति में डुबोता रहता है। इस प्रकार इतिहास ने द्विवेदीजी को सांस्कृतिक नैरन्तर्य का वह अमोघ अस्त्र प्रदान किया है जिसके कारण आदिकालीन और मध्य-कालीन हिन्दी साहित्य में उनका प्रवेश सहज और सुकर हो सका है। इनके दृष्टिकोण की विशिष्टता यह है कि भारतीय साहित्य को इकाई रूप मे मान, हिन्दी को उसका अंग माना है। द्विवेदीजी की इतिहासलेखन शैली आधुनिकता को लिए हुए हैं।

शुक्लजी का आदर्श

शुक्लजी का दृष्टिकोण शास्त्रीय है। साथ ही वे लोकमंगलवादी और

रसवादी आलोचक भी थे। इन दोनों कारणों से साहित्य के प्रति उनकी एक विशेष धारणा थी जिनका आदर्श रूप उन्हें तुलसी में प्राप्त हुआ था। इसी पूर्वाग्रह के साथ उन्होंने प्रत्येक कवि और प्रत्येक युग के साहित्य पर विचार किया है। इतिहास के लिए जो मानदण्ड शुक्लजी ने स्थिर किया था उससे द्विवेदीजी का मानदण्ड बिल्कुल भिन्न है। वस्तुत: ये दोनों आचार्य साहित्य को दो दिशाओं और दो भिन्न दृष्टियों से देखते हैं। शुक्लजी ने अपनी तर्क शैली की निपुणता विचारों की अन्विति और दृढ़ता तथा सूक्ष्म साहित्यिक दृष्टि के बावजूद भी उन तमाम स्रोतों और प्रभावों की उपेक्षा की है जिसका सम्यक् उद्घाटन और विवेचन द्विवेदी जी ने किया है। शुक्लजी ने यदि हिन्दी साहित्य को उसका इतिहास दिया है तो द्विवेदीजी ने सचमुच उस साहित्य की भूमिका प्रस्तुत की है और इस तरह उनके अधूरे कार्य को पूरा किया है। वस्तुत: ये दोनों व्यक्तित्व एक दूसरे के पूरक हैं प्रतिद्वन्दी नहीं।

युगों के नामकरण का प्रश्न

नामकरण की प्रणाली यूरोपीय साहित्य मे भारतीय साहित्य की तरह नही है, वहाँ कभी-कभी राजाओं के नाम पर रखे गये है। वहाँ के लोगों में कोई एक समरस आधार नहीं है बल्कि सहसा किसी युग की प्रवृत्तियों की जो केन्द्रीय शक्ति है उसके नाम पर साहित्यिक युग का भी नाम करण कर दिया गया है। इसका कारण यह है कि पश्चिमी साहित्यिक प्रवृत्तियों या शैलियों का थोडे समय में परिवर्तन हुआ है और इतिहास लेखक दर्जनों भागों में इतिहास को बांटते हैं। इससे उनकी जागरूकता छोटे-छोटे भेदों को पहचानने की शक्ति का परिचय मिलता है। हिन्दी साहित्य मे जो तीन या चार भाग रख दिये गये हैं इससे तीन चार भागों के ही नाम याद रखना पड़ता है परन्तु इससे इतिहास की प्रवृत्तियां आवरण मे ढकी रह जाती हैं और साहित्य के इतिहास की सूक्ष्मतर विशेषतायें प्रकाश में नहीं आतीं। इससे एक और नुकसान हुआ है, वह यह कि बहुत सी प्रवृत्तियां जो मूल प्रवृत्तियों मे पृथक है, उनका निरूपण छूट जाता है। भक्तिकाल में अकबर के दरबारी कवि भी हुए, जिनमें दरबार की शालीनता है, राजनीति से सम्बन्धित या समाज से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान भी है उनका शोधकर्ताओं को तो ज्ञान हो जाता है अन्य को नहीं। इन प्रवृत्तियों को इतिहास के छोटे स्वरूप में परिवर्तित कर चलता कर देते हैं। इसी प्रकार आदियुग में विद्यापति को रखने का प्रयत्न किया गया है जिसकी सं० १००० से १३७५ तक की अवधि है। विद्यापति का काव्य चारणकाल के

काव्य से बहुत भिन्न है। वे पंडित कवि थे उन्हें संस्कृत परम्परा और विशेषकर प्रगीत की परम्परा का बोध था उन्हें इस काव्य में डालने से उनकी विशेष परंपरा का विस्तारपूर्वक परिचय नहीं मिलता। इस तरह के अभावों और अपवादों को दूर करने का प्रयत्न यदि इतिहासकार को करना है तो इतिहास को अधिक भागों में बाँटना पड़ेगा। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। यह प्रवृत्तियों के निरूपण की प्रणाली भी बहुत समीचीन नहीं है वीरगाथाकाल के काव्य का अन्त १३७५ में ही नहीं हो गया था। वह एक पूर्व निर्णय से प्रभावित है। प्रवृत्तियों के आधार पर जो साहित्यिक युगों का विभाजन किया गया वह साहित्यिक रचनाओं के अनेकविद् स्वरूपों को समझने में बाधा डालता है। अनेक धाराओं और विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता। प्रवृत्तिमूलक विभाजन मोटा विभाजन कहा जायगा।

शैलीगत विभाजन ज्यादा उपयुक्त विभाजन कहा जायगा। भक्तियुग में जहाँ प्रगीत की शैली थी वहाँ प्रबन्धों की भी रचना है। उपदेशात्मक रचनाओं की अलग शैली है। दरबारी रचनाओं की अलग शैली है। एक ही युग में जब इतनी शैली मिलती है तो ऐसा विभाजन क्यों न करें कि जिसमें शैलियों के आधार पर उसकी विशेषताओं को सामने लायें। विभिन्न शैलियों और साहित्य रूपों के आधार पर इतिहास का अध्ययन आवश्यक हैं। ऐसा होने पर एक और बड़ी त्रुटि साहित्यिक इतिहास में हो गई हैं कि कवियों के विभाजन और प्रवृत्तियों की विशेषता का संग्रथन नहीं हो पाता। इसमें इतिहास लेखक दूसरी प्रणाली का उपयोग करते हैं अर्थात् प्रवृत्तियों का व्यापक रूप से वर्णन के साथ विशिष्ट कवियों के विवरण में सामंजस्य नहीं बैठा पाते। प्रवृत्तियों को साधारण और समरस रूप में रख देते हैं। काव्य को केन्द्र में न रखकर प्रवृत्ति को केंद्र में रखने की प्रणाली उत्कृष्ट नहीं उसमें प्रवृत्ति और काव्य रचना का सामंजस्य नहीं बन पाता। पहले कवियों का वर्णन, फिर उनकी विभिन्न शैलियां, फिर शैलियों का वर्गीकरण और अन्त में मुख्य प्रवृत्तियों का वर्णन होना चाहिए। ऐसा न होने पर इतिहासकार साहित्यकार साहित्येतर विषयों पर चले जायेंगे और कवियों से समीप नहीं रहेंगे। प्रवृत्ति का वर्णन अन्त में होने से हम साहित्य का सम्बन्ध रख सकेंगे। साहित्य का इतिहास कवि की इकाइयों पर लिखा जा सकता है युगीन प्रवृत्तियों के आधार पर नहीं। सबसे उत्तम इतिहास वह होगा जिसमें युग की समस्त शैलियों, काव्यरूपों आदि को लेकर सूक्ष्म विभाग करते हुए बृहत्तर भाग करते चलें। इतिहास लेखन की प्रक्रिया और कवि और काव्य पर आश्रित होना चाहिए न कि अन्य किसी आधार पर।

रीतिकाल को भी शृङ्गारकाल आदि नाम देने का प्रधान कारण यह है

कि रीतिकालीन काव्य विशेषताओं के विभिन्न भेदों को लोगों ने ठीक से ग्रहण नहीं किया। इस काव्य में रसवादी, अलंकारवादी और वक्रोक्ति आदि कई प्रकार के कवि हैं लेकिन रीतिकालीन रसयोजना का स्वरूप अलंकार योजना का स्वरूप, वक्रोक्ति का स्वरूप ये सभी एक ही प्रवृत्ति के हैं, वह प्रवृत्ति है शास्त्रीय भूमिका पर काव्य रचना की प्रवृत्ति, बाह्यार्थ प्रधान काव्य रचना की प्रवृत्ति। श्रृङ्गारकाल के कवियों ने भी श्रृंगार रस को रीतिबद्ध रूप में लिया है। अन्य का नाम रीति शब्द की व्यापकता, उसमें अलंकार रस आदि के आधारों को ठीक से न समझने के कारण ही इतने नाम आए हैं।

क्या वह श्रृङ्गार की रीतिबद्धता नहीं है। रीति की प्रधानता नहीं है? रीति शब्द में ये सब छोटे छोटे विभाग समाहित हो जाते हैं। तो रीतिकाल की शाखा के रूप में हम आलंकारिक शास्त्र, रसशास्त्र, वक्रोक्ति आदि नाम दे सकते हैं। लेकिन उस काल को ये नाम देने से उचित न होगा। इन कारणों से, इस प्रकार यदि रीतिकाल के साहित्य का पहले कवि, फिर काव्यरूप, विषय भेद से अनेक भेद कर उनकी मुख्य विशेषताओं का निरूपण किया जाय फिर समग्र रूप से तो यह काव्य रीति की सीमा के अन्तर्गत आता है।

कालविभाजन और उसके औचित्य पर विचार

नामकरण और कालविभाजन हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रश्नों में एक प्रमुख प्रश्न है। रीतिकालीन काव्य के काल नाम हिन्दी साहित्य के अनुसार श्रृङ्गारकाल, अलंकारकाल या रीतिकाल रखा जाय? यह मूल समस्या ही हिन्दी साहित्य के कालविभाजन की समस्या है। अनेक इतिहास लेखकों ने भिन्न भिन्न नामों से भिन्न भिन्न कालों का निर्देश किया है जैसे हिन्दी के प्रारम्भिक युग के भी कई नाम लोगों ने सुझाए हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नामकरण है वीरगाथाकाल। कुछ लोग आदिकाल, कुछ लोग सिद्ध सामंत-काल और कुछ लोग अपभ्रंशकाल भी कहते हैं। यहाँ समस्या आती है कि किसी युग का नामकरण करने की केंद्रीय सत्ता या तत्त्व कौन सा होगा?

नामकरण चूँकि साहित्यिक इतिहास का है इसलिए नाम भी साहित्यिक भूमिका पर होना चाहिए। सिद्ध सामंत युग नाम साहित्यिक नहीं है। सामाजिक भूमिका पर है। इसी तरह आदिकाल शब्द किसी वस्तु विशेष, साहित्यिक प्रवृत्ति विशेष या धारा विशेष का सूचक नहीं कालविशेष का सूचक है तो हिन्दी के साहित्य का विभाजन काल के आधार पर हो यह तर्क सम्मत नहीं है। इस

ग्रन्थ रचा हो केवल वह ही रीति कवि नहीं है बल्कि जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीति कवि है।

श्रृङ्गार शब्द रस विशेष है जो रस राज है। श्रृङ्गार का विस्तार कालिदास से लेकर संस्कृत के अनेकानेक काव्यों में हैं। जयदेव का गीतगोविन्द भी श्रृङ्गार प्रधान है। वीरगाथाकाल में श्रृंगार की प्रधानता है। सूर में भी श्रृंगार की प्रधानता है। ऐसे एक व्यापक शब्द को जो प्रारम्भ से आज तक कम या अधिक मात्रा में चला आ रहा है किसी युग के नामकरण का आधार कैसे बन सकता है? श्रृंगार के उदात्त अनुदात्त, वासनामय, परिष्कृत अनेकानेक भेद हैं जबकि इस तथाकथित काल में एक विशेष ढंग से श्रृंगार की रचना हुई है। फिर इसका नाम श्रृंगारकाल कहने से अन्य कालों के विषय में क्या होगा? इसलिये इसे मानने में अव्याप्ति दोष है। अतः हम इस काल को श्रृंगार काल तो नहीं कह सकते।

अब विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि रीतिकाल को अलंकृतकाल या कला काल कहना कहाँ तक उपयुक्त है? इन दोनों नामों में विवेच्य काल की सामान्य प्रवृत्ति का बोध नहीं हो पाता है। रीतिकाल की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति रीति परम्परा है। उक्त दोनों नामों से उसकी सर्वथा उपेक्षा हो जाती है। फिर यहाँ अलंकृत या अलंकरण शब्दों से क्या समझा जाये? अलंकार संप्रदाय वास्तव में एक ऐसा संप्रदाय है जिसमे अलंकार को काव्य की आत्मा माना गया है। यदि हम इस काल को अलंकार काल कहते हैं तो यह भी सोचना पड़ेगा कि क्या सभी कवियों की दृष्टि काव्य को अलंकार प्रधान मानने की थी। उस समय के रीतिग्रंथों के पढ़ने पर यह निश्चित जान पड़ता है कि काव्य की आत्मा रस है या अलंकार। यहाँ अलंकार का सीमित अर्थ है। व्यापक अर्थ में जितनी उक्ति चमत्कार प्रधान वैचित्र्य की सृष्टियाँ हैं वे आलंकारिक कही जायेगी यह बात उस युग में है अलंकार शब्द की व्याप्ति रीति शब्द की तुलना में सीमित हो है कई रचनायें रीतिबद्ध तो हैं पर अलंकार मुक्त नहीं। इस युग के कवियों ने अलंकार या चमत्कार को प्रधानता दी है पर यहाँ अलंकार तो रीति का एक अंग है अतः यह नाम कहाँ तक संगत है यह सोचना होगा, बहुत सी ऐसी रचनायें हैं जो रीतिमय तो हैं पर अलंकारमय नहीं है। यहाँ अलंकार रीति के एक अंग के रूप में आता है। दरबारी कविता का काव्य, लौकिक काव्य था इसमें अधिकांश कवि किसी न किसी दरबार के आश्रित थे। दरबारी कविता तो कालिदास और चन्दबरदाई की भी थी। तो दरबारी काव्य का कोई एक निर्धारित स्वरूप नहीं कहा जा सकता। यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि प्रस्तुत काल में अलंकारों

का-लक्षणोदाहरण रूप में निरूपण हुआ अतः इसे अलंकृत काल की संज्ञा से अभिहित किया जाय तो भी संगत नहीं क्योंकि अलंकारों के साथ साथ काव्य के अन्य अंगों का भी तो इस काल में निरूपण हुआ। और फिर रीतिकालीन कवि कविता के वाह्य अलंकरण में उलझा रहा हो ऐसी बात भी नहीं क्योंकि रीति-कालीन साहित्य में उस समय के कवि के भाव प्रवण हृदय के सरस और मनो-रम भावरत्न भी तो प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। अलंकृत काल और शृङ्गारकाल नाम उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति का ठीक तरह से प्रतिनिधित्व नहीं करते।

साहित्य के इतिहास का कालविभाजन कृति, कर्त्ता, पद्धति और विषय की दृष्टि से किया जा सकता है। कभी कभी नामकरण के किसी दृढ़ आधार के उपलब्ध न होने पर उस काल के किसी अत्यन्त प्रभावशाली साहित्यकार के नाम पर ही उस काल का नामकरण कर दिया जाता है जैसे भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग आदि। कभी कभी साहित्य सर्जन की शैलियों के आधार पर काल-विभाजन कर दिया जाता है जैसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग आदि। पर शुक्ल जी के नामकरण का प्रमुख आधार तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ हैं। शुक्ल जी के काल विभाजन के दो आधार हैं मानव मनोविज्ञान तथा तत्कालीन प्रमुख प्रवृत्ति। रीतिकाल के नामकरण व काल विभाजन में शुक्लजी एवं द्विवेदी जी का मत एक ही है पर आदिकाल के नामकरण में दोनों का मत भिन्न है।

द्विवेदी जी वीरगाथाकाल को आदिकाल नाम देना ज्यादा उचित समझते रहे—कई प्रवृत्तियाँ किसी युग के काव्य में हो तो केन्द्रीय प्रवृत्ति क्या है, इसका निर्णय करने के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। मान लिया रहस्यवादी, साहित्य प्रगतिशील, सामाजिक जीवन की अनुरूपता कई परिस्थितियां थीं उनका सीधा सम्बन्ध किस काल से है केन्द्रवर्ती प्रवृत्ति कौन सी है बहुत सी प्रवृत्तियां ऐसी हों जो शताब्दियों तक चलते चलते निर्जीव भी हो जाती हैं अच्छे परिमाण निर्णायक न होगा बल्कि समसामयिक केन्द्रीय युगीन सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर काल युग का नामकरण करना अधिक उचित होगा।

शुक्ल जी के इतिहास से द्विवेदी जी के इतिहास में मतभेद स्थल

प्राचीन साहित्य की विवेचना में शुक्ल जी के इतिहास से भिन्न दो विशेषतायें द्विवेदी ने दिखाई हैं –वीरगाथाकाल, अपभ्रंशकाल का भेद जैसा शुक्ल जी ने किया है द्विवेदीजी ने नहीं माना है। उनका कहना है

पक्ष के लोगों का कहना है कि इस युग की समस्त रचनायें उपलब्ध नहीं हो पाती हैं या तब तक नाम भी यही होना चाहिए जब रचनायें अनिर्णयात्मक हैं ये नाम भी अनिर्णयात्मक होना चाहिए परन्तु यह तर्क उचित नहीं। क्योंकि यह काल अन्धकार काल तो नहीं था कुछ विशेष प्रकार की रचनायें उस समय हुई थीं यह तो प्रमाणित हो जाता है भले ही उनकी सम्पूर्ण प्रामाणिकता पर सन्देह हो। १०० से १३०० तक की प्रधान प्रवृत्तियाँ क्या थीं, उस समय की सामाजिक परिस्थिति में किस प्रकार की रचनायें सम्भव रही होगी इसका विचारानुमान हम कर सकते हैं। उस समय की सामाजिक, सामयिक भूमि संघर्ष की भूमि थी, विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध में भारतीय राजाओं महाराजाओं के युद्ध की थी। प्रमुख प्रवृत्ति या धारा निश्चय ही युद्ध से संघटित धारा रही होगी। क्योंकि साहित्य सामाजिक भूमिका से असंपृक्त नहीं रह सकता।

दूसरी प्रवृत्ति धार्मिक कही जा सकती है। क्योंकि भारत में धर्म का बहुत पुराना इतिहास मिलता है और धर्म के आधार पर प्रत्येक काल में रचना हुई है तो धार्मिक काव्य भी उस युग में बना है। इस समय के साहित्य में जैन लोगों का साहित्य है। जैनों के कारण प्राकृत और अपभ्रंश में प्रचुर साहित्य निर्माण की परम्परा मिलती है पर यह साहित्य विशुद्ध साहित्य नहीं, साम्प्रदायिक है। अधिकतर उपदेशात्मक है, इस धार्मिक साहित्य की दूसरी धारा वह है जिसे हम सिद्ध कवियों की धारा कहते हैं ये भी मुख्य रूप से अपभ्रंश में रचना कर रहे थे और पुरानी हिन्दी का उस समय आरम्भ हो रहा था। कुछ समय के पश्चात् नाथसंप्रदाय का अभ्युदय हुआ, वे रचनायें भी इसी युग में आती हैं। हिन्दी के आदिकाल में वीरगाथाकाल जैन काव्य सिद्ध संप्रदाय का काव्य और नाथसंप्रदाय चार धाराओं का काव्य आता है। इनमें युग की प्रतिनिधि धारा कौन सी थी ? मोटे तौर पर इन चारों धाराओं के लौकिक जिसमें युद्ध और राजाओं के वर्णन ही हैं और दूसरे अलौकिक जिनमें सिद्ध संप्रदाय की अध्यात्मिक रहस्यवादी विचार हैं इसे दो भागों में बांट सकते हैं। प्रश्न यह है कि उस युग में जब सारा देश अशांति के बीच गुजर रहा था अन्तर्देशीय कलह छाया था तो उस समय की रचना क्या पारलौकिक हो सकती है ? जो प्रतिनिधि रचना कही जाती है ऐसी रचना से जो पुरानी परम्परा का अनुकरण करती है इनमें जीवनी शक्ति बहुत कुछ क्षीण होती है क्योंकि परम्परापालन की पद्धतियों में बहुत कुछ साहित्यिक, युगीन उत्कर्ष नहीं आ सकता। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि हिन्दी के आदिकाल की परिस्थितियाँ जिस प्रकार संघर्षमय अशांति-पूर्ण थीं, उस काल में धार्मिक उत्कर्ष सम्भव नहीं था यदि था तो पुराना अनुकरण था और युग की चेतना के अनुरूप भी नहीं था उस समय राष्ट्रीय काव्य की

आवश्यकता थी और चारणों का काल राष्ट्रीय कहा जा सकता है यद्यपि उसे 'राष्ट्रीय' संकीर्ण अर्थ में कहा जायगा। इस आधार पर युगीन प्रतिनिधित्व और सामयिकता का निकष लेकर कह सकते है कि हमें परिणाम में चाहे वीरगाथा की रचनायें कम मिल रहीं हो लेकिन परिवर्ती सम्मिश्रण बड़ी मात्रा में हो गया था। उसकी भाषा चाहे १५वीं शती की हो लेकिन मूल रूप में कतिपय ग्रन्थ चारण कवियों द्वारा अवश्य लिखे गये थे और वे ग्रन्थ अपनी साहित्यधारा के प्रमुख प्रतिनिधि थे इसलिये शुक्ल जी का निर्णय सारपूर्ण है साहित्य इतिहास का प्रतिनिधित्व और युग का प्रतिनिधित्व करने पर ही साहित्य युग का नामकरण किया जा सकता है।

काल विभाजन व नामकरण के संबन्ध में दूसरा विवादपूर्ण प्रश्न रीतिकाल के सम्बन्ध में है। हिन्दी साहित्य के कुछ विद्वानों ने रीतिकाल को अलंकरण काल या अलंकृत काल, कलाकाल तथा श्रृङ्गार काल के नामों से अभिहित किया है। इन नामों के औचित्य एवं अनौचित्य पर विचार करने के लिए रीतिकाल तक पहुँचते पहुँचते रीति शब्द, अलंकार व श्रृङ्गार शब्द के अर्थ क्या है और कौन सा नाम सर्वोपयुक्त है और क्यों, समझ लेना आवश्यक है।

रीति शब्द का अर्थ यहाँ पर रीति संप्रदाय में प्रयुक्त अर्थ नही है। वेदर्भी गौड़ी पांचाली आदि रीतियों से अभिप्राय नहीं है। या एक प्रकार से ये रीतियाँ ही नामकरण के मूल में नहीं। हिन्दीं में रीति शब्द का अर्थ एक अन्य प्रकार से होने लगा, वह है काव्य रचना पद्धति तथा उसका निर्देशक शास्त्र। रीतिकाल में इस अर्थ में अन्य भी बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए जैसे कवित्त रीति, कवि रीति, काव्य रीति, छन्द रीति, अलंकार रीति, मुक्तक रीति आदि। अत: रीतिकाल तक आते आते रीति शब्द का अर्थ रस, अलंकार, शब्द शक्ति, छन्द, काव्यांगों का निरूपण ही रह गया। हिन्दी में रीति शब्द का एक विशिष्ट अर्थ लगाया गया है। लक्षणों के साथ अथवा अकेले उनके आधार पर लिखा गया काव्य। इसी आधार पर इस काल के कवियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। (१) रीतिबद्ध (२) रीतिसिद्ध (३) और रीतिमुक्त (इस प्रकार रीति परम्परा का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी पर है। रीति शब्द का विशिष्ट अर्थ है विशिष्ट पद रचना तथा लक्षण ग्रन्थ। रीतिबद्ध कवियों ने अपने लक्षण ग्रन्थों मे साक्षात् रूप से रीति परम्परा का निर्वाह किया ही, रीतिसिद्ध कवियों की रचनाओं की पृष्ठभूमि में भी अप्रत्यक्ष रूप से रीति परिपाटी काम कर रही हैं और रीतिमुक्त कवियों में एक प्रकार की कवित्वपूर्ण पद रचना का वैशिष्टय पाया जाता है। आचार्य शुक्ल जी का मन्तव्य था जिसने लक्षण

नहीं है ।[१] । यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है । ·· ······ आगे यह भी कहा है कि यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है ।[२] इस पर अपना अभिमत देते हुए प्राध्यापक शिवकुमार शर्मा कहते हैं—द्विवेदीजी के उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है कि आदिकाल नाम भी उस समूह के साहित्य के लिए सर्वथा निर्भ्रान्त एवं नितांत उपयुक्त नहीं है । उनके बुरा नहीं है शब्दों में अर्द्ध स्वीकृति ध्वनित होती है ।[३] फिर भी वे अपनी ओर से इस काल को आदिकाल नाम देना ही पसन्द करते हैं कारण वे किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं । घूम फिर कर इस काल को आदिकाल के नाम से पुकारा है । इसी नाम को मिश्रबन्धुओं ने भी प्रतिपादित किया था । डा० राजकुमार वर्मा ने वीरगाथाकाल को चारण काल कहा है । यह धारणा संगत नहीं कही जा सकती । तत्कालीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति आंशिक रूप से भले ही हो परन्तु उसकी प्रमुखता नहीं है । जिसमें आधार पर इस युग के साहित्य का नामकरण किया जा सके ।

भक्ति युग की विभिन्न साधनाओं को और दार्शनिक आधारों को द्विवेदी जी ने अधिक समन्वित रूप दिया है । जबकि शुक्ल जी ने अपने इतिहास में सामाजिक ऐतिहासिक धार्मिक और अन्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों को अपेक्षाकृत कम महत्व तो दिया ही है विभिन्न कालों के साहित्य मूल्यांकन में तटस्थता नहीं बरती हैं । उदाहरणार्थ भक्तिकाल में उन्होंने सगुणमार्ग की रामभक्ति शाखा और निर्गुणमार्ग की प्रेमाश्रयी शाखा के विवेचन में जितना रस लिया और उनकी जितनी विशद विवेचना की है उतनी ज्ञानाश्रयी शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा की नहीं। अपभ्रंश के कवियों के सम्बन्ध में भी उनकी यही धारणा थी । उनके अनुसार निर्गुण संत और सिद्ध कवि साम्प्रदायिक और धर्मचालित अधिक थे । उनके ही शब्दों में 'सिद्धों और योगियों की रचनायें तांत्रिक विधान, योग साधना, आत्मनिग्रह श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अन्तर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांम्प्रदायिक शिक्षामात्र है, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं । अत: वे शुद्ध साहित्य के के अन्तर्गत नहीं आतीं ।[४] दूसरी बात है साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार

१—हिन्दी साहित्य : पृ० ७३ । २– वही: पृ० ८३ ।
३–हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ : पृ० ७ ।
४—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० १८–१९ ।

की परम्परा।[1] वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।[2]

इस विषय में शुक्लजी ने मध्यकाल के जिस लोकधर्म की बात कही है वस्तुतः वह लोक धर्म नहीं, हिन्दू समाज के सवर्ण वर्ग के विशिष्ट लोगों का धर्म था। वस्तुतः लोक धर्म तो उस विशाल जनसमुदाय का वह आचार विचार और विश्वास था जो निश्चित, शिक्षित और विशिष्ट हिन्दू जनता के धर्म आचार से बहुत कुछ भिन्न था। अतः अपभ्रंश के सिद्ध कवियों, जैन कवियों और बाद के सन्तों ने जिस धर्म विश्वास की अभिव्यक्ति की है वही तत्कालीन लोकधर्म और लोकविश्वासों का सच्चा रूप है। इस दृष्टि में तत्कालीन संस्कृति के स्वरूप, उस काल की सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों का पता लगाने के लिए निर्गुण-धारा के कवियों पर विशेष रूप से विचार होना चाहिए था। यह काम द्विवेदी जी ने सफलता पूर्वक किया है। जिस कविता को शुक्लजी ने जैनधर्म के उपदेश विषयक या लोकधर्म विरोधी या साम्प्रदायिक या शुष्क ज्ञानोपदेश कहा है उसी के सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं—उनमें कई रचनायें ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है, धर्म वहां केवल कवि को प्रेरणा दे रहा है। आगे और भी विवेचन करते हुए कहते हैं, इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनायें साहित्य में विवेच्य नहीं है। कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। द्विवेदीजी के मतानुसार यह उचित नहीं मालूम देती। उनका कहना है धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य की कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगा तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र मे अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।[3] शुक्लजी की रसवाद की दृष्टि से ही साहित्य को देखा जायगा तो साहित्य की सीमा बहुत संकीर्ण हो जायेगी।

शुक्लजी के लाकादर्शवाद को ब्राह्मण विचारधारा अथवा वर्णाश्रम धर्मी विचारधारा का पर्याय पाकर द्विवेदीजी एक बृहत्तरलोक धर्म की चर्चा

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास: पृ० १६। २—वही : पृ० २०।
३—हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० ११।

नहीं है ।[१] । यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है । ·· ······ आगे यह भी कहा है कि यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है ।[२] इस पर अपना अभिमत देते हुए प्राध्यापक शिवकुमार शर्मा कहते हैं—द्विवेदीजी के उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है कि आदिकाल नाम भी उस समूह के साहित्य के लिए सर्वथा निर्भ्रान्त एवं नितांत उपयुक्त नहीं है । उनके बुरा नहीं है शब्दों में अर्द्ध स्वीकृति ध्वनित होती है ।[३] फिर भी वे अपनी ओर से इस काल को आदिकाल नाम देना ही पसन्द करते हैं कारण वे किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं । घूम फिर कर इस काल को आदिकाल के नाम से पुकारा है । इसी नाम को मिश्रबन्धुओं ने भी प्रतिपादित किया था । डा० राजकुमार वर्मा ने वीरगाथाकाल को चारण काल कहा है । यह धारणा संगत नहीं कही जा सकती । तत्कालीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति आंशिक रूप से भले ही हो परन्तु उसकी प्रमुखता नहीं है । जिसमें आधार पर इस युग के साहित्य का नामकरण किया जा सके ।

भक्ति युग की विभिन्न साधनाओं को और दार्शनिक आधारों को द्विवेदी जी ने अधिक समन्वित रूप दिया है । जबकि शुक्ल जी ने अपने इतिहास में सामाजिक ऐतिहासिक धार्मिक और अन्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों को अपेक्षाकृत कम महत्व तो दिया ही है विभिन्न कालों के साहित्य मूल्यांकन में तटस्थता नहीं बरती है । उदाहरणार्थ भक्तिकाल में उन्होंने सगुणमार्ग की रामभक्ति शाखा और निर्गुणमार्ग की प्रेमाश्रयी शाखा के विवेचन में जितना रस लिया और उनकी जितनी विशद विवेचना की है उतनी ज्ञानाश्रयी शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा की नहीं । अपभ्रंश के कवियों के सम्बन्ध में भी उनकी यही धारणा थी । उनके अनुसार निर्गुण संत और सिद्ध कवि साम्प्रदायिक और धर्मचालित अधिक थे । उनके ही शब्दों में 'सिद्धों और योगियों की रचनायें तांत्रिक विधान, योग साधना, आत्मनिग्रह श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अन्तर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांम्प्रदायिक शिक्षामात्र है, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं । अत: वे शुद्ध साहित्य के के अन्तर्गत नहीं आतीं ।[४] दूसरी बात है साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार

१—हिन्दी साहित्य : पृ० ७३ । २– वही: पृ० ८३ ।
३–हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ : पृ० ७ ।
४—हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० १८–१९ ।

की परम्परा।[१] वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं अत: शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।[२]

इस विषय में शुक्लजी ने मध्यकाल के जिस लोकधर्म की बात कही है वस्तुत: वह लोक धर्म नहीं, हिन्दू समाज के सवर्ण वर्ग के विशिष्ट लोगों का धर्म था। वस्तुत: लोक धर्म तो उस विशाल जनसमुदाय का वह आचार विचार और विश्वास था जो निश्चित, शिक्षित और विशिष्ट हिन्दू जनता के धर्म आचार से बहुत कुछ भिन्न था। अत: अपभ्रंश के सिद्ध कवियों, जैन कवियों और बाद के सन्तों ने जिस धर्म विश्वास की अभिव्यक्ति की है वही तत्कालीन लोकधर्म और लोकविश्वासों का सच्चा रूप है। इस दृष्टि में तत्कालीन संस्कृति के स्वरूप, उस काल की सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों का पता लगाने के लिए निर्गुण-धारा के कवियों पर विशेष रूप से विचार होना चाहिए था। यह काम द्विवेदी जी ने सफलता पूर्वक किया है। जिस कविता को शुक्लजी ने जैनधर्म के उपदेश विषयक या लोकधर्म विरोधी या साम्प्रदायिक या शुष्क ज्ञानोपदेश कहा है उसी के सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं–उनमें कई रचनायें ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है, धर्म वहां केवल कवि को प्रेरणा दे रहा है। आगे और भी विवेचन करते हुए कहते हैं, इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनायें साहित्य में विवेच्य नहीं है। कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। द्विवेदीजी के मतानुसार यह उचित नहीं मालूम देती। उनका कहना है धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नही समझा जाना चाहिए। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य की कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगा तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।[३] शुक्लजी की रसवाद की दृष्टि से ही साहित्य को देखा जायगा तो साहित्य की सीमा बहुत संकीर्ण हो जायेगी।

शुक्लजी के लोकादर्शवाद को ब्राह्मण विचारधारा अथवा वर्णाश्रम धर्मी विचारधारा का पर्याय पाकर द्विवेदीजी एक बृहत्तरलोक धर्म की चर्चा

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास: पृ० १९। २—वही : पृ० २०।
३—हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० ११।

करते हैं जिसमें ब्राह्मणेतर और किसी अंश तक निम्न समझे जाने वाली जातियों एवं वर्गों की अपनी संस्कृति विचारधारा का वे निरूपण करते हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी का लोकादर्शवाद अधिक मानवतावादी ठहरता है, जबकि शुक्लजी का लोकादर्शवाद भारतीय इतिहास की गृहीत परम्पराओं के अधिक अनुकूल है। अन्त्यजों और गिरी हुई जातियों के प्रतिनिधि कवियों के महत्व का निरूपण द्विवेदीजी की एक बड़ी विशेषता है। इसके कारण साहित्यिक मानदण्डों को भी उन्हें नये सिरे से देखना पड़ा है और कला तथा साहित्य सम्बन्धी शिष्ट मानदंडों की अपेक्षा जीवन में संपृक्त मानवतावादी मानदण्ड को उन्होंने प्रमुखता दी है।

इस इतिहास की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसका परिपेक्ष्य हिन्दी साहित्य तक ही सीमित न रहकर भारतीय साहित्य की समग्र विकासात्मक भूमियों से संपृक्त है। हिन्दी के युग विशेष के कवि किसी एक प्रादेशिक स्तर पर नहीं देखे जा सकते। उनकी सम्यक पीठिका तब तैयार होगी जब समस्त भारतीय साहित्यिक विकास की एक शाखा के रूप में हिन्दी साहित्य को देखा जाय। यह दृष्टि भी द्विवेदीजी ने अपने इतिहास में व्यवहृत की है जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य के इतिहास के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं के समान भूमिकायें प्रकाश में आने लगती हैं।

शुक्लजी के इतिहास में विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का उल्लेख तो है परन्तु उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक स्वतन्त्र इकाई देने का प्रयत्न किया है, इसका कारण इनका इतिहास हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण स्वरूप को अधिक समता के साथ प्रस्तुत करता है परन्तु सार्वदेशिक दृष्टि का उसमें विन्यास नहीं है। शुक्लजी की ऐतिहासिक कवि समीक्षा शास्त्रीय प्रतिमानों पर संस्थित है। वे भाषा तथा अभिव्यक्ति सम्बन्धी कलात्मक सौंदर्य और सौष्ठव पर अधिक बल देते हैं। द्विवेदी जी की कवि शास्त्रीय समीक्षा कला पक्ष अपेक्षाकृत कम है परन्तु इसकी पूर्ति उन्होंने भारतीय जनसमाज के उत्थान में इन कवियों के सहयोग के पक्षों का निरूपण करने की है। द्विवेदी जी की साहित्य सम्बन्धी धारणा साहित्यिक और शास्त्रीय पक्षों का अतिक्रमण कर गई है। और वे जनवादी पक्ष को प्रमुखता देने लगे हैं। इस दृष्टि से उनके इतिहास में कलात्मक पक्ष की अपेक्षा सामाजिक पक्ष प्रमुख हो गया है।

प्रेमकथानकों के साहित्य को कालक्रम से स्थान न देकर, महत्व क्रम से कहें या और किसी क्रम से, रामकाव्य के पश्चात् स्थान दिया है। रीति काव्य के प्रादुर्भाव के कारणों के साथ कृष्ण काव्य को अधिक महत्व दिया गया है।

अमीर खुसरो का चलते चलते जरा सा जिक्र है। जायसी तीन पृष्ठ में समाप्त और दक्षिण भारत के कई वजही हिन्दी उर्दू कवियों का उल्लेख भी नहीं है।

शुक्लजी के रीतिकाल के नामकरण में द्विवेदी जी को किसी प्रकार का विरोध नहीं है। रीतिकालीन कवियों की विवेचना करते हुए द्विवेदीजी ने अधिक स्वतन्त्रता से काम लिया है। उन्होंने एक ही प्रवाह में बिहारी देव, मतिराम और पद्माकर जैसे विशिष्ट कवियों को लेकर उनके काव्य की मूलवर्ती विशेषताओं पर लक्ष्य किया है और इस प्रकार प्रकारान्तर से तुलना भी उपस्थित कर दी है। बिहारी मे काव्य कौशल और चमत्कार का पक्ष प्रधान बताकर मतिराम में स्वाभाविक चित्रण के पक्ष को बिहारी की अपेक्षा अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण माना है। देव के छन्दों के विस्तार को उन्होने उत्तम काव्य रचना में बाधा स्वरूप स्वीकार किया है। इस प्रकार रीतिकाल के प्रमुख कवियों की केन्द्रीय विशेषताओं के निरूपण में द्विवेदीजी दत्तचित्त हैं। इसमें विभिन्न काव्य शैलियों, और छन्द योजनाओं तथा लक्षणग्रंथों के निर्माण के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने विशेप ध्यान नहीं दिया। कुछ थोड़े से कवियों को विचारार्थ लेने के कारण रीतिकाल सम्बन्धी उनका ऐतिहासिक विवेचन मार्मिक तत्वों की खोज में अधिक सफल हुआ है परन्तु शुक्लजी की समग्रता उनमें नहीं है। शुक्लजी की ही भांति द्विवेदी जी ने रीतिकाल में रीतियुक्त कवियों की भी कल्पना की है और उन पर एक अध्याय दिया है। साहित्यिक इतिहास लेखकों के समक्ष रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों की विवेचना एक असमाधान का ही विषय रही है। संपूर्ण रीतियुग कला की बहिर्मुखता का, शैली प्रसाधन का, वक्रोक्ति और चमत्कार का युग कहा जा सकता है। इस युग में तथाकथित रीतिमुक्त कवियों की खोज करना एक संदेहास्पद कार्य है। जबकि इस युग की भक्तिपरक रचनाओं में भी एक प्रकार की ऐकान्तिकता और रीतिप्रवणता आ गई थी तब लौकिक शृंगारिक कवियों में रीतिमुक्त आधारों का ढूढ़ना बहुत कुछ निष्फल प्रयास है। पर द्विवेदीजी ने यहाँ क्रमागत परिपाटी का ही अनुकरण किया है। इस पर स्वतन्त्र विचार देने की स्थिति में वे नहीं पहुँचे।

आधुनिक युग के साहित्यिक विकास को द्विवेदीजी ने उन्हीं उत्थानों में विभक्त किया है जिन उत्थानों में शुक्लजी ने किया है।[1] परन्तु सम्मतियाँ देने और विवेचना करते समय द्विवेदीजी ने अधिक स्वच्छंदता बरती है। रामचंद्र शुक्ल के इतिहास में संवत् १९०९ से १९८० तक के कालखंड को ३१९ पृष्ठ

१—हिन्दी साहित्य : पृ० ३९८।

बारीक टाइप में दिए गये हैं, जबकि द्विवेदीजी के इतिहास में १६०० से १६५२ ई० तक का आधुनिक काल १४८ पृष्ठों मे समाप्त कर दिया गया है। इस इतिहास के वर्तमान या आधुनिक युग के सम्बन्ध में द्विवेदीजी ने अधिक संतुलन का ध्यान नहीं रखा है। कुछ लेखकों पर लम्बे चौड़े लेख दे दिये हैं और कुछ अन्यों को एक-एक वाक्य में निपटा दिया है। इसका कारण कदाचित यह है कि यह इतिहास ग्रन्थ कुछ जल्दी मे तैयार किया गया है और इसमे द्विवेदीजी की पुरानी सामग्री (निबन्धों) आदि का उपयोग भी हुआ है।

अब हम आधुनिक युग के भारतेन्दु का उदय और प्रभाव नामक अध्याय पर दृष्टिपात करें। यद्यपि यह प्रकरण छोटा है फिर भी प्रधान विशेषतायें जो इस युग की है आ गई हैं। भारतेंदु जी की विशेषताओं का वर्णन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है 'उनका समूचा काव्य मूर्तिमात्र प्राणधारा का उच्छल वेग है। इस जीवनधारा ने ही उनकी समस्त रचनाओं को उपादेय और नवयुग का मार्ग खोलने वाला बना दिया है।'[1] इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे बतलाते है— "उनकी यह जीवन-धारा, अपूर्ण दानशीलता एवं सहज महान व्यक्तित्व इन तीनों महागुणों ने भारतेन्दु को अपने युग का महान नेता बना दिया। इनकी प्रेरणा से ही हिन्दी जनभाषा बनी। इन्होंने अपने सहयोगियों को निर्बाध विकसित होने का मार्ग प्रदर्शित किया। राष्ट्रीय भावनाओं से भरे नाटकों की रचना हुई, उर्दू के विरोध में संघर्ष चला। इस प्रकार यह प्रकरण संक्षेप होते हुए भी भारतेन्दु युग की प्रवृत्तियों, रचनाओं, शैलियों का ज्ञान कराने में पर्याप्त है।

तत्पश्चात् "साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल" नामक शीर्षक में द्विवेदी युग पर विचार किया गया है। सभी वर्णन शुक्लजी के जैसे होते हुए भी एक विशेषता उनकी अपनी है, वह है 'बंगला उपन्यास' पर विचार। यथार्थवाद रोमांसवाद, प्रकृतिवाद आदि पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। तथा मानवतावादी दृष्टि पर विचार करते हुए कहा है 'प्रेमचन्द, सुदर्शन और कौशिक की कहानियों में यह मानवतावादी स्वर मिलता है'।[2] आधुनिक युग में सर्वप्रथम स्थान द्विवेदीजी ने प्रेमचन्द को दिया है। कारण, वे साधारण जनता के लेखक थे और सामान्य जनता के सुख दुख के सहभागी रहे हैं इसीलिए वे उनको महत्व देते हैं। दूसरी बात 'वे शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पोषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लाँछित और असहाय नारी जाति

१—हिन्दी साहित्य : पृ० ३६८। २—वही : पृ० ४३३।

की महिमा के जबरदस्त वकील थे, गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे।[1]

इसके बाद छायावाद युग आता है जिसमें द्विवेदीजी ने प्रधानतः प्राण-वन्त कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा को प्रमुखता दी है। इन चारों की समानता बताते हुए कहते है 'इन चारों की कविताओं मे चित्तगत उन्मुक्तता वर्तमान है, चारों मे वैयक्तिक आवेगों की आयासहीन अभिव्यक्ति है, चारों की कविताओं में कल्पना के अविरल प्रवाह से घन संश्लिष्ट आवेगों की उमड़ती हुई भावधारा का प्राबल्य है। चारों ही मूलतः छायावादी हैं। फिर भी चारों की प्रकृति में भेद है।[2]

द्विवेदीजी छायावाद और रहस्यवाद को अलग-अलग प्रवृत्ति मानते हैं। उन्होंने रहस्यवाद को छायावाद की शैलीमात्र नही नाना है। रहस्यवाद में एक परात्पर असीम के प्रति आस्था को आवश्यक बतलाया है। उन्होंने आधुनिक रहस्यवाद की दो धारायें कर दी है। एक चिन्तन प्रधान जिसका प्रतिनिधित्व प्रसाद करते हैं, और दूसरी भावना और अनुभूतिप्रधान जिसका प्रतिनिधित्व महादेवी वर्मा करती हैं। रहस्यवाद में इन्हीं दो कवियों को प्रमुखता दी गई है। छायावाद रहस्यवाद का पृथक्करण करने मे उन्होंने अधिक विचारपूर्ण टिप्पणियाँ लिखी हैं। शुक्लजी ने आधुनिक वादों की चर्चा में अपनी सहानुभूति नवकवियों को नहीं दी। उनमें स्थल-स्थल पर उन्हें उक्ति वैचित्र्यवाद दिखाई दिया और उनके प्रिय लोकमंगल की मर्यादा प्रतिष्ठा को उससे ठेस लगती सी जान पड़ी। पर द्विवेदीजी नूतन का स्वागत उदार हृदय से करते है।

छायावाद के सम्बन्ध में अनेक लेखकों ने अपनी-अपनी परिभाषायें दी हैं। उनसे द्विवेदीजी की परिभाषा में क्या भिन्नता है इस पर हम विचार करेंगे।

छायावाद के सम्बन्ध में शुक्लजी अपना विचार प्रकट करते हुए कहते हैं :— 'छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थो में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में वहां उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यञ्जना करता है। छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है।[3]

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयीजी के अनुसार 'मानव अथवा प्रकृति के

१— हिन्दी साहित्यः पृ० ४३५। २— वहीः पृ० ४६३।

३— वहीः पृ० ६१५।

सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार में छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। ''

डा० रामकुमार वर्मा ने भी शुक्लजी के समान छायावाद को रहस्यवाद से अभिन्न माना है। इसके शब्दों में 'परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।''

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की परिभाषा इन सब लेखकों से भिन्न अपनी विशेषता अलग रखती है। ''छायावाद सांस्कृतिक परम्परा का परिणाम था, काव्य की यह भारतीय परम्परा अँग्रेजी साहित्य से प्रभावित अवश्य है लेकिन अनुकृति नहीं। इसमें मानवीय जीवन के नवीन मूल्यों की नवीन शैली में अभिव्यक्ति हुई है इसमें आध्यात्मिक अनुभूति मानवतावादी विचारधारा तथा वैयक्तिक चिन्तन और अनुभूति का प्राधान्य है।[१] इस प्रकार इनका मानवतावादी दृष्टिकोण सर्वत्र व्याप्त है। इसी दृष्टिकोण से वे हर एक कवि को परखते हैं।

छायावाद के प्रतिनिधि कवि पन्त पर विचार करते हुए द्विवेदीजी कहते हैं उनके विकास के तीन उत्थान हैं। प्रथम में वे छायावादी कवि हैं, दूसरे में वे समाजवादी और आदर्शों से चालित हैं और तीसरे में आध्यात्मिक। तीनों ही अवस्था में पंतजी वैयक्तिकतावादी हैं।[२]

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के सम्बन्ध में लिखते हुए द्विवेदीजी कहते है– ये आरम्भ से ही विद्रोही कवि के रूप में हिंदी में दिखाई पड़े। गतानुगतिकता के प्रति विद्रोह उनकी कविताओं में आदि से अन्त तक बना रहा।[३] निराला की कविताओं के सम्बन्ध में इन्होंने कहा है 'सर्वत्र व्यक्तित्व की अत्यन्त परुष अभिव्यक्ति ही निराला की कविताओं का प्रधान आर्कषण है।[४] निराला को वे स्वच्छन्दतावादी कवि मानते हैं और पन्त के साथ उनकी तुलना करते हुए कहते हैं कि वे पन्त की तरह अत्यधिक वैयक्तिकतावादी कवि नहीं हैं।[५] उनकी सफलता पर विचार करते हुए आगे और भी कहते हैं कि बड़े आख्यानों जैसे विषय में उन्हें वस्तु व्यञ्जना का भी अवसर मिलता है और कल्पना के पंख पसारने का भी मौका मिल जाता है। इसीलिए उसमें निराला अधिक सफल हुए हैं।[६] इतना सब होने

१— हिन्दी साहित्य: पृ० ४६१।
२— वही: पृ० ४६५-६६।
३— वही: पृ० ४६७।
४— वही: पृ० ४६७।
५— वही: पृ० ४६८।
६— वही: पृ० ४६८।

हुए भी उन्होंने निराला की काव्य भाषा को पसन्द नहीं किया और इस बारे में उन्होंने कहा है 'गीतिका' के गीत ठूंठ हो गये हैं और दुर्बोध तो हैं ही।[1] इसी सम्बन्ध में और भी कहते हैं "निराला की रचनायें साधारण पाठकों को तो दुर्बोध मालूम ही होती हैं उनके प्रशंसकों को भी कभी-कभी दुरूह लगती हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि वे काव्य के लिये उस सरल और सीधी भाषा के हिमायती हैं जो कि उनके जगजीवन में कविता की व्याप्ति और प्रसार सम्बन्धी आदर्श के अनुकूल हो। परन्तु भारतीय जनजीवन में निराला के उदात्त आदर्श पर द्विवेदीजी की दृष्टि कदाचित् नहीं गई।

प्रसाद के विषय में वे लिखते हैं कि गम्भीर अध्ययन, चिन्तन मनन के माध्यम से अपने भीतर वे सौन्दर्य—प्रेमी मनोभावना से रहस्यवादी कविता के आवरण में प्रकट कर सके हैं। प्रसाद के समान सौन्दर्य के प्रेमी कवि बहुत ही बिरले हैं और पार्थिव सौन्दर्य को स्वर्गीय महिमा से मंडित करने का सामर्थ्य इतना और किसी में है ही नहीं।[3]

महादेवी की रचनाओं के बारे में द्विवेदीजी के विचार निम्न प्रकार हैं—व्यक्तिगत अनुभीतियों की तीव्रता और मर्मस्पर्शिता में महादेवी जी की रचनायें अपूर्व हैं। वे पाठक के चित्त में वेदना की अनुभूति भरती है और खोई हुई वस्तु के मिल जाने की आशा से उत्पन्न होने वाले उल्लास का वातावरण उत्पन्न करती है।[4]

छायावाद के परवर्ती कवियों की विवेचना करते हुए द्विवेदीजी ने और भी अन्यमनस्कता दिखाई है। उन्होंने बालकृष्ण शर्मा नवीन, भागवतीचरण वर्मा बच्चन जैसे कवियों को मस्तमौला, फक्कड़ कवि आदि विशेषण से भूषित किया है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के सम्बन्ध में तो फक्कड़ शब्द किसी प्रकार चल भी सकता है पर बच्चन की कविता में नियति और निराशा के स्वर मूल रूप में व्याप्त हैं। उनका योग मस्तमौलापन से या फक्कड़पन से नहीं हो सकता। भाषा के प्रयोग में द्विवेदीजी पूरे स्वच्छन्दतावादी और अशास्त्रीय दिखाई देते हैं। आधुनिक कवियों के विवेचन में स्वयं उनका भी फक्कड़पन दृष्टिगत होने लगता है।

१—हिन्दी साहित्य : पृ० ४६९। २—वही : पृ० ४६९।
३—वही : पृ० ४७४। ४—वही : पृ० ४७६।

द्विवेदी जी के इतिहास की उपलब्धियाँ और प्रदेय

इतिहास लेखन कार्य मे द्विवेदीजी ने जो शैली अपनायी है वह समग्रता की शैली कही जा सकती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शैली विवरणपूर्ण है और दो भागों में बँटी हुई है। एक भाग में शुक्ल जी पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं। दूसरे भाग में कवि चर्चा या काव्य चर्चा करते हैं। द्विवेदीजी ने इस द्विविधात्मकता को कम करने का प्रयास किया है, बहुत कुछ सफल भी हुए हैं परन्तु इससे उनके इतिहास में संक्षिप्तता आ गई है। फिर भी द्विवेदीजी ने धारावाहिक क्रम को अपनाकर समग्र इतिहास को एक समन्वित रूप देने का प्रयास किया है। उनकी दूसरी विशेषता इतिहास को राष्ट्रीय भूमिका पर रखने का प्रयत्न है। इसलिए द्विवेदीजी अपने इतिहास में साहित्य की ऐतिहासिक परम्पराओं का अधिक विशद रूप में उल्लेख कर सके हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य को इकाई मानकर अपने विवेचन प्रस्तुत किये हैं। शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य की इकाई स्वतन्त्र रूप से स्वीकार की है। साहित्यिक परम्पाओं का जैसा स्वरूप एक विस्तृत आधार भूमि रखकर द्विवेदीजी ने प्रस्तुत किया है शुक्लजी में इस प्रकार का आयोजन कम है।

द्विवेदीजी की तीसरी विशेषता साहित्यिक इतिहास और परम्परा के भीतर से विविधकाव्य रूढ़ि और अभिप्रायों के प्रदर्शन की भो रही है। इसके द्वारा कवियों की मौलिकता और उनकी अनुकरणशीलता का निर्देश अधिक अच्छे ढंग से हो सका है। द्विवेदीजी के मत में हिन्दी का आदिकाल पुरानी परम्पराओं का एक परिणत रूप है। उसमें नवीनता के तत्व अधिक नहीं हैं। इस प्रकार हिन्दी के प्रथम उत्थान काल को परम्परा पोषित बनाकर द्विवेदी जी ने इतिहास की नई धारणा प्रस्तुत की है जो साहित्य के विद्यार्थियों के लिए नया दृष्टिकोण देती है। द्विवेदीजी ने धार्मिक और साम्प्रदायिक ग्रंथों को ही साहित्यिक विवेचन में सम्मिलित किया है जबकि शुक्लजी ने साहित्यि को साम्प्रदायिकता से अलग रखने की चेष्टा की है। इन उभयविध प्रणालियों में कौन सी प्रणाली साहित्यिक इतिहास लेखन के लिए अधिक उपादेय है यह बताना कठिन है। आधुनिक इतिहास लेखक प्राय: साहित्य को धार्मिक और सांप्रदायिक रूढ़ियों से अलग रखना चाहते हैं परन्तु द्विवेदी जी का इतिहास सामाजिक सांस्कृतिक पीठिकाओं को अधिक महत्व देता है। अतएव केवल साहित्यिक भूमिका पर उसका मूल्यांकन करना उचित नहीं होगा।

द्विवेदीजी के समस्त इतिहास में उनकी मानवतावादी दृष्टि का विशेष

योग है। वे शास्त्रीय साहित्य की अपेक्षा जनसाहित्य के इतिहास लेखन की ओर अधिक उन्मुख हैं। यह भी एक कारण है कि द्विवेदी जी अपने इतिहास में साहित्यिक विशेषताओं की अपेक्षा जनजीवन की प्रगतिमुखी विशेषताओं पर अधिक ध्यानस्थ हैं।

एक नये आदर्श और एक नयी पद्धति का विन्यास की साहित्यिक इतिहास लिखने का द्विवेदीजी का कार्य अभिनन्दनीय है। विभिन्न आदर्शों और प्रणालियों से लिखे गये इतिहास की हिन्दी साहित्य को आवश्यकता है। द्विवेदीजी उसकी पूर्ति कर सके हैं।

६

आचार्य द्विवेदी

आचार्य का स्वरूप एवं उपकरण

आचार्य शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। अगर हम व्युत्पत्त्यर्थ की दृष्टि से देखें तो आचार्य शब्द का अर्थ आचरणीय होता है अर्थात् जिसका कार्य अनुकरणीय हो। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि हम किसका अनुकरण करें— महान् पुरुष जो कथनीय करणीय में एक हों नैतिक दृष्टि से साधारण जनता की दृष्टि में बहुत उच्च स्थान रखते हों, शांत, उदार, सहिष्णु हो, सत्य की मूर्ति हो अर्थात् जिनकी एक झलक पाने से ही अमिट चिह्न दर्शनों पर पड़ता हो ऐसे चरित्रवान् नैतिक गुणों से सहित महापुरुष आचार्य कहलाते हैं। प्राचीनकाल में ऐसे गुणों से परिपूर्ण, त्यागी महात्माओं को ही यह आचार्य पद दिया जाता था। उदाहरणार्थ मुनिसंघ में भी एक आचार्यदेव होते थे, जिनका आदर्श रूप होता था, उनके अनुरूप अन्य शिष्यगणों को चलना पड़ता था तथा इन मुनियों के आचरण, आहार तप आदि में प्रमाद व गलती होने पर वे आचार्य द्वारा दंडित किये जाते थे। इस प्रकार प्राचीन समय से आज तक इस शब्द का एक गहन अर्थ होता आया है। और आज तक भी यह शब्द अपने में सारपूर्ण है। यह तो हुआ चरित्रपक्ष की दृष्टि से।

अगर हम पांडित्यपक्ष की दृष्टि से विचार करें तो इस शब्द का प्रयोग विद्या के क्षेत्र में भी होने लगा है, होता रहा है और अब भी हो रहा है। विद्या के क्षेत्र में हम उन्हीं को आचार्यत्व की पदवी से विभूषित कर सकते है जो सभी विषयों का ज्ञान रखते हो, उनके विचार मौलिक हों, उसमें समग्रता हो, नयी दिशाओं को संकेत करने की प्रतिभा हो, नये आदर्श की रचना में तत्परता हो,

अपने ज्ञान के भण्डार से दूसरों को प्रभावित कर सकें और अपने मार्ग में निर्भीक हों, आगे बढ़ने में समर्थ हों, अपने विचारों में दृढ़ हो, अधिक से अधिक अपने मौलिक विचारों और भावों आदर्शों द्वारा दूसरों को प्रभावित कर सकें, ऐसे पुरुषों को ही आचार्य की पदवी प्रदान की जाती थी। ये दोनों दृष्टि सैद्धाँतिक भूमिका पर आ जाती हैं जिससे आचार्यत्व का निदर्शन कराया जाता है।

इस शब्द को अगर हम व्यक्तित्व पक्ष की दृष्टि में देखें तो आकर्षक व्यक्तित्व रखनेवाला होना चाहिए। वह सहज ही दूसरों को अपने पांडित्य एवं शांत मुद्रा आदि अन्य गुणों से आकृष्ट करे, प्रभावशाली मुद्रा हो जो एक ही दृष्टि में दर्शक को प्रभावित करे, गंभीर वक्तृता, बोलने मात्र से उनके पांडित्य की झलक दिखाई पड़े, संघटन की शक्ति हो जो आजकल जनतन्त्र की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व रखती है, जिस गुण के बिना मनुष्य एकांगी रह जाता है, अनेक सामाजिक गुणों को सीखने से भी वंचित रह जाता है ऐसे संघटन शक्ति का संचालन करनेवाला हो, इस शक्ति के साथ वह अपने व्यक्तित्व के द्वारा अपने युग पर प्रभाव डालने की क्षमता रखता हो। जैसे गांधी जी, उनमें दूसरों को प्रभावित करने की अपूर्व शक्ति थी, उनमें वह आत्मबल एवं विश्वास था जिससे इतने बड़े देश को गुलामी से मुक्त कर सके। बहुत बड़ा संघटन था जिससे उनको हर पल, हरक्षण सहायता मिलने की पूर्ण आशा थी और उन्होंने अपने युग को अपने सिद्धान्तों जैसे अहिंसा, सत्य आदि से प्रभावित तो किया ही साथ ही अपने व्यक्तित्व से भी कुछ कम प्रभावित नहीं किया। सीधे-सादे चरखा कातने वाले सिद्धान्त से कितने लोगों का जीवन नये सांचे में ढाल दिया होगा, कितने लोगों का जीवनोद्धार किया होगा। इस प्रकार व्यक्तित्व पक्ष प्रबल होने पर भी आचार्यत्व की पदवी दी जाती है। यह पक्ष सामाजिक पक्ष कहला सकता है।

उपर्युक्त पक्षों के अतिरिक्त और भी एक पक्ष है—जो नेतृत्व का पक्ष है जो साहित्य के अन्तर्गत नेतृत्व की क्षमता रखता हो। इसमें एक ओर संघटन शक्ति की आवश्यकता है तो दूसरी ओर युगीन आदर्शों के समाहार का साथ ही साथ नयी दिशायें देने की योग्यता रखता हो। नेतृत्व का पक्ष प्रबल हो जाता है–इन सब पक्षों के कारण आचार्यत्व की पदवी किसी भी व्यक्ति विशेष को दी जाती है जो इनका अधिकारी एवं सुयोग्य हो। यह आवश्यक नहीं है कि उपर्युक्त सभी पक्ष जब किसी व्यक्ति में पाए जाँय तभी आचार्य पदवी दी जाती हो, कभी-कभी किसी एक पक्ष की प्रधानता होने पर भी इस पदवी के अधिकारी हो सकते

हैं । पर समग्र विशेषताओं का संयोजन एवं समाहार किसी एक ही व्यक्ति में हो तो वह श्लाघनीय है – सभी में सब गुणों का होना संभव नहीं अत: कोई केवल चरित्र का नेतृत्व करता हो, या केवल पांडित्य का नेतृत्व करता हो, इससे जो व्यक्तित्व बनता है उससे भी आचार्यत्व की पदवी से विभूषित किया जा सकता है ।

आचार्यत्व की प्राचीन परम्परा

यह आचार्य परम्परा आज की नहीं अपितु शंकराचार्य से अविरल रूप धारण कर किसी न किसी रूप में परम्परा को अविछिन्न रूप में ला रही है । इस परम्परा का अभ्युदय दर्शन के क्षेत्र से माना जाता है और प्रमुख दार्शनिक शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्भाचार्य, निम्बाकाचार्य ये अपने-अपने सिद्धान्तों में पारंगत एवं नयी दिशा प्रवर्तन के कारण आचार्य कहलाये । इसीलिए इतिहास में आचार्य के नाम से प्रतिष्ठित हुए । इनमें से प्रत्येक ने नये दर्शन की उद्‌भावना की । जगत्प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य ने निर्गुण को ही ब्रह्म का परमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक अर्थात् उन्होंने अद्वैतवाद का निरूपण किया था । रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार यह बतलाया कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत् के सारे प्राणी हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते है । अत: इन जीवों के लिए उद्धार का मार्ग यही, कि वे भक्तिद्वारा उस अंशी का समीप्य लाभ करने का यत्न करें । बल्लभाचार्यजी ने सारी सृष्टि को लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा, अर्थात् शंकराचार्य के सिद्धान्त को बदल कर सगुण रूप को बदल कर सगुण रूप को असली परमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशत: तिरोहित रूप कहा । उन्होंने पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तन किया और निम्बार्का–चार्य के निम्बार्कमत की प्रतिष्ठा की इस प्रकार इनमें से प्रत्येक नये दर्शन को प्रतिष्ठा की ओर अपने पीठ या सम्प्रदाय स्थापित किये और खंडनमंडन द्वारा अपनी सर्वोपरि योग्यता को सिद्ध किया । इसीलिए ये लोग आचार्य कहलाये । ये प्राचीन आचार्यों की श्रृंखला है ।

आधुनिक युग में महात्मा गांधीजी ने स्वराज्य आन्दोलन के अवसर पर आचार्य नरेन्द्रदेव, आचार्य कृपलानी आदि को शिक्षा के क्षेत्र में महान् कार्य करने के लिए प्रेरित किया और उपर्युक्त लोगों ने इतने सुव्यवस्थित एवं सुनियमित रूप से कार्य किये इसी कारण इन लोगों को आचार्यत्व की पदवी प्रदान की गई थी । इन्होंने वास्तव में काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ आदि के निर्माण और संचालन कार्य में कुशलता का परिचय दिया, अध्ययन और अध्यापन

के क्षेत्र में जिन आदर्शों का निर्माण किया वे आगे चल कर बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। इन्हीं आदर्शों, लक्ष्यों एवं कुशलता आदि के निर्माण एवं प्रदर्शन के कारण वे आचार्य पद पर आसीन कराये गए।

यों कालेज अध्यापक लोग भी आचार्य कहलाते हैं पर वह सीमित अर्थ में है। पर इस आचार्यत्व में राष्ट्रीय स्वीकृति होनी चाहिए, देश राष्ट्र और समग्र समाज में उनका व्यक्तित्व स्वीकृत हो जाय और उनके कार्य की सराहना मुक्तकन्ठ से की जाय तो उस आचार्यत्व पर 'सील' लग जाती है अर्थात् उसमें परिनिष्ठता आ जाती है। साहित्यिक क्षेत्र में नवीन वस्तु की प्रतिष्ठा करने के लिए भी आचार्यत्व की स्वीकृति दी जाती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में आचार्यत्व की परम्परा

आचार्यत्व के उपकरण

आधुनिक हिन्दी साहित्य मे सबसे पहले आचार्य शब्द का प्रयोग पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के लिए किया गया था। जिनके नाम पर युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। युग के नामकरण का पक्ष नेतृत्व के पक्ष से प्रधान हो जाता है। गाँधी युग में गाँधी की ही प्रधानता है। नेतृत्व का गुण किन आधारों पर विकसित होता है उसे केन्द्रीय विन्दु बना हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सिलसिले में युगीन नेतृत्व के आधार क्या हैं, इस पर विचार करेंगे।

इसमें पहला कार्य उन्होंने प्रतिनिधि पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादन किया था जो आरम्भ से ही विविध विषयों की पत्रिका थी और निकलते ही वह लोकप्रिय पत्रिका बन गयी। द्विवेदीजी जब उसके सम्पादक हुए तब उन्होंने समाज की बहुमुखी आकांक्षाओं के अनुरूप विविध विषयों के विशिष्ट लेखक तैयार किये। उन्हें हिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी। उनकी हिन्दी को सुधार संवार कर प्रकाशित किया। आज उनमें से कतिपय लेखक इन प्रान्तों के प्रसिद्ध पंडित, अध्यापक और विचारकर्ता माने जाते हैं। द्विवेदी जी के सरस्वती छोड़ने पर बहुत से लेखकों ने हिन्दी में लिखना बन्द कर दिया उनका ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध था। तीसरी चीज विविधता है अर्थात् युग के प्रतिनिधि होने के लिए विभिन्न रुचियों एवं प्रवृत्तियों के समाधान की आवश्यकता पड़ती है, नेतृत्व का यह पक्ष महावीर प्रसाद द्विवेदीजी की बहुज्ञता में देखा जाता है। वे अपने अध्यवसाय के द्वारा विविध सामग्री का समीकरण कर सके थे। उनमें सबसे बड़ा गुण संगठन शक्ति का था। इसी संगठन शक्ति के द्वारा वे हिन्दी साहित्य को

एक नयी दिशा प्रदान कर सके थे। उनका अध्ययन क्षेत्र बहुत विस्तृत था। उन्होंने संस्कृत-साहित्य, प्राचीन अनुसंधान, इतिहास, जीवन चरित्र, यात्राविवरण नवीन अभ्युथान का परिचय, हिन्दी का प्रचार आदि विषयों से 'सरस्वती को विभूषित किया। प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर भी टिप्पणियाँ रहती थीं। इस प्रकार सरस्वती अपने समय की हिन्दी जनता की विद्या बुद्धि की मापरेखा थी और वह अपने देश की अन्य भाषाओं की पत्रिकाओं से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में तो द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी। वह उनके उत्कष्ट अध्ययन और चयन शक्ति का द्योतन करता है। वे मराठी, गुजराती, उर्दू बंगला और अंग्रेजी पत्रों की उल्लेखनीय टिप्पणियां सरस्वती में उद्धृत करते थे। इस तरह द्विवेदीजी ने अनेक वर्षो तक सरस्वती की सेवा करते हुए हिन्दी के बहुजन समाज का साहित्यिक अनुशासन किया बहुत दिनों से वे हिन्दी के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा को द्विवेदी जी का बहुमूल्य सहयोग भांति-भांति से प्राप्त हुआ है। सभा को अपने विद्या वैभव और कार्य की सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उसे अपनी कठिन कमाई की अमूल्य संपत्ति सहस्रों पुस्तकें और 'द्विवेदी पद्म' की निधि के रूप में प्रदान की है। इसके अतिरिक्त कवियों के वर्गों का मार्गदर्शन कराने की क्षमता द्विवेदीजी में थी। मैथिलीशरण गुप्तसे लेकर कामताप्रसाद गुरू रामचरित उपाध्याय आदि के रचनाओं के विषय बताना, रचनाओं को सुधारना, उनकी भाषा को ठीक करना, उनके साहित्य के नेतृत्व का अन्य पहलू है। और स्वत: युगीन भाषा या गद्य की शैली का निर्माण करने में द्विवेदीजी का प्रमुख स्थान रहा है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का गद्य उस युग के अन्य गद्य लेखकों से कहीं अधिक व्यवस्थित सशक्त और प्रभावशाली है। इन दिशाओं से महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का कार्य उनके नेतृत्व का आधार बना रहा है इसीलिए उनकी आचार्य संज्ञा मूलत: युगीन नेतृत्व पर अवलम्बित है।

इसके पश्चात् शुक्लजी का आचार्यत्व विशुद्ध रूप से उनके शास्त्रीय ज्ञान पर आधारित है। स्वयं शुक्लजी ने किसी पत्र पत्रिका का संपादन नहीं किया, नेतृत्व करने की स्थिति न थी। वे एक पंडित के रूप में, शास्त्रज्ञ के रूप में हमारे सामने आते है। एक शास्त्रीय समीक्षा के प्रवर्तक के रूप में उनका आचार्यत्व स्वीकृत है यह दूसरे प्रकार का आचार्यत्व है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेई जी के शब्दों में जिस नीतिवाद, व्यवहार वाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद का द्विवेदी युग प्रतीक है उसे पराकाष्ठा पर

पहुँचा देने का श्रेय शुक्लजी को प्राप्त है। शुक्लजी ने अपनी साहित्यिक आलोचनाओं में तो उन्हें अपनाया ही, साथ ही साथ उनके लिए एक दार्शनिक नींव भी तैयार की जिसमें हिन्दी में नये युग का प्रवेश हुआ।[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना के लिये युगप्रवर्तक कार्य कर गये हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक हिन्दी आलोचना नये रूप में अवतरित नहीं हुई थी, लक्षण ग्रन्थों में रसों, अलंकारों, नायकों और विशेष कर नायिकाओं की सूची मात्र बनीं हुई थी। आलोचना के जो प्रधानसूत्र है लक्षण ग्रन्थों में उनका अभाव था। हरिश्चन्द्र के पूर्व साहित्य एवं लक्षण ग्रन्थ दोनों संस्कारहीन परम्पराबद्ध और अन्तदृष्टि रहित हो रहे थे। यद्यपि उस समय तक आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा एवं आचार्य श्यामसुन्दरदास जी जैसे आलोचकों एवं विद्वानों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा। हिन्दी आलोचना की इसी आरम्भिक किन्तु नवचेतन अवस्था में पं० रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार में नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमिका पर ला बिठाया और इस प्रकार रस और अलंकार को हिन्दी समीक्षा से बहिष्कृत होने से बचाया। यही नहीं उन्होंने इस सांचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की साहित्य समीक्षा का निर्माण इसी के आधार पर होना चाहिए। इस प्रकार कह कर शुक्लजी ने अपने दृढ़ आत्मविश्वास और संयत विवेक का परिचय दिया।

जहाँ तक व्यावहारिक आलोचना का प्रश्न है उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और ऊँचे काव्य सौन्दर्य के साथ रस और अलंकार का विन्यास करके रसपद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक संवेदना के स्तर पर की कि लोग भूल गए कि रसों और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।[२] वे स्वत: तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए, जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप ही आप स्खलित होने से बचे रहे।[३] शुक्लजी ने रस मीमांसा नामक ग्रन्थ में भारतीय साहित्य सिद्धान्तों को नवीन वेशभूषा देकर प्रस्तुत किया है। उनके समग्र समीक्षा कार्य में उनकी मौलिक और निजी दृष्टि का भी योग है।

१—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : पृ० ७१।

२—वही : पृ० ५६। ३—वही पृ० ५६।

शुक्लजी की प्रथम प्रौढ़ आलोचनात्मक कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' हैं। इसी से सर्वप्रथम शुक्लजी के पांडित्य का परिचय हिन्दी जगत को मिला। शुक्ल जी लोकमंगलवादी आलोचक थे। अत: तुलसीदास की कृतियों के सम्यक् अध्ययन के पश्चात् उनके लोकधर्म के स्वरूप को निरूपित किया है। शुक्लजी की आलोचना का मूल्यवान अंश भावनिरूपण है। अत: उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से मानस के भावपूर्ण एवं मर्मस्थलों को परखा और चुना और अपने काव्य में उनकी मनोवैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की। शुक्लजी के पूर्व समीक्षक मानस में पात्रों की प्रशंसा ही कर सके, पर पात्रों के व्यक्तित्व का निरूपण नहीं कर सके। शुक्लजी ने इस कार्य को प्रथम बार कर दिखाया।

सूर साहित्य की आलोचना जैसे शुक्ल जी करना चाहते थे वैसा न कर सके। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि वे संपूर्ण सूरसागर की वैसी ही आलोचना लिखना चाहते थे जैसे जायसी के काव्य की और इसके लिए 'सूरसागर' के अनेक पदों पर विचार विमर्श के लिए टिप्पणियां भी जोड़ दी थीं परन्तु वे अपने जीवन में उसे व्यवस्थित रूप न दे सके। फिर भी शुक्लजी की उसमें अपनी विशेषता हैं। जैसे तुलसीदास में लोकमंगल एवं लोक कल्याण के भाव दिखाई पड़े वैसे सूर में वे न पा सके। यही कारण हैं कि सूर की विशेषताओं को निष्पक्ष होकर वे उसी प्रकार प्रशंसा न कर सके जिस प्रकार तुलसी की। सूर की आलोचना के रूप में हमें 'भृमरगीतसार' की भूमिका ही मिलती है उस प्रसंग में से ही उन्होंने संयोग-वियोगावस्था के उदाहरण भी दिए हैं। दूसरी बात है सूर के काव्य में आद्यन्त प्रेम के एक ही चीज का वर्णन मिलता है जबकि तुलसी में लोकमंगल की भावना आद्यन्त मिलती है। उन्होंने सूर साहित्य को लोकमंगल की सिद्धावस्था का निरूपक बतलाया है इसलिए उसका मूल प्रेरक भाव करुणा न होकर प्रेम है। वे मानते हैं 'लोक संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है इसीलिए जीवन की समस्याओं का उल्लेख सूर साहित्य में नहीं है।

उनकी तीसरी आलोचनात्मक पुस्तक के रूप में 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका है। शुक्लजी के पूर्व जायसी का महत्व उतना नहीं था वे प्रकाश में न आ सके थे, उनकी रचनाओं से हिन्दी जनता अपरिचित थी। उनको प्रकाश में ला, हिन्दी साहित्य में एक प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने का श्रेय आचार्य शुक्लजी को हैं। शुक्लजी ने जितनी तन्मयता. लगन एवं निष्ठा के साथ जायसी की भूमिका लिखी उतनी तन्मयता से अन्य कवियों की नहीं। शुक्लजी ने कुछ लिखा हैं वह आज तक सर्वमान्य है। इसी से हम उनकी पांडित्य एवं आलोचक

व्यक्तित्व को जान सकते हैं। काव्य के रूप और वस्तुपक्ष की इतनी बारीक छानबीन हुई है कि यह भूमिका हिन्दी आलोचना का उत्कृष्टतम प्रमाण बन गई है। शुक्लजी की आलोचना का पूर्ण वैभव उस भूमिका में दिखाई पड़ता है।

इन आलोचनात्मक ग्रन्थों के अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है। इसमें उनको अनेक प्रकार के कवियों से संपृक्त होना पड़ा है। हिन्दी साहित्य को साहित्यिक रूप देने का कार्य शुक्लजी ने किया था। इसमें उनका विशुद्ध पांडित्य प्रतिबिंबित है।

संगठन के क्षेत्र में आचार्य श्यामसुन्दरदास जी का नाम आता है उन्होंने न तो महावीरप्रसाद द्विवेदी की भांति दूसरों की भाषा शैली का, संस्कार करने का कार्य ही किया और न शुक्लजी की भांति एक विशुद्ध पांडित्य की भूमिका पर साहित्य समीक्षा ही की पर उतना आचार्यत्व एक महान संगठन कर्त्ता, नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक के रूप में प्रकट हुआ है। हिन्दी के विकास के लिए, जो संस्थागत आयोजन हो सकता है, उसका सर्वप्रथम कार्य अपने हाथों में लेने के कारण बाबू श्यामसुन्दरदास आचार्य श्यामसुन्दरदास कहलाये।

यदि महावीरप्रसाद द्विवेदी जी और शुक्लजी वैयक्तिक भूमिका पर आचार्य हैं तो श्यामसुन्दरदास समष्टिगत संयोजन की भूमि पर आचार्य हैं। यदि उन्होंने केवल संगठन का कार्य ही किया होता तो भी आचार्यत्व की पदवी मिलती। उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में रचनात्मक कार्य भी किया जो अतिमूल्य-वान माना गया, जैसे भाषाविज्ञान, साहित्यालोचन आदि। वे आचार्य पदवी के सर्वथा योग्य सिद्ध होते हैं परन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी किये हैं।

जब महामना मालवीयजी ने उनको काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया और उच्चतम कक्षाओं तक हिन्दी के पाठ्यक्रम के निर्माण की समस्या आई तब श्यामसुन्दरदास जी ने इस क्षेत्र में न केवल प्राचीन ग्रन्थों के सुसंपादित संस्करण तैयार कराये बल्कि उन पर विशद विवेचन भी प्रस्तुत कराया। इस कार्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सबसे अधिक सहयोग दिया। लाला भगवानदीन ने केशवदास की रामचन्द्रिका का संपादन किया और उस पर टीका लिखी। दीनजी ने बिहारी सतसई पर भी एक सटिप्पणि संस्करण प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्ल ने तुलसी और जायसी पर गम्भीर विवे-चनात्मक ग्रंथ प्रस्तुत किये और तुलसी ग्रन्थावली तथा जायसी ग्रंथावली का

संपादन किया। कुछ समय के पश्चात् शुक्लजी ने भ्रमरगीतसार का अपना प्रसिद्ध संस्करण भी प्रस्तुत किया और अन्तत: हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। यह सब कार्य बाबू श्यामसुन्दरदासजी के निर्देशन में और उन्हीं की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से संपन्न किये गये। इनमें से शुक्लजी के प्राय: सभी ग्रंथ नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुए थे।

पाठ्यक्रम की समस्या हल करने में श्यामसुन्दरदासजी ने स्वयं भी कम उद्योग नहीं किये। उन्होंने साहित्यालोचन नामक समीक्षा सिद्धान्तों पर एक ग्रंथ लिखा जिसमें पहली बार भारतीय और पश्चिमी काव्य रूपों पर और काव्य सिद्धान्तों पर व्यवस्थित विवेचन किया गया। इस पुस्तक के अभाव में विश्व-विद्यालयों में समीक्षा शास्त्र का पढ़ाया जाना उस समय असंभव ही था। भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन और हिन्दी भाषा के क्रमविकास तथा हिन्दी की सहायक भाषाओं और बोलियों का श्यामसुन्दरदास जी ने भाषा विज्ञान शीर्षक ग्रन्थ लिखा जो आगे चलकर भाषा रहस्य के नाम से प्रचलित हुआ। बाबू साहब ने स्वत: हिन्दी भाषा और साहित्य नामक एक इतिहास ग्रन्थ भी लिखा जिसके प्रथम भाग में हिन्दी भाषा का विवेचन है। उसके द्वितीय भाग में हिन्दी साहित्य का इतिहास है। साहित्य के इतिहास में बाबू साहब ने उन-उन युगों की चित्र-कला, मूर्तिकला, वास्तुकला और संगीत कला आदि का भी संक्षिप्त विवेचन किया है। इस प्रकार का विशद विवेचन शुक्लजी के विशाल इतिहास में भी प्राप्त नहीं होता।

नागरी प्रचारिणी सभा के माध्यम से आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पृथ्वी-राजरासो, बीसलदेवरासो तथा अन्य अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन कराया जिसकी अन्तिम कड़ी में महाकवि सूरदास जी के सूरसागर का सम्पादन भी सम्मिलित है। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक विकासकाल में इस प्रकार का महत्वपूर्ण कार्य दूसरे किसी व्यक्ति ने नहीं किया था। अतएव बाबू श्यामसुन्दर-दास जी के लिए आचार्य संज्ञा सर्वथा संगत है।

द्विवेदीजी के आचार्यत्व के उपकरण

हिन्दी के इन आचार्यों की परम्परा में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी भी परिगणित हुए हैं। यह उपाधि उन्हें किसी सभा या समारोह में नहीं दी गई थी वरन् हिन्दी के पाठकों ने और विश्वविद्यालय के स्नातकों ने उन्हें स्वभावत: और अनायास यह उपाधि प्रदान की है। सच पूछा जाय तो पूर्ववर्ती इन आचार्यों

को भी इसी क्रम से आचार्यत्व की उपाधि मिली होगी। यद्यपि इनमें से प्रत्येक का आचार्यत्व भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र आधारों पर निर्मित हुआ था। यहाँ हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के आचार्यत्व के उपकरणों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

यदि हम द्विवेदीजी के आचार्यत्व की मूल भूमिका का शोध करना चाहें तो यह कहा जा सकेगा कि उनका आचार्यत्व प्रमुखतः उनके पांडित्य से सम्बन्धित है। सन् १९३१-३२ में उन्होंने हिन्दी साहित्य की भूमिका लिखकर एक नया विचार प्रवर्तन किया था। इस पुस्तक में उन्होंने कई ऐसी बातों की शोध की थी और उन पर प्रकाश डाला था जिनके विषय में हिन्दी पाठकों और विद्यार्थियों को कोई विशिष्ट जानकारी नहीं थी। हम यह भी कह सकते हैं कि अन्य भाषाओं में उन विषयों पर विचार किया जा चुका था। जिन्हें द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका में अवतरित किया था परन्तु जहाँ तक हिन्दी की इकाई का संबन्ध है यह भूमिका एकदम नयी थी और इसने हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया परन्तु द्विवेदीजी इस क्षेत्र में यहीं तक आकर स्थिर नहीं हो गए बल्कि उन्होंने इस कार्य को और भी आगे बढ़ाया। उनका यह कार्य यद्यपि उनके अनेकानेक ग्रन्थों में व्याप्त है परन्तु उनकी कबीर, मध्यकालीन धर्मसाधना, नाथसंप्रदाय, हिन्दी साहित्य का आदिकाल नामक पुस्तकों में विशेष रूप से पाया जाता है। इन समस्त शोधकार्य को हम एक शब्द में मध्यकालीन संस्कृति का जनजीवन की भूमिका पर किया गया साहित्यिक शोध कार्य कह सकते हैं। मध्यकाल के साहित्य के इतिहास तो लिखे जा चुके थे परन्तु इतनी विशद भूमिका पर वे नहीं लिखे गए थे और सबसे बड़ी बात यह है कि इनमें लेखक का एक अपना दृष्टिकोण सन्निहित है, जिसे हिन्दी के विद्यार्थी मानवतावादी दृष्टिकोण के नाम से जानने लगे हैं। द्विवेदीजी के इन कार्यों में उन्हें एक स्वतंत्र लेखक एवं विचारक की संपूर्ण भूमिका प्रदान की है। मध्यकालीन जीवन से संबन्धित साहित्यिक शोधकार्य में द्विवेदीजी का अभिनिवेश अभूतपूर्व कहा जायगा। इसकी यह ऐतिहासिकता, इसकी साहित्यिकता और इसकी तथ्यात्मकता में चाहे दो या अनेक मत हों पर इसकी नवीनता और स्वतन्त्र दृष्टि के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। हम इस सम्बन्ध में एक स्थान पर कह चुके हैं कि द्विवेदीजी का ध्यान इतिहास की शत प्रतिशत प्रामाणिकता पर सदैव नहीं रहता और अनेक आलोचकों ने उनके निष्कर्षों पर विरोधमूलक टिप्पणियाँ भी लिखी हैं। उदाहरणार्थ पं० चंद्रबली पांडेय का द्विवेदी जी के नाभादास के भक्तमाल के सम्बन्ध मे किया गया विवेचन द्रष्टव्य है। इसी

प्रकार द्विवेदीजी के आदिकाल सम्बन्धी विवेचन भी अनेक अनुमानों का संयोजन करते हुए भी किसी तथ्यात्मक निर्देश की उपलब्धि नहीं कराते। फिर भी यह कहना होगा कि एक नयी दिशा में एक नये प्रकार का कार्य विशद् रूप में करके द्विवेदीजी ने साहित्यिक शोध के क्षेत्र में अनेक नये सूत्र दिये है। जिनके बल पर वे एक ऐतिहासिक सांस्कृतिक विचारक के दायित्व को पूरा कर सकें।

द्विवेदीजी ने साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में जिन प्रतिमानों का निरूपण किया है वे भी उनके अपने हैं। हम यह कह चुके हैं कि शास्त्रानुमोदित साहित्य समीक्षा उनकी नही है। परन्तु उनकी समस्त समीक्षाओं मे उनका व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा प्रतिफलित हुई है जिसके कारण वे एक मौलिक समीक्षक माने गये हैं। शास्त्रीय समीक्षा प्रणाली से अलग जाकर द्विवेदीजी ने भाषा और साहित्य सम्बन्धी जिन परम्परायुक्त पद्धतियों का तिरस्कार किया है उनके औचित्य-अनौचित्य पर यहाँ कुछ भी कहना संगत न होगा। जिस बात का निर्देश हम यहाँ कर रहे हैं, वह है द्विवेदीजी की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा दृष्टि। स्वच्छन्दतावादी शैली के विचारक भी कई कोटियों में रखे जा सकते हैं। द्विवेदीजी की उनमें एक अलग कोटि है। मुख्य साहित्य-सारिणी से अलग होकर मुख्य सामाजिक विचारधाराओं से सम्बन्ध तोड़कर द्विवेदीजी ने अन्धकार युग के साहित्य पर विशेषकर जन साहित्य पर जो तीव्र प्रकाशपुञ्ज अभिमुख किया है उससे एक विशेष प्रकार के साहित्य पर आलोक डाला जा सका है। यूरोप में भी साहित्यिक इतिहास के अन्तर्गत एक अन्धकार युग की चर्चा की जाती है। ईसा की तीसरी, चौथी शताब्दी से लेकर दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी तक यूरोप में इस प्रकार के अन्धकार युग की स्थिति वताई गई है। साहित्यिक समीक्षकों ने शिष्ट साहित्य के अन्तर्गत इन शताब्दियों के ग्रन्थों को अधिक महत्व नहीं दिया है। उसका कारण बताते हुए समीक्षकों ने लिखा है कि इन शताब्दियों में यूरोप की सभ्य संस्कृति विदेशी आक्रमणों से छिन्न-भिन्न हो गयी थी। साहित्यिक निर्माण के परम्परागत केन्द्र ध्वस्त हो गये थे। फलत: उन शताब्दियों में साहित्यिक परम्पराओं का लोप हो गया और जो कुछ लिखा जाता था वह या तो कतिपय धार्मिक केन्द्रों में पादरियों और सन्तों का साहित्य है अथवा वह विशुद्ध रूप से लोक साहित्य है, जिनमें साहित्यिक गुणों का प्राय: अभाव है। उनकी भाषा ग्रामीण है और उनके भावों में अलंकृति का भाव है। ऐसे साहित्य को यूरोप की साहित्यिक परम्परा में प्रथम श्रेणी का साहित्य कम स्वीकार किया जाता है। परन्तु यहाँ हम शिष्ट और शास्त्रानुमोदित साहित्य की बात कह रहे हैं। बहुत सम्भव है कि अन्य दृष्टियों से देखने पर इस साहित्य में मूल्यवान

वस्तुएँ भी मिलें परन्तु उनकी ओर दृष्टिपात करना नागरिक साहित्यकों को अभीष्ट नहीं हैं।

द्विवेदीजी ने हिन्दी के वैसे ही जनसाहित्य को अपने विवेचन और मूल्यांकन का विषय बनाया है जिसकी तुलना यूरोप के अन्धकार युग के साहित्य से की जा सकती है। परन्तु द्विवेदीजी ने इस बात का ध्यान रखा है कि शिष्ट साहित्य से कुछ अलग रहकर भी इस प्रकार के साहित्य का एक सांस्कृतिक और दार्शनिक मूल्य है और उसी आधार पर उन्होंने इस युग के साहित्य का समीक्षण किया है। इसीलिए उन्हें समीक्षा के क्षेत्र में सांस्कृतिक और जनवादी समीक्षक की संज्ञा दी जा सकती है।

इसका यह अर्थ नही कि द्विवेदीजी भारत के शिष्ट साहित्य से परिचित नहीं है या उसके प्रति रुचि नहीं रखते। उन्होंने प्राचीन भारत का कलाविलास जैसी पुस्तकें भी लिखी हैं जिनसे उनके संस्कृत साहित्य सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है, परन्तु यहाँ भी द्विवेदीजी की सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि प्रमुख रूप से ज्ञापित हुई है। वे उस ऐतिहासिक परिवेश का रेखाचित्र देना चाहते हैं जिसमें संस्कृत के उत्तरकालीन कवियों के व्यक्तित्व ओर कृतित्व का निर्माण हुआ था। स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की अभिरुचि विशुद्ध साहित्य के रूप में साहित्य को देखने की नहीं है वरन् उसे भिन्न-भिन्न युगों के परिवेश में रख कर उनकी गति-विधि का निरीक्षण करने की है। अपने स्फुट निबन्धों में भी द्विवेदीजी ने जो समीक्षायें लिखी हैं वे इसी पक्ष को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत हुई हैं किसी साहित्यिक रचना से उस समय की सामाजिक और मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति किस मात्रा में होती है यह उनका मुख्य दृष्टिकोण है।

इस प्रकार समीक्षा और शोध के क्षेत्रों में एक नयी सृष्टि की उद्भावना करके और उसके अनुरूप अपरिचित और अज्ञात साहित्यधाराओं का विवेचन विश्लेषण करके द्विवेदीजी आचार्यत्व की पहली और मुख्य भूमिका को आत्मसात् किया था।

द्विवेदीजी के आचार्यत्व का दूसरा प्रमुख आधार उनका अध्यापन कार्य है। उनकी शिष्यमंडल और उनके विद्यार्थियों का विशाल समूह है जिसे उन्होंने पिछले ३० वर्षों से निरन्तर प्रेरणा और ज्ञान दिया है। सन् १९३० में वे शाँति-निकेतन गये थे और तभी से उन्होंने अध्यापक का पद ग्रहण किया था। शान्ति-निकेतन की शिक्षा प्रणाली रविबाबू के जीवनकाल में सामान्य शिक्षा प्रणालियों से बहुत कुछ भिन्न थी। सामूहिक वन्दनों और गायनों से आरम्भ होने वाली

अध्यापनचर्या विद्यार्थी और अध्यापक के बीच घनिष्ट सम्बन्ध सूत्रों का निर्माण करती है। प्रकृति के खुले प्रसार में वृक्षों के तले दी जाने वाली शिक्षा स्वभावत: स्वच्छ और पुनीत विचारों का निर्माण करती थी। द्विवेदीजी के अध्ययन संबन्धी आदर्श इन्ही भूमिकाओं पर निर्मित हुए हैं। कुछ समय पश्चात् यह वही शांति-निकेतन से काशी विश्वविद्यालय में आये तब भी वे अपनी पुरानी विधि का पालन करते रहे। उनके घर पर विद्यार्थियों का अबाध प्रवेश रहा करता था और भिन्न-भिन्न विषयों की चर्चा होती रहती थी। उन्होंने अपने संरक्षण में जो कतिपय शोध-कार्य अपने विशिष्ट विद्यार्थियों को वितरित किए थे उनमें द्विवेदीजी का निर्देशन बहुत कुछ स्पष्ट दिखलाई देता है। यही नहीं उन्होंने कुछ ग्रन्थों का संपादन भी अपने विद्यार्थियों के सहयोग से किया है। स्पष्ट है कि द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का प्रभाव तो इन विशिष्ट विद्यार्थियों पर पड़ा ही उनकी आत्मीयता और श्रद्धा भी उन्हें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुई। इस प्रकार द्विवेदीजी ने अपने चतुर्दिक कुछ प्रतिभाशाली विद्यार्थियों का एक ऐसा मण्डल बनाया जिससे उनके विचारों के प्रचार प्रसार और विशदीकरण में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। द्विवेदीजी जहाँ जाते है वहीं अपने अनुरूप विषयों और विचारों के विद्यार्थियों को निर्मित कर लेते हैं। उनके अध्यापक व्यक्तित्व में भावुकता राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक तत्वों और तथ्यों का अच्छा योग दिखाई पड़ता है। विद्यार्थियों से काम लेने में वे पर्याप्त सफल हुए हैं और इस प्रकार पिछले ३०, ४० वर्षों में उन्होंने अपनी एक शिष्य परम्परा निर्मित की है। उनकी यह विशेषता भी नया वैशिष्ट्य देती है और उनकी आचार्य संज्ञा को पुष्ट करती है।

विवेचनात्मक ग्रन्थों के प्रणयन और हिन्दी के इतिहास लेखन के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने कुछ स्वतन्त्र पुस्तकें उपन्यास और निबन्ध आदि लिखे हैं जो उनके वैचारिक लेखन कार्य को और भी दीप्ति दे सके हैं। जब कभी हिन्दी में वैयक्तिक निबन्धों के निर्माण और विकास का विचार होता है तब आधुनिक युग के साहित्यिकों में द्विवेदी का नाम प्रथम श्रेणी में लिया जाता है। उनके इन निबन्धों में मनोरञ्जन और विचारोत्तेजना के समृद्धगुण समाहित हैं। केवल इधर उधर की बातें करना अथवा असम्बद्ध वृतान्तों को एकत्र कर देना द्विवेदीजी के वैयक्तिक निबन्धों की विशेषता रही है। वे रह-रह कर किसी छोटी घटना या वस्तु के आधार पर महत्वपूर्ण जीवन समस्याओं का स्पर्श करते हैं। इस प्रकार रोचकता और गम्भीरता के वैविध्य तत्व उनके निबन्ध साहित्य में सन्निविष्ट हो गये हैं। ऐसे निबन्ध केवल विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के बीच में हीन हीं सामान्य हिन्दी पाठकों में भी लोकप्रिय हुए हैं। बल्कि कहा जा सकता है कि

विवेचात्मक समीक्षात्मक निबन्धों की तुलना में द्विवेदी जी के ये वैयक्तिक निबन्ध अधिक आकर्षक हैं। इसका कारण यह है कि द्विवेदीजी मूलरूप में एक भावात्मक लेखक हैं और वस्तुमुखी समीक्षा करने की अपेक्षा स्वच्छन्द और बहुवस्तु स्पर्शिनी भावधाराओं और विचारधाराओं की सृष्टि करने में अधिक रुचि रखते हैं।

बाणभट्ट की आत्मकथा नामक उपन्याम के प्रकाशित होने पर द्विवेदीजी की ख्याति एक रचनात्मक साहित्यकार के रूप में दूर दूर तक फै ी और हिन्दी संसार में इसका उचित स्वागत किया गया। इसकी भूमिका में द्विवेदीजी ने कुछ ऐसा निर्देश किया था जैसे यह आत्मकथा उनकी लिखी न होकर किसी अंग्रेज महिला की लिखी हुई है परन्तु इसमें निर्देश की गई है। इस ि र्देश के जीर्ण परदे को निकाल कर हिन्दी पाठकों ने वस्तु तथ्य को जानने का ौर द्विवेदीजी को एक सफल उपन्यासकार का पद प्रदान किया। इस उपन्यास में द्विवेदीजी ने हर्षकालीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का बहुत ही ज्ञान-वर्धक विवरण दिया है और साथ ही निपुणिका जैसे जीवन्त चरित्र को उद्घाटित कर दिया है। हिन्दी में थोड़े ही ऐसे उपन्यास हैं जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूमिका का इतनी स्पष्टता और तटस्थता से उल्लेख करते हैं। इस उपन्यास में द्विवेदीजी की भाषा कहीं तरल एवं प्रवाहपूर्ण कहीं सरल और स्वाभाविक और चित्रोपम बन पड़ी है। कहीं-कहीं वे बाणभट्ट की याद दिलाने वाली गुम्फित भाषा का भी प्रयोग करते हैं। इन सब विशेषताओं के कारण उनका यश एक महत्वपूर्ण विवेचन के रूप में एक सर्जनात्मक और इतिहासज्ञ कलाकार के रूप में फैल सका है। हमारे विचार से द्विवेदी जी के आचार्य पद को एक नयी शीर्ष शोभा देने में उनकी ये रचना भी कम सहायक नहीं हैं।

साहित्येतर विषयों में प्रवेश

जिस प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी केवल साहित्यिक विषयों में ही रुचि न रखते थे वरन् देश और काल की विविध गतिविधियों से भी संपर्क रखते हुए सरस्वती के माध्यम से उनका भी प्रकाशन किया करते थे। उसी प्रकार हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्येतर विषयों में काफी दिलचस्पी दिखाई है और उन्होंने अपने अनेक निबन्धों और लेखों में इस रुचि और अभिज्ञता का अनेकश: परिचय दिया है। नये युग की सांस्कृतिक समस्यायें क्या हैं, गान्धी जी का राष्ट्रीय प्रदेय क्या है? राष्ट्रभाषा की समस्यायें क्या हैं, समाजवाद क्या है और उसके प्रति हमारी दृष्टि क्या हो, ऐसे अनेक सामयिक प्रश्नों का द्विवेदीजी ने समय-समय पर विचार किया है और उन पर लेख आदि लिखे है। हमारे

नव्यतम साहित्यक किस दिशा में जा रहे है। मनोविज्ञान का साहित्य में कितना और कैसा स्थान है आदि प्रश्नों पर उनके प्रकीर्णक विचार उनकी पुस्तकों में पाये जाते हैं। साहित्य से दूर का सम्बन्ध रखने वाले और बहुत कुछ स्वतन्त्र लेख भाषायें द्विवेदीजी के व्यक्तित्व को एक अभीप्सित विस्तार देने में सहायक हुई हैं। इन सब विचारों के मूल में द्विवेदीजी की युगीन अभिज्ञता एक दायित्व-पूर्ण लेखक की योग्यता उन्हें प्रदान करती है। नयी साहित्यिक समस्याओं पर और साहित्येतर समस्याओं पर उनके विचार एक मार्गी निर्देशक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। इनमें द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का एक अन्य पक्ष प्रकट हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं द्विवेदीजी के समस्त साहित्य में अनेकमुखी विशेषतायें आई हैं और वे सब मिलकर द्विवेदीजी की एक युगीन साहित्यकार की गौरवपूर्ण स्थिति प्रदान करती हैं। सह सब वैविध्य और विस्तार द्विवेदीजी के आचार्यत्व के सहायक साधन बन सके हैं।

व्यक्तित्व के कतिपय गुण

यद्यपि पांडित्य और उसके ऊपर विवेचित विविध अंगों और उपांगों के आधार पर द्विवेदीजी आचार्यपद के अधिकारी हो सकते थे परन्तु बिना व्यक्तित्व योग के उनका आचार्यत्व कदाचित् पूर्ण विकसित नहीं हो पाता। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं पाँडित्य के अतिरिक्त सक्रियता का योग किसी प्राचीन आचार्यों में सदैव रहा है। अपने पांडित्य का प्रसार और उसकी व्यापक स्वीकृति के लिए प्राचीन आचार्य देश के विविध भागों में यात्रायें करते थे और वहाँ पंडितों से मिलकर अपनी विशेष विद्या का समादर कराने में समर्थ होते थे। वर्तमान समय में पुस्तक प्रकाशन के व्यवसाय के चल पड़ने से इस प्रकार की यात्रायें बहुत कुछ अनावश्यक हो गई हैं। घर बैठे ही पाठकों विद्यार्थियों और विद्वानों का समुदाय किसी ग्रन्थ की विशेषता और उसके गुणों का परिचय प्राप्त कर सकता है और ऐसे ग्रन्थ को सर्वमान्यता दे सकता है। परन्तु फिर भी आधुनिक युग में प्रचार और प्रसार का कार्य अपेक्षित बना हुआ है। इसके लिए सक्रिय व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व यथेष्ठ मात्रा में सक्रिय है। वे देश के भिन्न-भिन्न भागों से आवश्यकतानुसार जाते रहते हैं और अपने विचारों को प्रभावशाली रूप में उपस्थित करते हैं। नागरिक समाज का समर्थन और प्रशंसा प्राप्त करते रहे हैं। इस सक्रियता का एक विशेष अंग उनकी भाषण क्षमता है।

आचार्य शुक्ल और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भाषण कला में इतने

निपुण नहीं थे जितने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। इनकी वक्तृताओं में धारा-वाहिकता, ओजस्विता और भावावेग के उपकरण रहा करते हैं। ज्यों ज्यों हिन्दी साहित्य प्रजातांत्रिक स्तर पर आता जा रहा है त्यों त्यों साहित्यिकों के लिए अच्छा वक्ता होना भी आवश्यक हो गया है। लोग दूर से देखकर या किताबें पढ़कर ही सन्तोष नहीं करते। पंडितों को, जिनका वे सम्मान करते हैं साकार और सशरीर देखने के भी इच्छुक होते हैं और यदि ऐसे पंडित अच्छे वक्ता भी हों तब तो कहना ही क्या है? भिन्न-भिन्न उत्सवों, जयन्तियों और साहित्यिक समारोहों में ऐसे व्यक्तियों की बड़ी पूछ होती है। इस प्रकार वक्तृता के माध्यम से उस व्यक्ति के यश और प्रसिद्धि का विस्तार होता है।

यहाँ हमने द्विवेदीजी के वक्तृत्वकला में भावात्मकता की चर्चा की है। भाषण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। कुछ भाषणकर्त्ता अपनी बात को सीधे सादे शब्दों में एक अनुक्रम के साथ कह डालते हैं। उनका मुख्य लक्ष्य विषय के स्पष्टीकरण का रहा करता है। उनको इतने ही से सन्तोप हो जाता है कि उनकी बात दूसरों तक पहुँच गई।

दूसरे प्रकार के भाषणकर्त्ता वे होते हैं जो विषय के स्पष्टीकरण के साथ प्रभावशीलता के पक्ष को भी ध्यान में रखते है ऐसे लोग विषय के साथ भाषा के सौन्दर्य और उसके प्रवाह को भी प्रदर्शित करते रहते है। परन्तु फिर भी उनमें तात्कालिक प्रभावोत्पादन की उतनी क्षमता नहीं होती जितनी भावात्मक वक्तृता के द्वारा हो सकती है।

द्विवेदीजी की वक्तृता मुख्यत: भावात्मक होती है। वे अपने विषय को विचारमूलक न बनाकर, आनुक्रमिकता का अधिक ध्यान न रखकर विशुद्ध भावोन्मेष की सृष्टि करने का प्रयत्न करते हैं और वे इस कार्य में पर्याप्त मात्रा में सफल भी होते हैं। जिस भाषण के बीच-बीच में तालियाँ न बजाई जाँय वह भाषण असामान्य नहीं कहा जा सकता और यह असामान्यता श्रोताओं के मानस में भावोद्वेलन करने की क्षमता पर आश्रित है। वर्तमान समय में जबकि बुद्धिवाद का महत्व बढ़ रहा है विदेशों में विवेचन मूलक वक्तृतायें भी पसन्द की जाती हैं। परन्तु भारतवर्ष में अब भी भावोन्मेषकारक भाषणों का महत्व बना हुआ है। यों तो प्रत्येक समय में और प्रत्येक देश में कुछ वक्ता ऐसे होते हैं जो श्रोताओं को अपने साथ बहा ले जाने में समर्थ होते हैं विशेषकर राजनीतिक क्षेत्र की वक्तृतायें इस प्रकार की होती हैं और राजनीतिक भाषणकर्त्ताओं के लिये जन-समाज को आंदोलित करने की क्षमता आवश्यक मानी जाती है। फिर भी वर्तमान समय में कोई उत्तेजनात्मक वक्तृतायें महत्वपूर्ण नहीं मानी जातीं।

राजनीतिक क्षेत्र में भी अब भी विचारों का महत्व बढ़ता जा रहा है आज के वक्ताओं के लिए प्रमाण और प्रमेय का परिचय देना आवश्यक हो गया है फिर भी नयी सूझों, नये आरोपों और नवीन व्यंग्यों के क्षेत्र का प्रचलन समाप्त नहीं हुआ है। साहित्यिक भाषणों में यदि भावात्मकता के साथ सुन्दर भाषा, आकर्षक शब्दविन्यास और प्रभावकारी शैली हो और इनके साथ ही वैचारिक भूमिका भी पुष्ट और प्रौढ़ हो तो वह वक्तृता सर्वाधिक प्रभावकारी होती है। द्विवेदीजी के भाषणों में भावात्मकता के साथ विचार पक्ष का भी सम्यक सहयोग रहा करता है।

आरम्भ में मन्द गति और धीमे स्वर में अपनी वक्तृता को आगे बढ़ाते हुए क्रमश: गति को तीव्र और स्वर को उदात्त बनाते हुये और साथ ही अपनी वक्तव्य वस्तु को अनेक चरम सीमाओं पर पहुँचाते हुए भाषण देने में द्विवेदीजी की निपुणता देखी जाती है। आवश्यकतानुसार छोटे चुटकुले गुरुदेव के संस्मरण और हल्के विनोदात्मक प्रकरण जोड़ते हुये द्विवेदीजी अपने भाषणों में आगे बढ़ते हैं और जब श्रोता उनकी ओर आकृष्ट होने लगते हैं तब वे भावात्मक प्रकरणो को जोड़कर उल्लासपूर्ण वातावरण का निर्माण कर देते हैं। द्विवेदीजी की भाषणकला और उनके साहित्यिक वक्तव्य हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्रों में अच्छी ख्याति प्राप्तकर चुके है। इस प्रकार सार्वजनिक प्रशंसा का क्षेत्र द्विवेदीजी ने पर्याप्त विकसित कर लिया है। हम कह सकते हैं कि उनके भाषणों से उनकी ख्याति ही नहीं बढ़ी है उनके आचार्यत्व को भी सशक्तता प्राप्त हुई है।

मिलनसार स्वभाव

वर्तमान युग में प्रजातांत्रिक भावना के विकास के साथ मिलनसारता एक आवश्यक गुण है। प्राचीन समय में पंडितों के लिए यह गुण अधिक अपेक्षित न था, बल्कि कई बार किसी पंडित का अधिक मिलनसार होना एक अवगुण ही माना जाता था, क्योंकि ऐसा करने पर एक तो उसकी शक्ति अनेक कार्य में बट जाती थी। दूसरे साधारण लोगों के संपर्क से उसकी असामान्यता भी बाधित होती थी। परन्तु वर्तमान समय में जब तक विभिन्न क्षेत्रों के लोगों से मिलकर मैत्री न स्थापित की जाय तब तक व्यक्ति लोकप्रिय नहीं हो पाता और उसके बहुत से काम अटक जाते हैं। ऐसा करने पर उसके समय और शक्ति का अपव्यय भी होता है परन्तु चुने हुए लोगों से सम्पर्क और सौहार्द्र रखना आवश्यक होता है। द्विवेदीजी इस दिशा में पर्याप्त सीमा तक सफल हुए हैं। उनका परिचय क्षेत्र ही काफी व्यापक और विस्तृत ही नहीं बल्कि अंतरंग मित्रों की संख्या

भी काफी बड़ी है। इस विषय का विस्तृत विवरण हम व्यक्तित्व वाले अध्याय में दे चुके हैं। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अपने मिलनसार स्वभाव के कारण द्विवेदीजी अनेक सार्वजनिक क्षेत्रों में अपने और मित्रों परिचितों का एक समुदाय एकत्रित कर चुके हैं।

यह मिलनसारता एक ऐसे व्यक्तित्व की माँग करती है जो सबको प्रसन्न रख सके और किसी के विरोध में न आये। किसी साहित्यिक के लिए जो समीक्षक का कार्य भी कर रहा हो इस प्रकार का मैत्री और अद्वेषभाव कभी कभी कुछ कठिनाइयां भी लाता है। जब हमें किसी कवि या लेखक की किसी रचना या कृति पर अपने विचार व्यक्त करने होते हैं तब हम इस बात का ध्यान नहीं रख सकते कि उन स्पष्ट विचारों को पढ़कर वह लेखक या कवि हमसे अप्रसन्न हो जायेगा। यहाँ पर प्रश्न कर्त्तव्यपालन और सर्वतोभद्र बनने की चेष्टा के बीच एक संघर्ष या द्विविधात्मकता का आ जाता है। यदि हम सबको खुश रखना चाहते है तो शायद वैयक्तिक भूमिका पर हम किसी का विरोध नहीं कर सकते परन्तु समीक्षक के लिए तथ्यपूर्ण बात का कहना आवश्यक है भले ही वह किसी को बुरी लगे। वहाँ पर समीक्षक किसी का व्यक्तिगत विरोध नहीं करता वरन् भरसक अपने विचारों को संयत और शिष्टभाषा में उपस्थित करता है। वैसी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति समीक्षक के आशय और उद्देश्य को न समझकर उसे अपनी कृति का कटु आलोचक मान लें तो इसमें समीक्षक का क्या दोष है? साहित्य के क्षेत्र में व्यक्तिगत मैत्री के नाम पर तथ्यपूर्ण वक्तव्यों का न लिखा जाना एक दोष ही माना जायगा।

द्विवेदीजी के व्यक्तित्व में किसी का विरोध न करने की एक मूलभूत विशेषता विद्यमान हैं। इसलिए अकसर वे अपनी समीक्षाओं में किसी व्यक्ति विशेष का नाम न लेकर या तो साहित्यिक प्रवृत्तियों के संबन्ध में अपने विरोधी विचार प्रकट करते हैं या फिर वे अकसर मौन भी रह जाते हैं। द्विवेदीजी ने आधुनिक साहित्य और साहित्यिकों पर कम ही लिखा है और जो लिखा भी है वह अधिकतर प्रशंसात्मक है। सामयिक साहित्यिक गतिविधियों पर उनके विचार सब जगह अनुकूल नहीं है परन्तु ऐसे अवसरों पर वे किसी व्यक्ति का नाम न लेकर सामान्य रूप से अपना वक्तव्य प्रकट करते हैं। द्विवेदीजी की यह वृत्ति उनके विचारों के प्रकाशन में कभी अवरोध भी लाती है या नहीं यह कहना कठिन है, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि द्विवेदीजी के वक्तव्यों में प्रशंसात्मकता का तत्व अधिक रहा करता है। उनकी समीक्षायें विवेचन और विश्लेषण की उन्हीं भूमियों पर जाती है जिनसे वे किसी लेखक या कवि पर अनुरूप निष्कर्ष दे

सकें अन्यथा वे प्राय: सामान्यकथन से संतोष कर लेते हैं। हिन्दी के समीक्षकों में यदि एक ओर द्विवेदी जी को रखा जाय और दूसरी ओर रामविलास शर्मा को तो देखा जा सकता है दोनों समीक्षक दो अतिवादी छोरों पर सस्थित हैं। एक की समीक्षाओं में विरोध का तत्व प्रधान है और दूसरी की समीक्षाओं मे या तो प्रशंसा का तत्वप्रधान है या सामान्य कथन का। हम यह नहीं कहते कि दोनों समीक्षक अपनी विरोधात्मक या प्रशंसात्मक समीक्षाओं के द्वारा साहित्य का हित नहीं करते। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये समीक्षक समीक्षा के मध्यमार्ग से एक सीमा तक हटे हुए हैं। जहाँ तक द्विवेदीजी का सम्बन्ध है उनकी समीक्षाओं और टिप्पणियों में लेखक या कवि के सत्पक्ष पर अधिक ध्यान दिया गया है और असत् पक्ष की उपेक्षा की गई है। यह द्विवेदीजी की मैत्री भावना का ही परिणाम है जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

कतिपय चारित्रिक विशेषतायें

द्विवेदीजी के ग्रन्थलेखन, उनके पांडित्य और व्यक्तित्व की कतिपय विशेषताओं पर विचार करने के पश्चात् अब हम उनके चारित्रिक गुणों पर भी दृष्टिपात करना चाहेंगे। क्योंकि आचार्यत्व के मूल में चरित्र की सत्ता भी रहा करती है। कहना तो यह चाहिए कि प्राचीन समय में आचार्यत्व का मूल आधार चरित्र ही था। क्योंकि आचार्य शब्द जैसा कि ऊपर कह चुके हैं उस चरित्रात्मक विशेषता का द्योतक है जो अन्य लोगों के लिए आचरणीय है। आचार्य द्विवेदी अपनी विनयशीलता, मधुरभाषिता आदि गुणों के कारण अधिक लोकप्रिय हो सके हैं परन्तु इन सब गुणों के रहते हुए चरित्र की दृढ़ता और उसकी निष्कलुषता भी आवश्यक होती हैं। आचरणीय चरित्र वही होता है जिसमें सत्य की प्रवृत्ति अपने विचारों के प्रति निष्ठा और उच्चकोटि की चारित्रिक विशेषता पाई जाये। आचार्य द्विवेदीजी ने अत्यन्त सामान्य जीवनस्थितियों से अपने व्यक्तित्व का विकास किया है। इन्होंने कठिन परिस्थितियों में शिक्षा पाई है, विश्वविद्यालयों की आधुनिक शिक्षा इन्हें आंशिक रूप से ही मिली। इसकी पूर्ति इन्होंने अपने निजी अध्ययन से की है। जो उनकी वैयक्तिक साधना ही कही जायगी। ऐसी परिस्थितियों से आगे बढ़ने वाले व्यक्ति का चरित्र स्वभावत: इतना सुदृढ़ हो जाता है कि संसार के प्रलोभन और मरीचिकायें उसके मार्ग मे बाधा नहीं डाल सकतीं। द्विवेदीजी यद्यपि विनयशील और मिलनसार हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी विनयशीलता उनके विचारों को स्पष्टता और निर्भीकता देने के बाधक है। विनयशीलता उनका वैयक्तिक गुण है परन्तु इसके अतिरिक्त उनका दायित्व सामाजिक

और वैचारिक जगत के प्रति भी है। यदि वे एक को आवश्यकता से अधिक महत्व दे देते तो कदाचित् उन मूल्यमान विचारों को न रख सकते जो उनके चरित्र के गम्भीर गुणों से समन्वित हैं। मिलनसारिता भी मनुष्य में कमजोरियाँ ला सकती हैं और मनुष्य बाजारू बन सकता है। परन्तु द्विवेदीजी की मिलनसारिता इस कोटि की नहीं है। उनके व्यक्तित्व में चारित्रिक विशेषतायें संतुलित रूप में उद्भासित हुई हैं और वे परस्पर विरोधी दिखने वाले गुणों को समन्वित करके एक ऐसी इकाई का निर्माण कर सके हैं जिससे उनकी चारित्रिक विशेषतायें समरस हो सकी हैं। उनमें कतिपय पंडितों की जैसी उग्रता, असहिष्णुता आदि के भाव नहीं हैं बल्कि एक ऐसी उदारता है जो दूसरों के प्रति उपेक्षा नहीं आने देती। द्विवेदीजी में आत्मप्रचार और आत्मप्रसार का दुर्गुण भी अपवारित हो चुका हैं। हम कह सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व सामाजिक चारित्र्य संकीर्णता और अनुदारता के समस्त दोषों से रहित है।

जीवन दृष्टि की विशालता

जब हम समग्र रूप से आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर दृष्टिपात करते हैं और उनके आचार्यत्व के उपादानों का परिचय प्राप्त करते हैं तब उनकी कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता उनका मानवतावादी विचार दर्शन दिखाई देता है जो आधुनिक युग के अत्यधिक अनुरूप हैं। उन्होंने अपने संपूर्ण साहित्य में समाज के उस उपेक्षित और किसी सीमा तक अपमानित मानववर्ग का साथ दिया है जो अन्यथा हिन्दी साहित्य में बहुत कुछ लांछित बना रहा है। उनके इस दृष्टिकोण के साहित्यिक महत्व पर हम ऊपर कुछ निर्देश कर चुके हैं। यह स्वीकार करने में हमें आपत्ति नहीं कि द्विवेदीजी का यह दृष्टिकोण समृद्ध साहित्यिक विकास के सर्वथा अनुरूप नहीं है। साहित्यिक प्रतिमानों का निरूपण शिष्ट साहित्य की भूमिका पर ही हुआ करता है। द्विवेदीजी उस मार्ग को छोड़कर एक दूसरे ही साहित्यिक आदर्श का निर्देश कर सके हैं। आचार्य शुक्ल जी अपने निबन्धों में सजे हुए गुलदस्ते की अपेक्षा खिले हुए उपवन या बाटिका के सौन्दर्य को अधिक सुन्दर बतलाते हैं किन्तु बाटिका उपवन की अपेक्षा वे वनों और कान्तारों के सौन्दर्य को उच्चतर ठहराते हैं क्योंकि उनमें आदि मानवता का साहचर्य विद्यमान है। मनुष्य उन्हीं वनों से निकल कर नगरों में आया है। व्यक्तिगत रीति से वन्यशोभा का पक्षपात करते हुए भी शुक्लजी अपने साहित्यिक विवेचनों मे अधिक नागरिक है। उन्होंने साहित्य की शिष्ट परम्परा का सदैव समर्थन किया है। इसके साथ ही उन्होंने मर्यादा और संयम के तत्वों का आग्रह

किया है। तुलसी साहित्य पर उनकी विशेष आस्था गोस्वामी तुलसीदास की सामाजिक दृष्टि पर आश्रित है। इस प्रकार शुक्लजी के वैयक्तिक आदर्शों, वैयक्तिक रुचियों और उनके साहित्यिक निर्देशों में एक व्यवधान बना हुआ है। पंडितों के शास्त्रीय विवेचनों को छोड़कर कबीरदास अशिक्षितों के समूह में अपनी अटपटी वाणी का प्रसार करना चाहते थे। इसलिए शिष्ट साहित्य की सीमा में शुक्लजी ने कबीर को बहुत हिचकते हुए एक सीमित स्थान दिया है।

इससे भिन्न आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रकृति के वन्य और आदिम सौन्दर्य की कोई विशेष चर्चा नहीं करते बल्कि वे शान्तिनिकेतन की सुरुचिसंपन्न वातावरण के परिवेश में रहे हैं। कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि में शांतिनिकेतन की सौन्दर्यवादी संस्था सक्रिय रही होगी। परन्तु जब वे साहित्य की चर्चा और विवेचन में प्रवृत्त होते हैं तब वे सौन्दर्य दृष्टि को अलग रखकर उन ग्रामीण और अशास्त्रीय लोक कवियों का स्मरण करते हैं जिनका शिष्ट साहित्यिक नाम भी नहीं जानते। नाथ सिद्ध और योगियों के संप्रदाय बंगाल के बाउल और ऐसे ही अन्य लोकजीवन प्रतिनिधियों की ओर उनकी दृष्टि जितनी गई है उतनी शंकराचार्य, रामानुज और रामानन्द जैसे महान् आचार्यों के प्रति नहीं। यह एक आश्चर्यजनक विरोधाभास है कि रवीन्द्रनाथ के अत्यन्त आधुनिक व्यक्तित्व के सम्पर्क मे रहकर द्विवेदीजी साहित्यिक और दार्शनिक भूमिका पर उन लोगों का उन्नयन करते हैं जो किसी सीमा तक असाहित्यिक ही कहे जा सकते हैं। परन्तु इस विरोधाभास के मूल में वास्तविक विरोध नही है। स्वयं रवीन्द्रनाथ कबीर से प्रभावित नही है उनके काव्य विकास में वैष्णव कवियों की भावधारा का एक प्रमुख स्थान है। साथ ही रहस्यवादी निर्गुणिया सन्तों के सम्बन्ध में उन्हें अशेष जिज्ञासा थी। आधुनिक सभ्यता की भौतिकवादी कृत्रिमता और शिष्टाचार तथा स्वार्थपरता से विरक्त होकर रवीन्द्रनाथ ने उन सन्तों की काव्य रचना में ऐसे तत्व पाये हैं जो शालीन और नागरिक कवियों में नहीं मिलते। इसमें आश्चर्य नहीं यदि रवीन्द्रनाथ और क्षितिमोहन सेन जैसे व्यक्तियों के साहचर्य में आकर आचार्य द्विवेदीजी ने काव्य और साहित्य के आलंकारिक और सुविन्यस्त स्वरूपों को छोड़कर उन मौलिक मानवीय भावधाराओं के समीप जाने और उनमें निमज्जित होने का प्रयास किया जिनकी ओर सामान्यत: लोगों की दृष्टि नहीं जाती। जितनी ही नागरिकता और भौतिकता की अभिवृद्धि होगी उतना ही मानव हृदय संकीर्ण और कृत्रिम हो जाने का भय रहेगा। इस शंकास्पद स्थिति से देश और राष्ट्र की रक्षा करने का एक उपाय यह है कि हम उस आदिम और

मूलवर्ती मानवतावादी दृष्टि का साहचर्य प्राप्त करें जो नये युग में औषधि का काम कर सकती है। पश्चिम में टाल्स्टाय और पूर्व में रवीद्रनाथ और गाँधी ने आधुनिक संस्कृति के भौतिक अभियान को रोकने और उसमें मानवीय तथ्यों की गहराई की योजना करने का न केवल संदेश दिया है बल्कि सम्पूर्ण प्रयत्नों द्वारा स्थिति में सामञ्जस्य लाने का प्रयत्न किया है। आचार्य द्विवेदीजी उसी आदर्शोन्मुख विचारधारा के अनुयायी हैं और अपने समस्त साहित्य में उन्होंने इसी लक्ष्य की पूर्ति का अविरल उद्योग किया है। प्रचलित साहित्यिक गतिविधियों और उसकी सौंदर्यमूलक साधनाओं के प्रति द्विवेदीजी की उतनी अभिरुचि नहीं जितनी मानवीय उदारता, अहिंसा, और शान्ति के उन प्रयत्नों की ओर वे आधुनिक समाज को अतिवाद की ओर जाने से सुरक्षित रखने की है। यही सुरक्षा का प्रयत्न द्विवेदीजी का साहित्य और उनके विचार करते रहे हैं। कतिपय साहित्यिक युगों में ऐसे लेखकों और आचार्यों की भी आवश्यकता पड़ती है जो साहित्य के वर्तमान से दृष्टि हटाकर उसके उन शाश्वत तत्वों की ओर दृष्टि निक्षेप करते हैं जो ऊपरी दृष्टि से अशुभ है और अनलंकृत होता हुआ भी मानवतत्व की गम्भीरता का स्पर्श करता है। मानव सभ्यता के दीर्घ अभियान में आलोक नक्षत्र का काम देता है। आचार्य द्विवेदीजी इसी पथ के पथिक हैं। उनकी साहित्यिक समीक्षा और शोध जिनके आधार पर उनका आचार्यत्व निर्मित है इसी मानववादी उद्देश्य की सिद्धि करते हैं। वर्तमान युग में हिन्दी साहित्य की अनेकानेक प्रवृत्तियों और विकास दिशाओं में एक विशेष दिशा का स्थायी और प्रभावपूर्ण संकेत द्विवेदीजी के साहित्य में उपलब्ध होता है। उनकी यह जीवन दृष्टि ही उनके साहित्य प्रयासों के मूल में है और यही उनके आचार्यत्व की नियामिका शक्ति है।

७

शैलीकार द्विवेदी

जब हम किसी गद्य लेखक को शैलीकारके नाम से अभिहित करते हैं तब हमारा प्रमुख लक्ष्य उस लेखक की उन विशेषताओं से होता है जिनके द्वारा वह अपने गद्यलेखन की एक इकाई निर्मित करता है। वह इकाई जहाँ उसे एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है वहीं दूसरी ओर उसे अन्य गद्य लेखकों से बहुत कुछ पृथक् कर देती है। यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक गद्यलेखक गद्य का शैलीकार नहीं होता, कई बार गद्यलेखन केवल वस्तु परिचय के निमित्त प्रयुक्त होता है। लेखन का उद्देश्य अपनी बात को किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्त कर देना और पाठकों को उसका बोध करा देना हुआ करता है। ऐसे गद्यलेखन में किसी शैली का प्रत्यय नहीं मिलता। कुछ अन्य गद्यलेखक अपनी स्वतन्त्र शैली का निर्माण कर किसी बड़े लेखक की शैली का अनुवर्तन करते हैं। यद्यपि उसमें थोड़ी बहुत मौलिकता भी हो सकती है परन्तु वह मौलिकता स्वतन्त्र शैली के स्तर पर नहीं पहुँचती। कुछ ही ऐसे लेखक होते हैं जो अभ्यासपूर्वक अपनी स्वतन्त्र शैली का निर्माण करते हैं और अपने व्यक्तित्व की छाप उस पर छोड़ जाते है। यह नहीं कहा जा सकता है कि इस प्रकार का प्रत्येक शैलीकार विषय वस्तु में भी कोई अपूर्व नवीनता ले ही आता है परन्तु यह कहा जा समता है कि विषय वस्तु की नवीनता और स्वतन्त्र चिन्तन की प्रणाली अपने साथ प्राय: एक नयी शैली को जन्म देती है। जब तक लेखक के पास कुछ कहने को नहीं हैं और जब तक यह अपने कथन को किसी विशेष प्रणाली के माध्यम से प्रकट नहीं करता तब तक न तो कोई उल्लेखनीय शैली ही निर्मित हो सकती है और न लेखक की अपनी स्वतन्त्र

अभिव्यंजना पद्धति का ही विकास हो सकता है अतएव हम कह सकते हैं कि शैली का निर्माण लेखन की विचारधारा वक्तव्य वस्तु और चिंतन या नियोजन प्रणाली का परिणाम है। जब तक उपर्युक्त तथ्यों का एक साथ संयोग नहीं होता तब तक कोई भी लेखक शैलीकार नहीं कहला सकता।

कभी-कभी ऐसे लेखक भी दिखाई देते हैं जिनका वस्तुपक्ष या वक्तव्य का विषय अधिक सारवान नहीं होता फिर भी वे वक्तव्य की ऐसी प्रणाली का निर्माण करते हैं, उसे ऐसी सज्जा देते हैं कि उसमें स्वतन्त्र शैली का भान होने लगता है परन्तु यह द्वितीय श्रेणी के शैलीकार कहे जायेंगे। ऐसे शैलीकारों में चमत्कार का तत्व भाषा परिष्कार की विभूति और वक्तव्य का चटकीलापन रहा करता है किन्तु सच्चे अर्थों में ऐसे लेखक उत्तम शैलीकार नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली की विशिष्टता के लिए वक्तव्य की नवीनता, मौलिकता और चिन्तन की सुव्यवस्थित पद्धति शैली के प्रमुख उद्‌भावक गुण हैं।

शैली का सम्बन्ध जहाँ एक ओर विषयवस्तु से रहा करता है वही दूसरी ओर लेखक विशेष की विचार पद्धति से भी निर्मित होता है। शैली का तृतीय गुण लेखक का अपना व्यक्तित्व, उसके संस्कार, रुचि और अभ्यास आदि भी रहा करते हैं। विषय वस्तु से हमारा आशय लेखन विशेष के उस समग्र वक्तव्य से है जिसे वह पाठक को हृदयंगम कराना चाहता है। विचार या चिंतनप्रणाली से हमारा आशय उस नियोजना से है जिसके द्वारा विषय पूर्णतः अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार लेखक के व्यक्तित्व से हमारा आशय लेखक की उस वैयक्तिक अभिरुचि और प्रवृत्ति से है जो उस समस्त वक्तव्य का नियमन करती है।

साहित्य के इतिहास में गद्य के अनेक भेद भी पाये जाते हैं ये प्राय: साहित्यरूपों या साहित्य विधाओं से सम्बन्धित हैं। वर्तमान समय में नाटक एक गद्य रूप है इसी प्रकार उपन्यास और कहानी गद्य रूप हैं। निबन्ध और समीक्षा भी गद्य रूप हैं। और भी अनेकानेक गद्य रूप हैं और हो सकते हैं। स्वरूप भेद के कारण भी लेखकों की गद्य शैली अपना स्वरूप भेद माना करती है। नाटक एक दृश्यकाव्य है जिसका सम्बन्ध दर्शकों से भी होता है। उसके अपने कुछ नियम और बन्धन हैं। वे उसमें स्वरूप का निर्धारण करते हैं। नाटकों में वर्णनात्मक कोई वस्तु नहीं आ सकती, लेखक पात्रों के मुँह से ही सानुवाद कहलाता है। नाटक में कथनोपकथन पात्र और परिस्थिति के अनुरूप होते हैं। कथानक या नाट्य व्यापार को गतिशील करने के लिए संवादों की योजना होती है। चरित्रों की मनस्थिति और विचारों को भी ये संवाद प्रतिफलित करते हैं। स्पष्ट है कि नाटक

की गद्य शैली इन तथ्यों का ध्यान रखे बिना एक पग भी आगे बढ़ नहीं सकती। उपन्यास का मुख्य लक्ष्य एक वर्णनात्मक या सांकेतिक कथानक के द्वारा पाठकों को मानव चरित्रों और मानव परिस्थितियों का बोध कराना रहा करता है। लेखक चाहे तो एक-एक वस्तु की वर्णना लम्बे-लम्बे अनुच्छेदों में कर सकता है। वह परिस्थिति के अनुरूप अपने वक्तव्य का मंथर या गत्वर बना सकता है। उपन्यासकार को अपनी शैली का निर्वाह करने में अधिक स्वतन्त्रता रहती है। अतएव शैली का वैविध्य उपन्यास के माध्यम से अधिक सुगमतापूर्वक प्रकट किया जा सकता है। इन दो उदाहरणों से ही हम यह समझ सकते हैं कि ऊपर शैली की जिन·········आधारभूत शैलियों का उल्लेख किया गया हैं वे इन विविध साहित्य रूपों का माध्यम ग्रहण करने पर अनेक रूपात्मक हो जाती हैं। तब हम गद्य की उन विभिन्न शैलियों का परिचय प्राप्त करते हैं जो मूलत: वक्तव्य वस्तु, नियोजन प्रणाली और लेखक के व्यक्तित्व से मिश्रित होकर भी व्यावहारिक रूप में विविध साहित्य रूपों की अनुवर्तिनी होकर प्रकट होती है। शैलियों का यह प्रायोगिक रूपों और इस रूप की संख्या या सीमा निर्धारित करना सम्भव नहीं है। तत्वत: शैली के तीन उपादान होते हुए भी व्यवहारत: उनकी संख्या अपरिमित हो जाती है। ऊपर हमने शैली के अंतरंग आधारों का निरूपण किया है। शैली के कुछ बहिरंग उपादान भी होते हैं। प्रत्येक शैली भाषा का परिच्छेद धारण करके ही प्रकट होती है अतएव भाषा शैली का बहिरंग उपादान है। भाषा का निर्माण अक्षरों या वर्णों, शब्दों या पदों, शब्द समुच्यों, वाक्यावलियों, और वाक्य समुच्चयों अथवा अनुच्छेदों के रूप में देखा जाता है। ये सब भाषा के स्वरूप निर्माण के साधन हैं। परन्तु इनकी योजना अविचारित भी हो सकती हैं और सुविचारित भी। अविचारित योजना में भाषा के लिए उपकरण विश्रृंखल नहीं, सुविचारित योजना में ये गद्य के अंतर्गत ध्वनियों, लयों और संगठन के ऐसे तथ्यों आनयन करते हुए या वहन करते हुए अपना अभीप्सित साहित्यिक प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हो जाता है। एक गद्य लेखक शैली के इन उपकरणों के चयन में एकदम उपेक्षाशील होता है। दूसरा गद्य लेखक इनके चयन में अपनी सम्पूर्ण सौंदर्य चेतना को संयुक्त कर देता है। पहला गद्यलेखक सामान्य बना लेता है जब कि दूसरा विशिष्ट बन जाता है।

पूछा जा सकता है कि शैली के इन उपकरणों का ऊपर उल्लिखित शैली के तत्त्वों या उपादानों से किस प्रकार का सम्बन्ध है? लेखक की विषयवस्तु उसकी नियोजन पद्धति और उसका व्यक्तित्व एक ओर और दूसरी ओर भाषा के वर्ण, शब्द, या वाक्य और अनुच्छेद परस्पर किस संबन्ध से अनुबद्ध रहते

हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कह सकते हैं शैली के उपादान या प्रेरक तत्व ही भाषा की इस समग्र यष्टि का निर्देश और निर्माण करते हैं । गद्य-लेखक की वस्तु संबन्धी चेतना ही उसकी शब्द संबन्धी चेतना में रूपायित होती है इस प्रकार लेखक को वस्तु चेतना ही शैली का मुख्य उपादान है। उसकी संयोजन शक्ति ही उसका सहकारी साधन है। लेखक का व्यक्तित्व ही उसका मेरुदण्ड है और ये ही तत्व भाषा के स्वरूप संगठन प्रेरक और नियामक होते हैं। बिना वक्तव्य वस्तु के, बिना संयोजना शक्ति के, बिना लेखक के निजी व्यक्तित्व के भाषा निष्क्रिय रहती है। वह जड़ द्रव्य की भाँति लेखक के चेतन और वैचारिक व्यक्तित्व से ही सजीव होती हैं, कोरी भाषा अपने में गद्य लेखक के किसी काम की नहीं, वह शब्दों का अर्थहीन समवायमात्र है। वह शब्दकोष के निर्माण के लिए आधार बन सकती है किन्तु गद्य शैली का सृजन बिना विचार-तत्व के नहीं हो सकता। शब्द और अर्थ के संबन्ध में भारतीय मनीषियों ने बहुत कुछ कहा है। शब्द और अर्थ के साहित्य से ही काव्य और कला की निष्पत्ति बताई गई है। यह सच है कि बिना शब्द के वक्तव्य वस्तु निराधार रहती है। परन्तु यह भी सच है कि बिना वक्तव्य वस्तु के केवल शब्द निर्जीव और निष्प्राण रहता है।

ऊपर के वक्तव्य के आधार पर हम किसी भी गद्य लेखक के वक्तव्य या कथनीय तत्व उसकी नियोजना पद्धति और उसकी वैयक्तिक अभिरुचियों के बीच एक संतुलन देखना शैली का मूल आधार मान सकते हैं। इनमें भी वक्तव्य वस्तु को सर्वप्रमुख तत्व मानना हमें अभीष्ट जान पड़ता है। यदि लेखक को कुछ कहना नहीं है तो वह बेकार कलम उठाता है, यदि कुछ कहता है तब उसकी विचार पद्धति, अनुक्रम, तर्क शैली, आदि का प्रश्न उठता है, जिसे हमने ऊपर नियोजन तत्व कहा है। अंत में लेखक के व्यक्तित्व की बात उठती है और उसकी रुचियों और संस्कारों आदि की समस्या संमुख आती है। हमारी दृष्टि में लेखक की व्यक्तिगत अभिरुचि और उसकी वैयक्तिक इच्छाओं और प्रवृत्तियों को सबसे अधिक गौणता देनी चाहिए यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो लेखक अपनी वस्तु का प्रस्थापन वस्तु के अनुरूप नहीं कर सकेगा; वह भटक जायगा या बहक जायगा। इसीलिए वास्तविक शैलीकार अपने वक्तव्य का ही निरन्तर अनुगमन करते हैं और अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः संज्ञप्त रखने का उद्योग करते हैं। जो वक्तव्य वस्तु है उसे अधिक से अधिक सशक्त और हृदयंगम किस प्रकार बनाया जाय यह पक्ष नियोजना का है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महत्व की दृष्टि से प्रत्येक गद्य लेखक जो शैलीकार भी बनना चाहता है उपर्युक्त क्रम

से ही अपने कार्य में संलग्न रहना चाहिए। यह शैलीकार की प्रथम और मौलिक भूमिका है।

अब रहा प्रश्न वक्तव्य वस्तु को विचार पद्धति को और वैयक्तिक प्रतिभा को शाब्दिक रूप देने का। यह एक विचित्र विरोधाभास है कि किसी लेखक की शैली को हम उसमें शब्द विन्यास शब्दों की अर्थगर्भता, उनकी लय, और उनकी प्रभविष्णुता के आधार पर परखने जाते हैं जब कि मूलवस्तु कुछ और ही है। मूलवस्तु का सम्बन्ध तो लेखक की अंतरंग चेतना और उसके बौद्धिक कौशल आदि से है, परन्तु ये तत्व रूपायित होते हैं शब्दों का आधार लेकर। कदाचित इसीलिये हम शैली का अर्थ शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास तक ही परिसीमित कर लेते हैं, पर वास्तविकता यह है कि जिस लेखन में वस्तु या वक्तव्य की प्रांजलता नहीं, जिसमें विचारों को संतुलित पद्धति से व्यक्त करने का सामर्थ्य नहीं और जो अपने व्यक्तित्व की छाप अपनी कृति पर नहीं डाल सकता वह शब्दों का व्यापार करके ही क्या लाभ उठायेगा ? हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि शैली की परीक्षा प्रमुखत: लेखक के महत्वपूर्ण विचारों उसकी सूक्ष्म अन्वेषणा शक्ति और उसकी व्यक्तिगत महार्घता पर अवलंबित रहना चाहिए इसके पश्चात् शैली का द्वितीय विवेचन गद्यलेखक के शब्द सामर्थ्य के वाक्य सौंदर्य के आधार पर किया जा सकता है। जैसा कि हम कह चुके हैं यह द्वितीय प्रकार का शब्द-गत या वाक्यगत सौन्दर्य शैली के वास्तविक सौन्दर्य की परख के लिए अपर्याप्त ही नहीं वरन् अल्प मूल्य का भी है।

द्विवेदीजी की गद्य शैली

द्विवेदीजी प्रमुखत: एक गद्यलेखक हैं। यद्यपि उनके गद्य का विस्तार अनेक दिशाओं में गतिशील दिखाई देता है। सर्वप्रथम उनका रचनात्मक गद्य है जो उनकी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और उनके अनेकानेक निबन्धों में परिलक्षित होता है। यहाँ मेरा आशय उनके स्वतंत्र निबन्धों से है। द्विवेदीजी के गद्य का दूसरा विस्तार उनके उन परिचयात्मक पुस्तकों में दिखाई पड़ता है जिनमें प्राचीन भारतीय जीवन के विविध व्यापारों का उल्लेख करते हैं। इसे हम संक्षेप में वर्ण-नात्मक गद्य भी कह सकते हैं। द्विवेदीजी के गद्य की तीसरी दिशा उनकी समीक्षा पुस्तकों और उनके इतिहास पुस्तकों में दिखाई देती है, इसे हम संक्षेप में समीक्षात्मक गद्य कह सकते हैं। उनसे गद्य का चतुर्थ स्वरूप उनके शोधग्रन्थों में प्रदर्शित हुआ है जिसे हम वैचारिक गद्य कह सकते हैं। समीक्षात्मक गद्य

और वैचारिक गद्य शब्द यद्यपि परस्पर बहुत समीप प्रतीत होते है परन्तु इन्हें हमने दो पृथक श्रेणियों में इसलिए रखा है कि समीक्षात्मक गद्य में वैयक्तिक रुचियों और विचारों का पक्ष अपेक्षाकृत अधिक रहा करता है जबकि विशुद्ध वैचारिक गद्य में एक तटस्थता और वैज्ञानिकता अपेक्षित होती है। इस प्रकार द्विवेदीजी के गद्य की चार सरणियां निर्धारित हो जाती हैं जो क्रमश: रचनात्मक गद्य, वर्णनात्मक गद्य, समीक्षात्मक गद्य और वैचारिक गद्य के नाम से पहचाने जा सकते हैं।

यद्यपि इन चारों प्रकार के गद्यों के उदाहरण द्विवेदीजी की पुस्तकों में अनेकश: मिलते हैं। किसी लेखक में एक ही शैली प्रमुख होती है यद्यपि अन्य शैलियों का अभ्यास भीं वह करता रहता है। इस दृष्टि से देखने पर हमें यह निश्चय करना पड़ेगा कि द्विवेदीजी के गद्य की मुख्य शैली कौन सी है और सहायक शैली में कौन है। द्विवेदीजी के समस्त गद्य साहित्य को पढ़ लेने पर यह आभासित होने लगता है कि इनकी मुख्य शैली भावात्मक और रचनात्मक हैं। इसके पश्चात् उनकी शैली का दूसरा स्वरूप उनके वर्णात्मक प्रसंगों में दिखाई देता है। ये ही दो द्विवेदीजी की प्रमुख शैलियाँ हैं। जहाँ तक उनकी समीक्षात्मक शैली का प्रश्न है हम कह सकते हैं यद्यपि द्विवेदीजी एक विचारशील विद्वान हैं परंतु उनकी समीक्षात्मक शैली में भावात्मक तत्व का कम सन्निवेश नहीं है। उनके हिन्दी साहित्य नामक इतिहास में इसी समीक्षात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। परन्तु उनकी यह शैली एकदम विवेचनात्मक भूमिका पर नहीं जा सकी है। वे बार-बार किसी वस्तु का स्थापन करते हैं और स्थापन करने के पश्चात् उसकी पुष्टि के लिए प्राय: भावात्मक पद्धति का प्रयोग करते है। उनकी मूल चेतना में वैचारिक तथ्यों के लिये स्थान है परन्तु ये वैचारिक तथा तर्क और विश्लेषण प्रधान नहीं है बल्कि वे प्राय: उल्लास और उद्वेग प्रधान हैं। चाहे हम उनकी आरम्भिक समीक्षाकृति सूरसाहित्य को देखें या उनके परवर्ती इतिहास को देखें सबमें प्राय: एक सी ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। विवेचन और विश्लेषण की अपेक्षा वे प्रभावमूलक अभिव्यंजनाओं पर अधिक विश्वास रखते हैं और यह एक मानवतावादी लेखक के लिए बहुत कुछ स्वाभाविक और अनिवार्य भी है फिर भी हिन्दी के कतिपय अन्य समीक्षकों की भांति द्विवेदींजी सुसंगठित विवेचन की भूमि पर प्राय: कम ही गये हैं। इसका मुख्य कारण उनके व्यक्तित्व में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार द्विवेदीजी के शोधग्रंथों में भी भावात्मक पक्ष का प्राधान्य है। उनके समक्ष ऐतिहासिक तथ्य भी रहते हैं और प्रचुर मात्रा में रहते हैं परन्तु उन तथ्यों को उपस्थापित करके ही कदाचित् उन्हें संतोष नहीं होता और वे उन तथ्यों का आधार लेकर अनुमानाश्रित निष्कर्ष देने लगते हैं जो किसी भी शोध,

कर्त्ता के लिए यथेष्ट रूप से समीचीन नहीं कहे जा सकते। यदि एक ओर हम पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की शोधात्मक शैली को लें और दूसरी ओर द्विवेदीजी की शैली को लें तो दोनों का अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। एक में वस्तुमत्ता और तार्किक पद्धति का योग है तो दूसरे में वस्तुमत्ता होते हुए भी उसका ऐकांतिक प्रयोग नहीं दिखाई देता। संभवत: द्विवेदीजी का शोधकार्य साहित्य की ऐसी धाराओं और व्यक्तित्वों से सम्बन्धित हैं जिनको शिष्ट समाज में सम्पूर्ण स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। उनका पक्ष लेते हुए द्विवेदीजी को बार बार भावात्मकता का सहारा लेना पड़ा है। यह भी एक विचारणीय तथ्य है, द्विवेदीजी के पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने समीक्षा और शोध की जो प्रणाली स्वीकार की थी वह वस्तु मूलक और तथ्यपरक है। उसमें अधिक भावात्मक या बौद्धिक चिन्तन के लिए स्थान नहीं। शुक्लजी अपने तथ्यों का और विषयवस्तु का निरूपण और प्रतिपादन आद्यन्त तर्क और साक्षी की भूमिका पर किया करते थे। उनके गद्य लेखन में इसीलिये एक प्रकार की प्रामाणिकता संस्थित है, उनका विरोध तभी किया जा सकता है जब किसी नवीन तथ्य का परिचय हो जिसके आधार पर शुक्लजी का निर्देश अधूरा या अपूर्ण प्रतीत हो। द्विवेदीजी के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती, उनके बहुत से निर्देश है। उनकी निजी अभिरुचि अनुमान और कल्पना पर आश्रित है।

यहाँ हमारा मुख्य विवेच्य द्विवेदीजी की गद्य शैली है और जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं उनकी गद्य शैली में भावात्मक शैली की प्रमुखता है।

अब प्रश्न यह है कि जब द्विवेदी का मुख्य कार्य शोध और समीक्षा से सम्बन्धित है तब इन्होंने अपने विषयानुरूप शैली का निर्माण क्यों नहीं किया। इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी केवल समीक्षक और शोधकर्ता ही नहीं, उन्होंने शोध को शोध और समीक्षा को समीक्षा मानकर कार्य नहीं किया, बल्कि वे मूलत: एक सांस्कृतिक लेखक और साहित्यसृष्टा भी हैं। उनके ये पक्ष इतने प्रमुख हैं कि उनकी छाप उनकी गद्य शैली पर अविच्छेद्य रूप से पड़ी हुई है। उनकी प्रतिभा की मुख्य स्फूर्ति उनके वाणभट्ट की आत्मकथा तथा उनके निबन्धों में देखी जाती है। प्राचीन भारतीय साहित्यिक और साँस्कृतिक गतिविधियों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए उनके परिचयात्मक निबन्ध भी जानकारियों से भरे हुए हैं। समीक्षा और शोधकार्य तथा उनके आनुषंगिक प्रयोगों, के प्रति उनकी दिलचस्पी भारतीय विचारधाराओं को देखने और परखने के फलस्वरूप है। इन समस्त साहित्य के उन अंशों पर विशेष आग्रह करने में उनकी दृष्टि मानवतावादी लक्ष्य की पूर्ति करती रही हैं। यदि उन्होंने

हिन्दी के अन्य समीक्षकों की ओर विशेषकर शुक्लजी की पद्धति को अपनी समीक्षा और शोधकार्य में नहीं अपनाया तो इसका कारण स्पष्ट है। उनका लक्ष्य तर्क से किसी वस्तु को सिद्ध करने का नहीं है, बल्कि पाठकों को अधिकाधिक अपने विचारों की ओर आकृष्ट करने का है। कदाचित् इसीलिये उनका समस्त लेखन भाव प्रधान गद्य शैलो का प्रतिमान बन गया है।

अब हमें द्विवेदीजी की गद्य कृतियों को लेकर शैली की दृष्टि से उनका परिचय देना चाहिए। निश्चय ही द्विवेदीजी की वास्तविक अभिरुचि और प्रतिभा उनके रचनात्मक साहित्य में देखी जाती है और उनमें भी 'बाणभट्ट' की आत्म-कथा'-शैली की दृष्टि से उनकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण कृति सिद्ध होती है। स्वयं बाणभट्ट की गद्यशैली इतनी काव्यात्मक और आलंकारिक रही है कि इसकी काल्पनिक आत्मकथा लिखते हुए उस अलंकृत शैली का आकर्षण छूट नहीं सका है। यद्यपि द्विवेदी जी ने अपने इस उपन्यास में कतिपय चरित्रों की भी नियोजना की है और बाणभट्ट के समकालीन भारतीय जीवन की ऐतिहासिक विशेषताओं को भी प्रकाश में लाये हैं। परन्तु यह सब कार्य उन्होंने एक ऐसी गद्यशैली के माध्यम से किया है जो स्वत: एक उल्लेखनीय वस्तु बन गई है। द्विवेदीजी की वक्तव्य वस्तु भले ही बाण के युग के सार्वत्रिक जीवन के निरूपण की रही हो परन्तु उन्होंने यह निरूपण स्वयं बाण की शैली को अपनाकर किया है। हम कह सकते हैं कि बाण की आत्मकथा का अर्थ ही है बाण द्वारा रचित आत्मकथा। द्विवेदीजी को अपने समस्त व्यक्तित्व को बाणभट्ट के साथ संयोजित कर देना पड़ा है और इसीलिए उन्होंने उस आलंकारिक और काव्यात्मक शैली का प्रयोग किया है जो बाणभट्ट के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है। अपनी इस पुस्तक में प्राचीन संस्कृत काव्य के और विशेषकर बाणभट्ट की कृतियों के संदर्भोल्लेख किए हैं। वे भी इस बात की सूचना देते हैं कि द्विवेदीजी बाणभट्ट की शैली का ही नहीं, उनके उपमानों और उपमेयों का, उनकी कल्पनाप्रवण भावुकता का तथा उनके वस्तुनिर्देशों का भी अनुसरण करते रहे हैं। परन्तु इन सब तथ्यों के रहते हुए भी द्विवेदीजी की वैयक्तिक अभिरुचि इस शैली में प्रतिफलित हुई है।

इस उपन्यास में द्विवेदीजी की यह विशेषता भी देखी जाती है कि जहाँ वे विलक्षण वस्तुओं का वर्णन छोड़कर सामान्य दृश्य चित्रणों में आते हैं या पात्रों की क्रियाशीलता और उनकी दैनिक चर्या का वर्णन करते हैं वहां वे संस्कृत शब्दों का परित्याग कर अतिशय सरल और बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। यद्यपि परस्पर विरोधी वाक्य संगति का प्रयोग करने में द्विवेदीजी एक मूलभूत कठिनाई का अनुभव कर सकते थे परन्तु उन्होंने इस प्रकार की कठिनाई का

अनुभव नहीं किया । उनके उपन्यास में जहाँ चमत्कार पूर्ण प्रसंगों के आलेखन में अलंकार बहुल संस्कृतगर्भित भाषा का विन्यास है वहां सामान्य वस्तु वर्णन में उन्होंने ठेठ बोली का सौन्दर्य प्रस्तुत किया है । द्विवेदीजी की सामान्य गद्यशैली में पाठक को अपने साथ लेकर चलने का जो उद्देश्य रहता है इसके कारण वे अपने समीक्षात्मक और वैचारिक निबन्धों में भी प्राय: ठेठ भाषा को अपनाते हैं । इस प्रकार उनके उपन्यास में जहां एक ओर आलंकारिक भाषा और अपरिचित शब्दावली का प्रयोजनपूर्ण उल्लेख है वहीं दूसरी ओर उनके अतिशय सरल और सीधी सादी चलती भाषा का पुट भी पूरी तरह मिला हुआ है। इस अन्तर के द्वारा द्विवेदीजी ने अपने उपन्यास को शैली की दृष्टि से बहुत अधिक आकर्षक बना लिया है। हम यहाँ द्विवेदीजी की अलंकृत और सहज शैलियों के उदाहरण देंगे ।

'भट्टिनी का मुखमण्डल प्रभातकालीन नवमल्लिका की भांति खिल गया । स्मयमान मुख की कपोल-पालि विकसित हो गई । नयन–कोरकों में वंकिम आनन्द-रेखा विद्युत की भांति खेल गयी। ललाटपट्ट की बलियां विलीन हो गईं और वह अष्टमी के चन्द्रमा के समान मनोहर हो गया । उनके अशोक किसलय के समान आताम्र अधरोष्ट चंचल हो उठे । धीर प्रसन्न भाव से बोली–'कौन कहता है भट्ट कि तुम कवि नहीं हो ? श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है । निरन्तर पवित्र चिन्तन के कारण तुम्हारा चित्त विगत कल्पष हो गया है । तुम्हारे चरित्र्यपूत हृदय में सरस्वती का निवास है। तुम्हारे अधरों से विमलधारा की भांति वाणी का स्रोत झरता रहता है । कौन कहता है कि तुम कवि नहीं हो ? जिस दिन तुम्हारी शक्तिशालिनीं वाक्स्रोतस्विनी से इस धारा का कल्पष धुल जायगा, उस दिन लोगों को सचमुच शांति मिलेगी, भट्ट, कविता श्लोक को नहीं कहते। हमारे यवन साहित्य में गद्य को काव्य का 'निकष' कहा हैं । छन्द और अलंकार तो कविता के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस, विशुद्ध सात्विक रस । तुम सच्चे कवि हो। मेरी बात गांठ बांध लो, तुम इस आर्यावर्त्त के द्वितीय कालिदास हो ।'[1]

अब सहज शैली का उदाहरण देखिए : आर्य सभासदो, उत्तरपथ के लाख लाख नौजवानों ने क्या कंकण वलय धारण किया है ? क्या वे वृद्धों और बालकों, बेटियों और बहुओं, देवमन्दिरों और विहारों की रक्षा के लिए अपने

१—बाणभट्ट की आत्मकथा : पृ० ११२ ।

प्राण नहीं दे सकते ? क्या इस देश के विद्वानों में स्वतन्त्र संघटन बुद्धि का विलोप हो गया है ? आचार्य सर्वपाद का पत्र पढ़कर मेरा कन्ठ रोष और लज्जा से सूख आता है। इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है ? अगर देवपुत्र तुवर-मिलिन्द का हृदय थोड़ा भी सम्वेदनशील होता तो आज से बहुत पहले उन्हें मूर्च्छित होकर गिर पड़ना था, क्या निरीह प्रजा की बेटियाँ उनकी नयनतारा नहीं हुआ करतीं ? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की दुर्घटनायें हैं ? और आर्य सभाषदो, मेरी ओर देखो। मैं तुम्हारे देश की लाख-लाख अवमानित, लांछित और अकारण दण्डित बेटियों में से एक हूँ।[1] इन गम्भीर वाक्यावली के पश्चात् सहज भाषा का प्रयोग उपन्यास में एक ईप्सित प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। द्विवेदीजी यह अच्छी तरह समझते थे कि बाणभट्ट की अलंकृत भाषा हिन्दी में बहुत दूर तक नहीं चल सकती है इसलिए उन्होंने बारी-बारी से सहज और अलंकृत भाषाओं का प्रयोग किया है। परन्तु भाषा चाहे जो हो द्विवेदीजी की भावनात्मक शैली दोनों में देखी जा सकती है। वे वस्तुओं का वर्णन यथार्थोन्मुख या फोटोग्राफिक पद्धति से नहीं करते बल्कि चुनी हुई विशिष्ट वस्तुओं को लाकर अपना कार्य निकाल लेते हैं।

ऊपर उल्लेख की गई द्विवेदीजी की गद्य शैली से मिलती-जुलती उनके निबन्धों की शैली है, अंतर है तो उतना ही कि जहाँ उपन्यास में बाण की भाषा और उनके युग की असाधारणता के अनुरूप द्विवेदीजी को अलंकृत पदावली का प्रयोग करना पड़ा है वहाँ अपने निबन्धों में वे अधिक सरल और आत्मीय हैं। यद्यपि व्यक्तिगत निबन्धों में गम्भीर तथ्यों का भी आनयन हुआ है परन्तु अपनी वैयक्तिक सहानुभूति, भावनात्मकता, छोटे-छोटे व्याख्यानों में काम की बातें कहने की प्रवृत्ति तथा अनन्त: पाठक को अपने समकक्ष रखकर प्रसन्न करने की भावना द्विवेदीजी के निबन्धों को विशेष रोचक बना देते हैं। निबन्ध के क्षेत्र में द्विवेदीजी आचार्य शुक्ल की मिलती हुई भिन्न दृष्टि लेकर चलते हैं जबकि आचार्य शुक्ल के निबन्ध विषय प्रतिपादन का लक्ष्य रखते हैं। द्विवेदीजी के निबन्ध एक सहज उल्लास और सांस्कृतिक चेतना के परिचायक हैं। शुक्लजी की शैली बौद्धिक है, द्विवेदीजी की शैली भावात्मक है। यहाँ उनकी निबन्धों में व्याप्त शैली का एक उदाहरण देते हैं।

१— बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २०४।

"अच्छा समझिये या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकलना समझ सकते हैं। मैं बालू में से तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ, बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाय और यह बात अगर छिपाऊँ भी तो कैसे छिप सकेगी कि मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूँ।" नेह की गोई रहै सखि लाज सो ? कैसे बंधे जल जाल के बांधे ?" मेरा विचार है कि साहित्य का इतिहास कुछ बड़े-बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन्त मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह है। मेरे गाँव में जो जातियाँ बसी हैं वे किसी उजड़े महल या गड़ीं हुई ईंटों से कम महत्वपूर्ण तो हैं ही नहीं, अधिक महत्वपूर्ण हैं। मेरे इस छोटे से गाँव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।[१]

इन स्वतन्त्र निबन्धों के अतिरिक्त 'अशोक के फूल' नाम की पुस्तक में कुछ साहित्य विषयक निबन्ध भी हैं जो समीक्षात्मक शैली में न लिखे जाकर मुक्त शैली में लिखे गये हैं। इन निबन्धों में भी प्राय: वैसी ही विशेषतायें मिलती हैं जैसी द्विवेदीजी के वैयक्तिक निबन्धों में प्राप्त होती हैं। इनमें से जिन निबन्धों में द्विवेदीजी की दृष्टि आकलनात्मक है उनमें तो ज्ञातव्य बहुत सी सामग्री मिल जाती है परन्तु जिनमें आकलन का पक्ष प्रधान नहीं है उनमें द्विवेदीजी की वही मुक्त आसंग की प्रणाली सर्वत्र प्रसारित है। इस प्रकार द्विवेदीजी के अधिकांश साहित्यिक निबन्ध प्रवाह मूलक ही हैं। उदाहरण के लिए 'आलोचना का स्वतन्त्र मान' शीर्षक निबन्ध में द्विवेदीजी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।" अध्यापक जीवन का एक बड़ा भारी अभिशाप यह है कि आपको ऐसी सैकड़ों बातों को पढ़ना-पढ़ाना पड़ेगा जिसे आप न तो हृदय से स्वीकार करते हैं और न साहित्य के लिए हितकर मानते हैं। यहाँ आदमी को आपा खोकर ही सफलता मिलती है। अगर आपने कहीं स्वतन्त्र मत प्रकट किया तो साथ ही विद्यार्थी को आगाह कर देना पड़ेगा कि देखो, अमुक आदमी जिसकी धाक परीक्षक मण्डली पर जमी हुई है, ऐसा न मानकर ऐसा मानता है। प्रकृति प्रसंग यह है कि ऐसा न मानकर ऐसा मानने वालों की परस्पर विरोधी उक्तियों पर अगर कोई सचमुच गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसके लिए शीघ्र आपके बगल में जो पागलखाना है उसमें शरण लेनी पड़ेगी।[२] स्पष्ट है कि इस शीर्षक के समीक्षात्मक निबन्ध में इस प्रकार की स्वच्छन्द वार्तालाप की शैली के लिए हममें से शायद ही कोई तैयार हो।

१— अशोक के फूल : पृ० ३६। २—अशोक के फूल : पृ०४६।

"अच्छा समझिये या बुरा, मेरे अन्दर एक गुण है, जिसे आप बालू में से तेल निकलना समझ सकते हैं। मैं बालू में से तेल निकालने का सचमुच ही प्रयत्न करता हूँ, बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाय और यह बात अगर छिपाऊँ भी तो कैसे छिप सकेगी कि मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूँ।" नेह की गोई रहै सखि लाज सो ? कैसे बंधे जल जाल के बांधे ?" मेरा विचार है कि साहित्य का इतिहास कुछ बड़े-बड़े व्यक्तियों के उद्‌भव और विलय के लेखे जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन्त मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह है। मेरे गाँव में जो जातियाँ बसी हैं वे किसी उजड़े महल या गड़ीं हुई ईटों से कम महत्वपूर्ण तो हैं ही नहीं, अधिक महत्वपूर्ण हैं। मेरे इस छोटे से गांव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।[१]

इन स्वतन्त्र निबन्धों के अतिरिक्त 'अशोक के फूल' नाम की पुस्तक में कुछ साहित्य विषयक निबन्ध भी हैं जो समीक्षात्मक शैली में न लिखे जाकर मुक्त शैली में लिखे गये हैं। इन निबन्धों में भी प्रायः वैसी ही विशेषतायें मिलती हैं जैसी द्विवेदीजी के वैयक्तिक निबन्धों में प्राप्त होती हैं। इनमें से जिन निबन्धों में द्विवेदीजी की दृष्टि आकलनात्मक है उनमें तो ज्ञातव्य बहुत सी सामग्री मिल जाती है परन्तु जिनमें आकलन का पक्ष प्रधान नहीं है उनमें द्विवेदीजी की वही मुक्त आसंग की प्रणाली सर्वत्र प्रसारित है। इस प्रकार द्विवेदीजी के अधिकांश साहित्यिक निबन्ध प्रवाह मूलक ही हैं। उदाहरण के लिए 'आलोचना का स्वतन्त्र मान' शीर्षक निबन्ध में द्विवेदीजी की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।" अध्यापक जीवन का एक बड़ा भारी अभिशाप यह है कि आपको ऐसी सैकड़ों बातों को पढ़ना-पढ़ाना पड़ेगा जिसे आप न तो हृदय से स्वीकार करते हैं और न साहित्य के लिए हितकर मानते हैं। यहाँ आदमी को आपा खोकर ही सफलता मिलती है। अगर आपने कहीं स्वतन्त्र मत प्रकट किया तो साथ ही विद्यार्थी को आगाह कर देना पड़ेगा कि देखो, अमुक आदमी जिसकी धाक परीक्षक मण्डली पर जमी हुई है, ऐसा न मानकर ऐसा मानता है। प्रकृति प्रसंग यह है कि ऐसा न मानकर ऐसा मानने वालों की परस्पर विरोधी उक्तियों पर अगर कोई सचमुच गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो उसके लिए शीघ्र आपके बगल में जो पागलखाना है उसमें शरण लेनी पड़ेगी।[२] स्पष्ट है कि इस शीर्षक के समीक्षात्मक निबन्ध में इस प्रकार की स्वच्छन्द वार्तालाप की शैली के लिए हममें से शायद ही कोई तैयार हो।

१— अशोक के फूल : पृ० ३६। २—अशोक के फूल : पृ० ४६।

वर्णनात्मक या परिचयात्मक या आकलनात्मक शैली

जिन निबन्धों में द्विवेदीजी ने विशुद्ध परिचयात्मक भूमिका ग्रहण की है, उन्हें अधिक संज्ञप्त और वस्तुमुखी होना स्वाभाविक भी है क्योंकि वहाँ बहुत सी सामग्री को संक्षेप में रखने की आवश्यता पड़ती हैं जिसके कारण लेखक अधिक विषयान्तर नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आये हुये संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय, बौद्ध साहित्य, बौद्ध संस्कृत साहित्य, जैन साहित्य, कवि प्रसिद्धियाँ और स्त्रीरूप शीर्षक निबन्ध मुख्यत: आकलनात्मक हैं। एक निबन्ध की सीमा में समस्त बौद्ध साहित्य या सारी काव्य प्रसिद्धियों को रख सकना तभी संभव था जब द्विवेदीजी इन विषयों की उपलब्ध सामग्री को कस कर एक लेख में उपनिबद्ध करते। यही उन्होंने किया भी है। इसी प्रकार प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद शीर्षक पुस्तक में द्विवेदीजी ने भारतीय साहित्य में बिखरी हुई कलात्मक विनोद की सामग्री को एकत्र करने का प्रयास किया है। यह पुस्तक बहुत कुछ संग्रहमूलक हैं। यद्यपि इस संग्रह में भी लेखक का परिश्रम परिलक्षित होता है। ऐसे आकलनात्मक निबन्धों से एक उद्धरण देकर हम द्विवेदीजी की इस द्वितीय शैली का स्वरूप उद्धृत करना चाहते हैं: 'नागार्जुन माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे। उन्होंने अपनी माध्यमिक कारिका पर स्वयमेव अकुतोभया नामक टीका लिखी थी। भारतीय दार्शनिक और वैज्ञानिक साहित्य में यह प्रथा खूब लोकप्रिय हुई थी। कहते हैं नागार्जुन ही इस प्रथा (कारिका और टीका दोनों लिखने की प्रथा) के आदि प्रवर्तक हैं। नागार्जुन के दो और ग्रन्थ हैं, युक्तिषाष्टिका और श्रीलेख। इत्सिंग ने दूसरे को भारतवर्ष में खूब प्रचलित देखा था। आर्यदेव नागार्जुन के शिष्य थे। इन्हीं को काणदेव भी कहते है। शायद इनकी एक आँख कानी थी।'[1]

समीक्षात्मक शैली

द्विवेदीजी की समीक्षात्मक शैली जैसा कि हम कह चुके हैं सामान्यत: उनके इतिहासग्रंथ में और उनके कतिपय निबन्धों में प्राप्त होती है। इन्हें देखने से ज्ञात होता है कि जब तक द्विवेदीजी विवरण और विश्लेषण की भूमि पर रहते हैं (यद्यपि विश्लेषण कम ही मिलता है) तब तक उनकी समीक्षा संयत

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २१८।

रहती है। ऐसे निबन्धों में द्विवेदीजी प्रायः प्राचीन विचारों का संदर्भ लेकर समीक्षा करते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रसादजी' की कामायनी शीर्षक लेख में उन्होंने राजशेखर के काव्य मीमांसा ग्रन्थ के प्रसंग को उठाया है। इसी प्रकार के यत्र-तत्र एक अंग्रेज समालोचक ने कहा था, वैसी वाक्यावली का प्रयोग करते हैं जिसमें कथ्य विषय का सामान्य उल्लेख होता है विशेष उल्लेख नहीं होता। द्विवेदीजी अपने समीक्षात्मक निष्कर्षों में अनेक बार बहुत ही सटीक निर्णय देते है। परन्तु विवेच्य विषय की समग्रता और विवेचन प्रणाली की आनुक्रमिकता द्विवेदीजी की प्रिय प्रक्रिया नहीं जान पड़ती है। कदाचित इसीलिए उनके समीक्षात्मक निबन्ध भी समीक्षात्मक की अपेक्षा निबन्धमूलक अधिक हो गये हैं।

अपने इतिहास में द्विवेदीजी ने अनेक कवियों पर विचार किया है परन्तु क्या शुक्लजी की भांति उन्होंने सब कवियों की सुव्यवस्थित और समग्र विवेचना की है। क्या उनके एक-एक अनुच्छेद किसी आनुक्रमिक सूत्र से बंधे हुए है ? हम इतिहास के विवेचन में इस बात का निर्देश कर चुके हैं कि विषयों और कवियों के केन्द्रीय विशेषता के परिदर्शन में उनकी प्रतिभा स्फुरित रहती है। परन्तु किसी कवि या उसकी कृति के अंतरंग में प्रवेश कर समस्त विवरणों से उसकी विशेषताओं का उद्‌घाटन करना द्विवेदी जी की रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है। कभी-कभी केन्द्रीय विशेषता की पकड़ में द्विवेदीजी यथेष्ट रूप से समर्थ नहीं होते। हम इसका उदाहरण भी दे चुके हैं। बच्चन जैसे कुण्ठाओं से परिबद्ध कवि को मस्तमौला और फक्कड़ आदि विशेषण देकर द्विवेदीजी ने बच्चन के काव्य की मूल विशेषता पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला। इसी प्रकार अन्य अवसरों पर भी वे यत्र–तत्र अपने भावावेग में अन्तर्निहित वस्तु की परख करने में दूरान्वयी हो गए हैं। परन्तु अधिकतर उनके कवि और उसकी कृति की मूल विशेषता को पहचानने की बड़ी अच्छी शक्ति हैं। द्विवेदीजी की इस समीक्षात्मक शैली पर उसकी मूल प्रकृति को देखते हुए हम प्रभावाभिव्यंजक शैली भी कह सकते हैं। आचार्य शुक्लजी ने इस पद्धति को, समीक्षक की मूल्यवान पद्धति नहीं मानी है। परन्तु किसी कवि के काव्य को पढ़ते हुए सहजभाव से उसके प्रभावों को ग्रहण करते जाना और उतने ही सहजभाव से उसे शब्दों के सांचे में ढ़ाल देना एक विशेष प्रकार की प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। वह प्रतिभा समीक्षात्मक की अपेक्षा सहृदयता–जन्य अधिक होती है। यहाँ हम द्विवेदी जी के सामान्य समीक्षात्मक शैली का एक उदाहरण देते हैं।

द्विवेदीजी जिस युग में लेखनी चलाना शुरू कर रहे थे, उस युग का

व्यक्तित्व भी उनकी रचनाओं में स्पष्ट ही दीख जाता है। उनके युग का भारत-वर्ष पुराने और नये के संघर्ष में से गुजर रहा है। वह उत्सुकता के साथ नई नई गवेषणाओं को सुनना चाहता है फिर कर पीछे की ओर देखकर यह भी जान लेना चाहता है कि उसके पूर्व पुरुषों ने ऐसी बात कही है या नहीं और सन्देह के साथ अपने ज्ञान-विज्ञान के आधार की जाँच कर लेना चाहता है। उसके सामने नवयुग का द्वार खुल गया है। अपरिचित स्वर्ण युग विस्मृति के गहन अंधकार से धीरे-धीरे सिर उठा रहा है। नवीन के प्रति उत्कट औत्सुक्य और प्राचीन के प्रति दुर्दमनीय निष्ठा, यही उस भारतवर्ष का परिचय है। द्विवेदी जी ने इन दोनों बातों का बड़ा ही प्रौढ़ सामंजस्य किया। वे खोज–खोजकर नवीन विषयों का ज्ञान संचय करते रहे और प्राचीन गौरव की याद दिलाते रहे। सर्वत्र उन्होंने युग की इस विशेषता को अपने व्यक्तिगत संयम, निष्ठा और ईमानदारी से अधिकाधिक आकर्षक बना दिया। यह सब कुछ उन्हें एकदम नये सिरे से करना पड़ा।[1]

विशुद्ध विचारात्मक शैली

जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं आचार्य द्विवेदीजी ने कुछ शोध ग्रन्थ भी लिखे है जिनमें से हिन्दी साहित्य का आदिकाल, 'मध्यकालीन धर्म-साधना नाथ संप्रदाय और कबीर प्रमुख हैं। इन चारों ग्रन्थों में द्विवेदीजी की शैली अपेक्षाकृत अधिक संयत है। परन्तु फिर भी वह नितांत वस्तुमुखी नहीं बन सकी है। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व में जो सहजता, और उल्लास का भाव हैं वह बार बार उभर कर उनकी कृतियों में आता है। उनकी प्रणाली तर्कप्रधान न होकर बहुत कुछ रचनात्मक बन बैठी है। विशुद्ध वैचारिक विषय स्थापन में भी द्विवेदीजी अपनी तरल शैली को छोड़ नहीं पाते। उदाहरण के लिए पैशाची भाषा का विचार करते हुए वे लिखते हैं: 'गुणाड्य पंडित ने जो सुना तो व्यथित होकर पुस्तक जला देने की ठानी, शिष्यों के आग्रह पर उन्होंने एक बार कथा सुना देने का अनुग्रह किया, आग जला दी गई। पंडित आसन बांधकर बैठ गये। एक-एक पन्ना पढ़कर आग में जला दिया जाने लगा। कथा इतनी मधुर और मोहक थी कि पशुपक्षी, मृग और व्याघ्र खाना पीना छोड़कर, बैर बिसार कर सुनने लगे। उनके मांस सूख गये। जब राजा की रंधनशाला में ऐसे ही पशुओं का माँस पहुँचा तो शुष्क मांस के भक्षण से राजा के पेट में दर्द हुआ।

१—विचार और वितर्क पृ० ८१।

द्विवेदीजी की यह रोचक शैली साहित्य के लालित्य की तो सृष्टि करती है पर इसके द्वारा समग्र बौद्धिक विवेचन में कठिनाई आती है। इसी प्रकार के अपने वैचारिक निबन्धों में इतने वर्णनात्मक हो जाते हैं कि उनके वैचारिक निबन्ध आख्यानात्मक प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वे अपने पाठक को अपने साथ रखने के निमित्त इस आकर्षक शैली को अपनाते हैं। दूसरे शब्दों में उनका ध्यान केवल विषय की ओर न रखकर पाठक की रुचि और अरुचि की ओर भी रहा करता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण वैज्ञानिक शैली के निर्माण में आंशिक रूप से बाधक बन जाता है। यह द्विवेदीजी की सहजता की अभि-रुचि का ही परिणाम है कि वे अपने वैचारिक निबन्धों में भी वर्णनात्मक या कहानी की सी शैली का प्रयोग करते हैं और वस्तुमूलक वर्णनों ने भी काव्या-त्मकता लाने का प्रयत्न करते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं, यद्यपि हिन्दी साहित्य के इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट है—शुक्लजी ने प्रथम बार हिन्दी साहित्य के इतिहास के कविवृत्त संग्रह को पिटारी से बाहर निकाला। पहली बार उसमें श्वासोच्छवास का स्पंदन सुनाई पड़ा। पहली बार जीवन्त मानव स्वरूप में गतिशील मानव रूप में दिखलाई पड़ा। स्पष्ट है ये वाक्य चित्रात्मकता को साथ लेकर चले हैं। और वस्तु स्थापन के नपे तुले प्रयोग की शैली स्वीकार नहीं की गई है।

द्विवेदीजी के वैचारिक निबन्धों ने अनुमान का आश्रय भी कम नहीं लिया गया है। ऐतिहासिक चर्चा में वे अनेक बार सामान्य अनुश्रुतियों को प्रामा-णिकता देने लगते हैं और तथ्यमूलक पद्धति से दूर चले जाते हैं। पृथ्वीराज रासो में से जितने अंश को उन्होंने प्रामाणिक मानने की बात कही है वह भी एक अनुमान ही है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार द्विवेदीजी के साहित्यिक आकलनों में कल्पना और अनुमान का प्रचुर योग रहता है। उसी प्रकार उनकी शैली में काफी स्वतन्त्रता और स्वेच्छामूलकता रहा करती है। उनके विचारात्मक ग्रंथों की शैली विशुद्ध विचारात्मक नहीं कही जा सकती।

परन्तु ऊपर के विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि द्विवेदीजी की इन शोधात्मक और विचारात्मक कृतियों में तथ्य मूलक शैली का नितान्त अभाव है। जब कभी वे इधर-उधर से हटकर अपने विषय को प्रमाणयुक्त बनाना चाहते हैं तब वे ऐतिहासिक वृत्त का समुचित उपयोग भी करते हैं। जहां इतिहास उनका साथ नहीं देता अर्थात् जहां ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं रहती वहां द्विवेदीजी

पूर्ण संतुलन न होने पर शैली का आदर्श स्वरूप उद्भासित नहीं होता ।

आचार्य द्विवेदीजी की गद्यशैली की चर्चा करते हुए हमने ऊपर जो कुछ देखा और समझा है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी मुख्यत: रचनात्मक या भावात्मक शैली के सृष्टा हैं । उनकी यह शैली उनके वैयक्तिक निबन्धों में तथा उनकी 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में अतिशय प्रच्छन्न और अव्याहत रूप से प्रकाशन में आई है । इस रचना शैली में भी द्विवेदीजी संस्कृत-निष्ठ पदावली और बोलचाल की पदावली का अद्भुत संयोग करते हैं जो कदाचित् उनकी शैली का सर्वप्रमुख गुण है । बाणभट्ट की आत्मकथा की शैली का विचार करते हुए हम इस तथ्य का निर्देश कर चुके हैं । जिस सहज रीति से द्विवेदीजी संस्कृतनिष्ठ और काव्यमयी पदावली से सहसा सामान्य बोलचाल की भाषा पर उतर आते हैं और फिर भी उपन्यास के स्वारस्य में व्याघात नहीं पड़ने देते । ये उनकी शैलीगत उत्तम विशेषतायें हैं द्विवेदीजी के वैयक्तिक निबन्धों की शैली भी रचनात्मक एवं भावात्मक है । परन्तु उपन्यास की अपेक्षा निबन्ध में वह शैली अधिक सहज और आत्मीयतापूर्ण हो गई है । हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी की यह शैली ही उनकी सामान्य और प्रतिनिधि शैली है । जहां तक उनकी समीक्षात्मक और विचारात्मक शैलियों का प्रश्न है हमने देखा कि उक्त शैलियों में वस्तुमुखी विवेचन का पक्ष उतना परिनिष्ठित नहीं है इसका कारण यह है कि द्विवेदीजी समीक्षात्मक और वैचारिक निबन्धों में पाठक का सीधा साहचर्य चाहते हैं जो इस प्रकार के निबन्धों के लिए सर्वथा समीचीन नहीं हैं । समीक्षा और विचारणा में लेखक को अधिक से अधिक तटस्थ तर्कमूलक और वस्तुमुखी होना चाहिए । द्विवेदीजी की शैली में इन पक्षों का सम्यक निर्वाह नहीं हो पाया है । अतएव निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आचार्य द्विवेदीजी की शैली व्यक्ति प्रधान है और वह रचनात्मक प्रक्रिया के लिये जितनी उपयोगी है उतनी समीक्षात्मक प्रक्रिया के लिए नहीं ।

शैली का बहिरंग पक्ष

द्विवेदीजी की गद्यशैली की अन्तरङ्ग विशेषताओं पर विचार करने के पश्चात् अब हम उनकी शैली के बहिरङ्ग स्वरूप पर भी आवश्यक चर्चा करना चाहते हैं । शैली के बहिरंग स्वरूप से हमारा आशय लेखक के शब्द चयन से लेकर क्रमश: उसकी उस समस्त बाह्यांग योजना से है जिसके द्वारा वह अपने वक्तव्य को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाया करता है । शब्दचयन में जहां एक ओर अर्थ प्रकाशन की क्षमता अन्तर्निहित रहती है वही दूसरी ओर लेखन

पूर्ण संतुलन न होने पर शैली का आदर्श स्वरूप उद्भासित नहीं होता ।

आचार्य द्विवेदीजी की गद्यशैली की चर्चा करते हुए हमने ऊपर जो कुछ देखा और समझा है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी मुख्यत: रचनात्मक या भावात्मक शैली के सृष्टा हैं । उनकी यह शैली उनके वैयक्तिक निबन्धों में तथा उनकी 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में अतिशय प्रच्छन्न और अव्याहत रूप से प्रकाशन में आई है । इस रचना शैली में भी द्विवेदीजी संस्कृत-निष्ठ पदावली और बोलचाल की पदावली का अद्भुत संयोग करते हैं जो कदाचित् उनकी शैली का सर्वप्रमुख गुण है । बाणभट्ट की आत्मकथा की शैली का विचार करते हुए हम इस तथ्य का निर्देश कर चुके हैं । जिस सहज रीति से द्विवेदीजी संस्कृतनिष्ठ और काव्यमयी पदावली से सहसा सामान्य बोलचाल की भाषा पर उतर आते हैं और फिर भी उपन्यास के स्वारस्य में व्याघात नहीं पड़ने देते । ये उनकी शैलीगत उत्तम विशेषतायें हैं द्विवेदीजी के वैयक्तिक निबन्धों की शैली भी रचनात्मक एवं भावात्मक है । परन्तु उपन्यास की अपेक्षा निबन्ध में वह शैली अधिक सहज और आत्मीयतापूर्ण हो गई है । हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी की यह शैली ही उनकी सामान्य और प्रतिनिधि शैली है । जहां तक उनकी समीक्षात्मक और विचारात्मक शैलियों का प्रश्न है हमने देखा कि उक्त शैलियों में वस्तुमुखी विवेचन का पक्ष उतना परिनिष्ठित नहीं है इसका कारण यह है कि द्विवेदीजी समीक्षात्मक और वैचारिक निबन्धों में पाठक का सीधा साहचर्य चाहते हैं जो इस प्रकार के निबन्धों के लिए सर्वथा समीचीन नहीं हैं । समीक्षा और विचारणा में लेखक को अधिक से अधिक तटस्थ तर्कमूलक और वस्तुमुखी होना चाहिए । द्विवेदीजी की शैली में इन पक्षों का सम्यक निर्वाह नहीं हो पाया है । अतएव निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आचार्य द्विवेदीजी की शैली व्यक्ति प्रधान है और वह रचनात्मक प्रक्रिया के लिये जितनी उपयोगी है उतनी समीक्षात्मक प्रक्रिया के लिए नहीं ।

शैली का बहिरंग पक्ष

द्विवेदीजी की गद्यशैली की अन्तरङ्ग विशेषताओं पर विचार करने के पश्चात् अब हम उनकी शैली के बहिरङ्ग स्वरूप पर भी आवश्यक चर्चा करना चाहते हैं । शैली के बहिरंग स्वरूप से हमारा आशय लेखक के शब्द चयन से लेकर क्रमश: उसकी उस समस्त बाह्यांग योजना से है जिसके द्वारा वह अपने वक्तव्य को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाया करता है । शब्दचयन में जहां एक ओर अर्थ प्रकाशन की क्षमता अन्तर्निहित रहती है वहीं दूसरी ओर लेखन

की धारावाहिकता, सुविन्यास, और प्रभाव की एकरसता भी सन्निहित रहती है। शब्द विन्यास से आगे बढ़कर हम वाक्यों में नियोजित किये गये मुहाविरों और लोकोक्तियों आदि के समीप पहुँचते हैं जो शैली के वाह्यांग साधन हैं। इसके पश्चात् सम्पूर्ण वाक्य और उसके गठन पर पहुँचते हैं। वाक्यों का आकार और प्रकार भिन्न-भिन्न लेखकों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। वाक्यों की लम्बाई या छोटाई इनकी ह्रस्व दीर्घता शैली का ही अंग है। वाक्यों के समुच्चय को अनुच्छेद करके, यह अनुच्छेद किस विधि से नियोजित किये गये हैं और किस सूक्ष्म या स्थूल सम्बन्ध रज्जु से बंधे हुए हैं यह भी शैली की उपयुक्त रचना का एक ज्ञातव्य प्रश्न है। इसके पश्चात् हम लेखक की उन शैली के साधनों पर भी दृष्टिपात करेंगे जो हास्यजन्य विनोद आदि के साधनों से उक्त शैली का निर्माण करते हैं और अन्ततः हम इन समस्त बाह्यांगों को समग्र रूप में देखकर किसी लेखक की शैली को उसकी संपूर्णता समझते हैं।

द्विवेदीजी की बाह्याँग शैली का समग्र स्वरूप किंचित अनगढ़ प्रतीत होता है। इसका कारक कदाचित् यह है कि ये अपने वक्तव्य का सीधा लक्ष्य सामान्य पाठक को मानते हैं। किसी विशिष्ट शिक्षित समाज को नहीं। सामान्य पाठक के पास पहुँचने के लिए किसी प्रकार की साजसज्जा अपेक्षित नहीं होती। द्विवेदीजी हिन्दी लेखनी को अधिकाधिक जनसामान्य बनाना चाहते हैं। शायद इन्हें हिन्दी के विस्तार और प्रसार का अधिक ध्यान है। ऐसा लेखक जो शिष्ट वर्गों से आगे बढ़कर लोकजीवन में व्याप्त होना चाहता है शालीनता और सगढ़ता की सरणियाँ में चलना पसन्द नहीं करते। तीसरी बात और भी है द्विवेदीजी की गद्यशैली में भाषण-कला का रूप पर्याप्त योग्य है। उनके कई निबन्ध तो भाषणात्मक ही हैं। लिखित निबन्ध में और भाषण में यह स्पष्ट अन्तर रहता है कि लिखित निबन्ध आनुक्रमिक और परिष्कृत हुआ करता है। उसके शब्द विन्यास में एक समरसता है जबकि भाषण में इस प्रकार की सरसता और आनु-क्रमिकता नियोजित नहीं हो सकती। भाषणकर्त्ता कभी तो सरल परिचय प्रधान वाक्यावली का प्रयोग करता है कभी वेग में आकर तरल और उच्छ्वल पदावली का प्रयोग करने लगता है, कभी वह श्रोताओं को उत्साह और उल्लास से आपू-रित कर देता है और कभी करुणा से द्रवित और नयी अनुभूतियों से संवलित करना चाहता है। इस लक्ष्य भेद के कारण भाषणात्मक शैली में समरसता की कमी रहा करती है। द्विवेदीजी की गद्य शैली को प्रमुखतया भाषणात्मक शैली ही कहा जाय तो अनुचित न होगा।

द्विवेदीजी की शैली की समग्रता में हास्य, व्यंग्य और विनोद का

यथेष्ठ स्थान हैं। कहा जा सकता है कि वे इतिवृत्तात्मक को पसन्द नहीं करते। दो चार वाक्य विषय परिचय के देते ही वे झट से किसी वक्रोक्ति या विनोद पर आ जाते हैं और फिर अपने विषय पर आगे बढ़ चलते हैं। यदि बीच-बीच में ये वक्रोक्तियां न होतीं तो द्विवेदीजी की शैली में रोचकता की कमी रह जाती और वे एक अधिक वस्तुमुखी विचारक माने जाते या साहित्यिक की अपेक्षा शास्त्रज्ञ कहे जाते ।

यहां हम कुछ उदाहरणों द्वारा द्विवेदीजी की हल्के व्यंग्य से समन्वित शैली का परिचय देना चाहते हैं। तुलसीदास की चर्चा करते हुए वे एक स्थान पर लिखते हैं 'मानव प्रकृति का ज्ञान तुलसीदास से अधिक उस युग में किसी को न था पर यह एक आश्चर्य की बात है कि उन्होंने विश्व प्रकृति को अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया। उसमें सन्देह नहीं कि जहाँ कहीं उन्होंने थोड़ी सी चर्चा की वहां उसमें कमाल किया है। पर असल में वे इससे उदासीन ही रहे। जो भावुक सहृदय पद-पद पर फूल-पत्तियों को देखकर मुग्ध हो जाता है, नदी पहाड़ को देखकर तनमन को बिसार देता है वह तुलसीदास के काव्य का लक्ष्यीभूत श्रोता नहीं है।

इन पंक्तियों में गोस्वामी तुलसीदास को मानव प्रकृति का महान् ज्ञाता कहा गया है। इतना बड़ा जितना उस युग में कोई दूसरा था ही नहीं। फिर भी गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में इस प्रकृति का कुछ भी वर्णन नहीं किया। जहाँ कहीं थोड़ा बहुत किया है वहाँ वे अनुपम हैं। पर वास्तव में वे इस प्रकार के वर्णनों से विमुख ही रहे हैं। जो व्यक्ति प्रकृति का इतना बड़ा ज्ञाता हो प्रकृति के वर्णन में दिलचस्पी न रखे यह एक अद्भुत विरोधाभास है। इन पंक्तियों में द्विवेदीजी गोस्वामी जी की प्रशंसा कर रहे हैं या उनकी कमी बता रहे हैं यह ज्ञात करना आसान कार्य नहीं है। उद्धरण के अन्तिम काव्य में भावुक लोगों के ऊपर एक हल्की सी फफकी है जो पद-पद पर साधारण फूल-पत्तियों को देखकर मुग्ध हो जाया करते हैं और नदी पहाड़ को देखकर तो तन मन खो बैठते हैं। यद्यपि इसमें भावुक जनों के लिए कुछ सम्मान भी है पर शायद असम्मान भी इसमें प्रच्छन्न रूप से आ गया है। द्विवेदीजी की यह द्विधाग्र उक्ति बड़ी विलक्षण है जिसमें वे एक ओर अतिरंजित प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर घोर तिरस्कार का भाव भी व्यंजित करते हैं। व्यंग्य की यह प्रच्छन्नता द्विवेदीजी की शैली में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करती है।

एक अन्य स्थान पर सूरदास के सम्बन्ध में कहते हैं 'लेकिन वे (सूरदास)

कबीरदास की तरह ऐसे समाज से नहीं आये थे जो पद-पद पर लांछित और अपमानित होता था। और जहां का गृहस्थ जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोरमय तपोमय था।···वे तुलसीदास की भाँति दृढ़ चेता सेना नायक न थे, जो समाज की कुरीतियों से कुशलता से बाहर निकल कर उस पर गोलाबारी आरम्भ कर दें, नन्ददास की तरह पर पक्ष की युक्तियों को तर्क बल या निराश करना भी वे नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो झगड़ों में पड़ने के नहीं।

यहाँ कबीरदास के समय के गृहस्थ जीवन को वैराग्य जीवन से भी कठिन और तपोमय बताया। यहाँ कठोर और तपोमय शब्द ध्यान देने योग्य है। सामान्यत: कठोरता और तपस्या गृहस्थ जीवन के धर्म नहीं हैं। परन्तु द्विवेदीजी उस समय के गृहस्थ जीवन को असाधारण रूप से दयनीय बता रहे हैं इसीलिए उन्होंने वैराग्य जीवन से भी उसे अधिक क्लिष्ट कहा है। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि कबीरदास के समय वैरागियों का जीवन अधिक आसान, तपस्या रहित और आकर्षक था। गृहस्थ जीवन और विरक्त जीवन की यह तुलना एक व्यंगात्मक निर्देश लिए हुए हैं।

तुलसीदास को उन्होने गोलाबारी करने वाला बताया है। साधारणत: किसी कवि को इस प्रकार का कार्य नहीं करना पड़ता है। खासकर तुलसीदास जैसे महात्मा गोलाबारी करने से रहे। इसी प्रकार नन्ददास से तुलना करते हुए भी उन्होंने सूरदास को तर्क के झगड़ों से दूर रहने वाला बतलाया है। यद्यपि सूरदास की युक्तियाँ नन्ददास के तर्क वितर्क से कहीं धार्मिक हैं। यहाँ भी कवियों की विशेषताओं की चर्चा करते हुए द्विवेदीजी ने व्यंग्य का एक हल्का पुट पूरे व्यंग्य में दे रखा है।

यह तो हुई विचारात्मक निबन्धों की चर्चा। जहाँ पर द्विवेदीजी को अधिक स्वच्छन्द होकर अपनी बात कहने का अवसर मिला है वहाँ वे अपने वक्तव्यों में और भी अधिक वाग्वैचित्र्य का प्रदर्शन करते हैं। 'अशोक के फूल' में वे लिखते हैं 'वे सामन्त उखड़ गये,[१] साम्राज्य बह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। संतान कामनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा। वीरों ने भूत भैरवों की, काली दुर्गा ने यज्ञों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई अशोक पीछे छूट गया।

१—अशोक के फूल : पृ० १३।

यथेष्ठ स्थान हैं। कहा जा सकता है कि वे इतिवृत्तात्मक को पसन्द नहीं करते। दो चार वाक्य विषय परिचय के देते ही वे झट से किसी वक्रोक्ति या विनोद पर आ जाते हैं और फिर अपने विषय पर आगे बढ़ चलते हैं। यदि बीच-बीच में ये वक्रोक्तियाँ न होतीं तो द्विवेदीजी की शैली में रोचकता की कमी रह जाती और वे एक अधिक वस्तुमुखी विचारक माने जाते या साहित्यिक की अपेक्षा शास्त्रज्ञ कहे जाते ।

यहां हम कुछ उदाहरणों द्वारा द्विवेदीजी की हल्के व्यंग्य से समन्वित शैली का परिचय देना चाहते हैं। तुलसीदास की चर्चा करते हुए वे एक स्थान पर लिखते हैं 'मानव प्रकृति का ज्ञान तुलसीदास से अधिक उस युग में किसी को न था पर यह एक आश्चर्य की बात है कि उन्होंने विश्व प्रकृति को अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया। उसमें सन्देह नहीं कि जहाँ कहीं उन्होंने थोड़ी सी चर्चा की वहां उसमें कमाल किया है। पर असल में वे इससे उदासीन ही रहे। जो भावुक सहृदय पद-पद पर फूल-पत्तियों को देखकर मुग्ध हो जाता है, नदी पहाड़ को देखकर तनमन को बिसार देता है वह तुलसीदास के काव्य का लक्ष्यीभूत श्रोता नहीं है।

इन पंक्तियों में गोस्वामी तुलसीदास को मानव प्रकृति का महान् ज्ञाता कहा गया है। इतना बड़ा जितना उस युग में कोई दूसरा था ही नहीं। फिर भी गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में इस प्रकृति का कुछ भी वर्णन नहीं किया। जहाँ कहीं थोड़ा बहुत किया है वहाँ वे अनुपम हैं। पर वास्तव में वे इस प्रकार के वर्णनों से विमुख ही रहे हैं। जो व्यक्ति प्रकृति का इतना बड़ा ज्ञाता हो प्रकृति के वर्णन में दिलचस्पी न रखे यह एक अद्भुत विरोधाभास है। इन पंक्तियों में द्विवेदीजी गोस्वामी जी की प्रशंसा कर रहे हैं या उनकी कमी बता रहे हैं यह ज्ञात करना आसान कार्य नहीं है। उद्धरण के अन्तिम काव्य में भावुक लोगों के ऊपर एक हल्की सी फफकी है जो पद-पद पर साधारण फूल-पत्तियों को देखकर मुग्ध हो जाया करते हैं और नदी पहाड़ को देखकर तो तन मन खो बैठते हैं। यद्यपि इसमें भावुक जनों के लिए कुछ सम्मान भी है पर शायद असम्मान भी इसमें प्रच्छन्न रूप से आ गया है। द्विवेदीजी की यह द्विधाग्र उक्ति बड़ी विलक्षण है जिसमें वे एक ओर अतिरंजित प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर घोर तिरस्कार का भाव भी व्यंजित करते हैं। व्यंग्य की यह प्रच्छन्नता द्विवेदीजी की शैली में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करती है।

एक अन्य स्थान पर सूरदास के सम्बन्ध में कहते हैं 'लेकिन वे (सूरदास)

कबीरदास की तरह ऐसे समाज से नहीं आये थे जो पद-पद पर लांछित और अपमानित होता था। और जहां का गृहस्थ जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोरमय तपोमय था।···वे तुलसीदास की भाँति दृढ़ चेता सेना नायक न थे, जो समाज की कुरीतियों से कुशलता से बाहर निकल कर उस पर गोलाबारी आरम्भ कर दें, नन्ददास की तरह पर पक्ष की युवितयों को तर्क बल या निराश करना भी वे नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो झगड़ों में पड़ने के नहीं।

यहाँ कबीरदास के समय के गृहस्थ जीवन को वैराग्य जीवन से भी कठिन और तपोमय बताया। यहाँ कठोर और तपोमय शब्द ध्यान देने योग्य है। सामान्यत: कठोरता और तपस्या गृहस्थ जीवन के धर्म नहीं हैं। परन्तु द्विवेदीजी उस समय के गृहस्थ जीवन को असाधारण रूप से दयनीय बता रहे है इसीलिए उन्होंने वैराग्य जीवन से भी उसे अधिक क्लिष्ट कहा है। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि कबीरदास के समय वैरागियों का जीवन अधिक आसान, तपस्या रहित और आकर्षक था। गृहस्थ जीवन और विरक्त जीवन की यह तुलना एक व्यंगात्मक निर्देश लिए हुए हैं।

तुलसीदास को उन्होने गोलाबारी करने वाला बताया है। साधारणत: किसी कवि को इस प्रकार का कार्य नहीं करना पड़ता है। खासकर तुलसीदास जैसे महात्मा गोलाबारी करने से रहे। इसी प्रकार नन्ददास से तुलना करते हुए भी उन्होंने सूरदास को तर्क के झगड़ों से दूर रहने वाला बतलाया है। यद्यपि सूरदास की युक्तियाँ नन्ददास के तर्क वितर्क से कहीं धार्मिक हैं। यहाँ भी कवियों की विशेषताओं की चर्चा करते हुए द्विवेदीजी ने व्यंग्य का एक हल्का पुट पूरे व्यंग्य में दे रखा है।

यह तो हुई विचारात्मक निबन्धों की चर्चा। जहाँ पर द्विवेदीजी को अधिक स्वच्छन्द होकर अपनी बात कहने का अवसर मिला है वहाँ वे अपने वक्तव्यों में और भी अधिक वाग्वैचित्र्य का प्रदर्शन करते हैं। 'अशोक के फूल' में वे लिखते हैं 'वे सामन्त उखड़ गये,[१] साम्राज्य बह गये और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। संतान कामनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा। वीरों ने भूत भैरवों की, काली दुर्गा ने यज्ञों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई अशोक पीछे छूट गया।

१—अशोक के फूल : पृ० १३।

को अपनाकर द्विवेदीजी ने एक प्रकार से आचार्य शुक्ल और उनकी भाषा परम्परा के स्थान पर एक नयी परम्परा का विन्यास किया है। यद्यपि उनकी यह भाषा परम्परा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा के अधिक समीप है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी की भाषा से द्विवेदीजी की भाषा का काफी दूरतम साम्य होते हुए भी कुछ अंतर भी है। द्विवेदीजी की भाषा में आचार्य द्विवेदीजी की सी रूक्षता नहीं है। अपने व्यक्तित्व की तरलता भी उन्होंने अपनी भाषा नियोजना में समाहित कर दी है। जहाँ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा अधिक इतिवृत्तात्मक है वहाँ द्विवेदीजी की भाषा में व्यंजना और वक्रोक्ति अधिक व्यापक रूप में सन्निविद्ध हुई है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग में भी द्विवेदीजी ने स्थानीय बोलचाल को काफी दूर तक अपनाया है। उनके मुहावरे किसी कोष ग्रंथ से नहीं लिए गये बल्कि जन व्यवहार से लिए गए हैं। अतएव उनमें सजीवता आ गई है।

द्विवेदीजी की शब्दावली में उर्दू फारसी के प्रचलित प्रयोग मिल जाते हैं यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं है। इसी प्रकार उनकी भाषा में जहाँ वे अधिक भावुक हो जाते हैं संस्कृति की पदावली भी मिलने लगती है। उदाहरण देखिये--वह ब्रह्मचर्य का विजयकेतन, धर्म का मूर्तिमान विग्रह, संयम की धवल पताका, वैराग्य का प्रसन्न वैभव, सत्य का अवतार, अहिन्सा का रूप, प्रेम का आकर कीर्ति का कैलाश, भक्ति का उल्लास हमारे बीच से चला गया। इस पंक्ति में संस्कृति की अच्छी छटा है।[1] जो द्विवेदीजी के निबन्धों की बीच-बीच में दिखाई देती है। उर्दू का एक उदाहरण देखिये :--जी, मैं आपको बात समझाने की कोशिश कर रहा हूँ, आप वृद्ध लोगों के सामने क्या हस्ती है।[2] कमलेशजी तुम शौक से अपनी बाते कहे जाओ बेटा नाराज होने वाले खूसट कहीं और होंगे। परन्तु द्विवेदीजी सामान्य भाषा शैली इन सबसे भिन्न है और वह ठेठ हिन्दी को बोलचाल के अधिक समीप है।

जहाँ तक उनके बाणभट्ट की आत्मकथा का सम्बन्ध है इस उपन्यास की भाषा शैली और शब्द प्रयोग एक असाधारण भावात्मक उत्कर्ष लिए हुए हैं। यहाँ द्विवेदीजी कादम्बरीकार बाणभट्ट की आत्म-कथा लिख रहे थे अतएव उन्हें एक उच्चतर शब्द विन्यास का आधार लेना पड़ा। जैसा कि हम ऊपर

१--कल्पलता--पृ० ९८। २--वही पृ० १६२।

कह चुके हैं मुख्य वर्णन या चित्रण संस्कृत के सौन्दर्य से सम्पन्न होते हुए भी यहाँ द्विवेदीजी अपनी सहज भूमिका पर आये हैं उन्होंने काफी ठेठ और तराश रहित भाषा का प्रयोग किया। यहां अन्तर के माध्यम से उन्होंने उपन्यास को केवल पंडितों की सामग्री बना लेने से बचा लिया है।

कुल मिलाकर देखने पर द्विवेदीजी का शब्द चयन और उनकी भाषा शैली वैविध्यपूर्ण होते हुए भी अधिकतर सहज और अनगढ़ है। इसके द्वारा द्विवेदीजी ने अधिक से अधिक पाठकों के समीप पहुँचने का प्रयास किया है। इस लक्ष्य में वे बहुत कुछ सफल भी हुए हैं। इस भाषा शैली को अपनाने के कारण द्विवेदीजी शास्त्रीय या सौन्दर्य मूलक भाषाशिल्पी की भूमिका से अलग चले गये हैं परन्तु उनकी भाषा में सहजता, प्रवाह और हल्के विनोद और व्यंग्य के जो तत्व आ गये हैं वे अपने में एक सदैव उच्चतर लेखक के सर्वथा अनुरूप हैं और एक स्वतन्त्र इकाई का निर्माण करती है।

द्विवेदीजी के जो वाक्य सम्मुच्चय भिन्न-भिन्न अनुच्छेदों में बँटे हुए हैं उनके मूल में बौद्धिक पक्ष की अपेक्षा भावात्मक पक्ष की समग्रता दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में उनकी रचना शैली का बाह्यांग भावप्रेरित और लोकाभिमुख है। संक्षेप में यही उनकी शैली के बाह्यांग रूप की प्रमुख रूपरेखा और विशेषता कही जा सकती है।

८

द्विवेदी-युगीन समीक्षक और शोधकर्ता

यद्यपि द्विवेदीजी के कार्यों में शोध और समीक्षा दोनों पक्ष मिले-जुले रहते हैं परन्तु ये दो स्वतन्त्र विधायें हैं। वैसी स्थिति में द्विवेदीजी के शोध एवं उनके समीक्षा कार्य को पृथक-पृथक कर देखना आवश्यक है और इस अध्याय में हम इसी पद्धति से द्विवेदीजी के शोधकार्य एवं समीक्षा कार्य की तुलना अन्य समीक्षकों और शोधकर्त्ताओं से करना चाहते हैं इस कार्य का विवेचन करने के पूर्व हम हिन्दी शोध एवं समीक्षा की एक छोटी पृष्ठभूमि देना उचित समझते हैं।

हिन्दी समीक्षा का आधुनिक युग

आधुनिक युग में प्रवेश करने पर आधुनिक समीक्षा को मुख्यत: रीति-ग्रन्थों की परम्परा को पकड़े हुए पाते हैं। आरम्भिक समीक्षा ग्रन्थ रीति कालीन लक्षण ग्रन्थों के परिवर्द्धित रूप कहे जा सकते हैं। इनका स्वरूप वही है जो लक्षण ग्रन्थों का रहा है। इनका वर्ण्य विषय यद्यपि समग्र साहित्य शास्त्र कहा जा सकता है परन्तु साहित्यिक विचारणा के सैद्धान्तिक पक्षों को छोड़कर इन कवि लेखकों ने रसों और अलंकारों के उद्धरण देने में अधिक दिलचस्पी दिखाई है। उद्धरण का पक्ष प्रधान हो जाने के सबब से विवेचन का पक्ष क्षीण हो गया है फिर इन लेखक कवियों ने रस और अलंकार आदि के उद्धरण देते हुये संस्कृत आलंकारिकों के सूक्ष्म भेदों और प्रभेदों और उनकी व्याख्याओं को प्रमुखता नहीं दी है। इससे इनका शास्त्रीय पक्ष और भी दुर्बल हो गया है। रस और अलंकार का निरूपण

करने के पश्चात् इनकी दूसरी रुचि नायिका भेद की ओर रही है। अनेकानेक नायक-नायिकाओं की सृष्टि कर ये उनके स्वरूप निर्धारण में प्रवृत्त हुए हैं। विभिन्न प्रादेशिक और विभिन्न जातीय नायिकाओं के वर्णन में भी एक ही दिलचस्पी रही है। बिना उन स्थानों में गए वहाँ की नायिकाओं का रूपवर्णन करने में भी कितनी सफलता मिल सकती थी यह अनुमान किया जा सकता है। हमारा तात्पर्य यह है कि आधुनिक युग के ये लक्षणग्रंथ केवल लीक पीट रहे थे और इनमें किसी प्रकार की नवीनता न आ सकी थी। नायिका के नखशिखवर्णन और वियोगियों के विभिन्न ऋतुओं में होने वाली दशाओं का वर्णन करने में भी अपनी प्रतिभा का अपव्यय किया था।

हिन्दी की आधुनिक युग की वास्तविक साहित्य समीक्षा कतिपय अंग्रेज समीक्षकों से शुरू होती है। ये अंग्रेज समीक्षक पश्चिमी काव्य से परिचित थे। और उत्कृष्ट काव्य के उपादानों की जानकारी रखते थे। इसके साथ ही इनमें से अनेक विद्वान भारतवर्ष में ईसाई धर्म प्रचार के लिये आये थे अतएव इनका एक लक्ष्य साहित्य समीक्षा को धार्मिक सांचे में ढालने का भी था। कदाचित् ये ही कारण हैं कि इन्होंने अन्य साहित्य युगों की ओर दृष्टिपात न करके हिन्दी के भक्तियुग को ही अपनी विचारणा का आधार बनाया था। यह भी ध्यान देने की बात है कि इन अंग्रेज समीक्षकों में भक्तियुग के दो ही प्रमुख कवियों को महत्व दिया है—वे हैं कबीर और तुलसीदास। इन दो कवियों में उन्हें क्रिश्चियन धर्म के आदर्श की समीपता दिखाई पड़ी। अपने विवेचनों में उन्होंने बताया है कि भले ही कबीर और सूर के काव्य में सीधे क्रिश्चियन धर्म का प्रभाव न हो परन्तु भारतवर्ष के मध्ययुग के भक्तिसम्बन्धी पुनरुत्थान अपने मूल में ही क्रिश्चियन प्रभाव की सूचना देता है। इतिहास की भूमिका पर यह भक्ति आन्दोलन जो ८वीं ९वीं शताब्दियों से इस देश में चला था। क्रिश्चियन धर्म की बहुत सी मान्यतायें उसमें प्रतिफलित हो उठीं। यहाँ हम भक्ति आन्दोलन के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार नहीं करते यहाँ हम अंग्रेज समीक्षकों की जिक्र कर रहे हैं। हम देखते हैं कि इन अंग्रेज समीक्षकों ने भारतीय काव्य परम्परा का इतना ध्यान नहीं रखा जितना ईसाई धर्म के प्रभाव को दिखाने का रखा है। जहाँ पर वे प्रभाव को स्पष्ट रूप से नहीं दिखा पाये हैं वहाँ वे इतना कह कर ही संतोष कर लेते हैं कि कबीर तुलसी जैसे कवियों के काव्य में क्रिश्चियन धर्म के आदर्शों से बहुत कुछ समानता है। यह भी ध्यान देने की बात है इन समीक्षकों ने कृष्ण भक्ति संप्रदाय के सूर और मीरा जैसे कवियों और कवियित्रियों को विशेष महत्व नहीं दिया। इन काव्य की शृंगारिकता कदाचित् उन्हें ग्राह्य नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि

हिन्दी के इन आरम्भिक अंग्रेज समीक्षकों में समीक्षा दृष्टि बहुत कुछ सीमित और संकुचित थी और वे क्रिश्चियन धर्म की छाया में हिन्दी काव्य का अनुशीलन करने बैठे थे।

हिन्दी समीक्षा का राष्ट्रीय स्वरूप वास्तव में भारतेन्दु युग के उन समीक्षाओं के द्वारा अग्रसर किया गया जो नयी राष्ट्रीय चेतना से और भारतीय ऐतिहासिक काव्य की परम्परा से सुपरिचित थे। ऐसे समीक्षकों में श्री बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र आदि के नाम दिये जा सकते हैं। यद्यपि यह मूलत: काव्य, नाटक, निबन्ध आदि के लेखक थे परन्तु यत्र-तत्र इन्होने साहित्यिक समीक्षा सम्बन्धी विचार भी व्यक्त किए हैं। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अपने नाटक' नामक निबन्ध में प्राचीन नाट्यसूत्रों का हवाला देते हुए कुछ नयी उद्भावनायें भी प्रस्तुत की है और अपने नाटकों में उनका उपयोग भी किया हैं। अन्य समीक्षकों ने नवजागृत राष्ट्रीयता की भूमि पर अपने काव्य और साहित्य के सम्बन्ध में आदर्शवादी विचार प्रकट किए हैं परन्तु इन समीक्षकों को यह बोध था कि कला की आवश्यकतायें कोरे उपदेशात्मक वक्तव्यों से पूरी नहीं होती। अतएव उन्होंने ऐसी कृतियों को जिनमें उपदेश की ही प्रधानता है साहित्यिक दृष्टि से आक्षेप योग्य माना है। हिन्दी के प्रथम उपन्यास श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' की आलोचना करते हुए पं० बालकृष्ण भट्ट ने उसकी उपदेशात्मकता की त्रुटि प्रदर्शित की है। द्विवेदी-युग के इन समीक्षकों का कार्य परिगणित हुआ है। यद्यपि उसमें प्रौढ़ सैद्धान्तिक विवेचन नहीं मिलते पर व्यावहारिक दिशा की ओर उनकी राष्ट्रीय एवं कलात्मक चेतना का विकास स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

हिन्दी समीक्षा का द्वितीय चरण

हिन्दी समीक्षा का द्वितीय चरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सरस्वती पत्रिका के संपादन कार्य से आरम्भ होता है। द्विवेदीजी बहुभाषाविद थे और विशेष अध्ययनशील भी रहे हैं फलत: उन्होंने अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती उर्दू तथा अन्य भाषाओं में होने वाले साहित्यिक कार्यों का सरस्वती के माध्यम से हिन्दी में परिचित कराने की नीति चलाई और इसी सम्बन्ध से उन्होंने हिन्दी की स्वतन्त्र समीक्षा को भी कई कदम आगे बढ़ाया है। संस्कृत कवियों का स्फुट परिचय देते हुए उन्होने उनके काव्य सौन्दर्य का भी प्रासंगिक रूप से उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी के सम-सामयिक साहित्य पर भी अपने विचार प्रकट करते रहे हैं। उनका ध्यान विशेष रूप से भाषा के व्याकरण

सम्बन्धी योगों पर रहा है यद्यपि काव्य के अन्य पक्षों पर भी वे अपनी सम्मतियाँ देते रहे हैं। मिश्रबन्धु विनोद और हिन्दी नवरत्न ग्रन्थों के प्रकाशित होने के पश्चात् उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास पर भी अपने विचार प्रकट किए है। मूलतः द्विवेदीजी एक नीतिवादी और आदर्शवादी समीक्षक कहे जाते हैं।

इस युग में पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु श्रीकृष्णबिहारी मिश्र आदि ने भी हिन्दी समीक्षा को विकसित किया था। विशेषकर पद्मसिंह शर्माजी ने काव्य साहित्य के अभिव्यक्ति सम्बन्धी सौन्दर्य को अपनी विवेचना का विषय बनाया था। उन्होंने उर्दू काव्य शैली की तुलना में हिन्दी के उन कवियों को सामने रखा जो अभिव्यक्ति कौशल के प्रमुख प्रतिनिधि थे। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी काव्य को उर्दू काव्य की तुलना में विशेष गौरव देने का प्रयत्न किया था। मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी के नौ सर्वश्रेष्ठ कवियों का ऐतिहासिक भूमिका पर आकलन करके हिन्दी काव्य के वैशिष्ट्य को प्रकाशित किया था। इसी प्रकार श्रीकृष्ण बिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन आदि के शास्त्रीय और आलंकारिक भूमिका पर हिन्दी के काव्योत्कर्ष को उद्घाटित किया।

इसी नवचेतन समीक्षा विकास को प्रौढ़ता और शास्त्रीयता देने वाले प्रकांड पंडित रामचन्द्र शुक्लजी द्विवेदी युग के अन्तिम प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। वे सच्चे अर्थों में साहित्य के विशिष्ट आचार्य कहे जा सकते हैं। उन्होंने हिन्दी समीक्षा पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। न केवल सूर, तुलसी, जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों पर उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे है वरन् हिन्दी साहित्य का पहला समग्र इतिहास लिखा है जो आधुनिक विवेचनाओं से ग्रथित होने के कारण इस युग का एक स्मरणीय ग्रंथ बन गया है। शुक्लजी की समीक्षा दृष्टि नवोत्थानवादी और साथ ही आदर्शवादी कही जा सकती है। उन्होने साहित्यशास्त्र के तत्वों को आत्मसात् करते हुए आधुनिक विवेचना की शैली को गहराई में जाकर अपनाया और इस प्रकार उनका समस्त समीक्षाकार्य आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करता है। शुक्लजी ने समीक्षा सिद्धान्तों पर भी दृष्टिपात किया और रस-मीमांसा नामक ग्रंथ में भारतीय साहित्य सिद्धान्त की नवीन वेशभूषा देकर प्रस्तुत किया। उनके समग्र समीक्षा कार्य में उनकी मौलिकता और निजी दृष्टि का भी योग है। उनसे असहमत होना आसान है पर उनका मौलिक चिन्तन दुष्प्राप्य है।

शुक्लजी के समीक्षा कार्य में लोकादर्शवाद की गूंज सर्वत्र मिलती है। उनका साहित्यिक प्रतिमान वस्तून्मुखी और जीवनाभिमुख कहा जा सकता है।

मानव जीवन के विस्तार और वैविध्य का जो आदर्शोन्मुख चित्र तुलसीदास के रामचरितमानस में मिलता है उसको आधार बनाकर शुक्लजी ने प्रबन्ध काव्यों के अन्य काव्य रूपों की अपेक्षा श्रेष्ठतर और रूक्षतर के प्रदेयों को प्रतिपादित किया है। दूसरी ओर उन्होंने धर्म के लोकपक्ष को महत्ता देकर निर्गुण संत कवियों के प्रति बहुत कुछ अनास्था प्रकट की है। इसी प्रकार आधुनिक काव्य में उन्होंने लोकाभिमुख कृत्यों को प्रगीतात्मक कृत्यों की तुलना में विशेषता दी है। शुक्लजी संस्कृत साहित्य के भी अच्छे अध्येता थे। विशेषकर प्रकृतिवर्णन की भूमिका पर उन्होंने वाल्मीकि और कालिदास कवियों के प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन को सराहा है। हिन्दी के आधुनिक काव्य में प्रकृति वर्णन की सुन्दर विशेषताओं से समन्वित नूरजहाँ काव्य की उन्होंने सराहना की है। इस प्रकार एक विशिष्ट आदर्श और प्रतिमान को सर्वांगीण रूप से ग्रहण कर उसमें अनुरूप संतुलित काव्य मीमांसा का संतुलित अस्खलित रूप शुक्लजी ने संपन्न किया। इस दृष्टि से वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के पृथक वास्तविक आचार्य कहे जा सकते हैं। इतिहास उनकी गणना भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ मनीषियों में निरन्तर करता रहेगा।

शुक्लोत्तर शास्त्रीय समीक्षा

शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी में छायावादी समीक्षकों का प्रवेश होता है। जिनका मुख्य कार्य द्विवेदी युग के पश्चात् विकसित होने वाले नवीन काव्य और नवीन साहित्य का स्पष्टीकरण और विवेचन करना था। शुक्लजी ने छायावाद को मुख्यत: अभिव्यंजना की एक नयी शैली के रूप में ही विख्यात किया था। जहाँ तक नये काव्य के वस्तुपक्ष का सम्बन्ध है शुक्लजी ने उसकी अधिकतर उपेक्षा ही की थी। वे उसे स्वच्छंदतावादी काव्य का एक संकीर्ण स्वरूप ही मानने के पक्ष में थे। नवीन काव्य के रहस्यवादी स्वरूप को वे पश्चिमी धार्मिक कवियों की साँप्रदायिक वाणी के समीप मानते थे। उन्होंने इस नवीन रहस्यवाद की प्रेरक शक्तियों को पश्चिम से ही उधार ली हुई बतलाया था। यद्यपि वे सीधे रवींद्रनाथ पर आक्रमण करना नहीं चाहते थे परन्तु प्रकारान्तर से रवींद्रीय रहस्यवाद की ही उन्होंने विरोधी समीक्षा की है।

स्वच्छंदतावादी समीक्षा का आरम्भ

नये स्वच्छंदतावादी समीक्षकों को प्रारम्भ में शुक्लजी के इन वक्तव्यों के प्रत्यावर्तन में ही लगा रहना पड़ा। परन्तु क्रमश: इन समीक्षकों ने संपूर्ण

आधुनिक काव्य और स्वदेशी विदेशी रचनाओं का अनुशीलन आरम्भ किया और इस प्रकार अपनी समीक्षा के द्वारा हिन्दी साहित्य को पहली बार एक अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर देखने का प्रयत्न किया। जिस प्रकार रचना के क्षेत्र में पंत जैसे कवि पश्चिमी स्वच्छंदतावादियों की शैली और अभिव्यंजना के समीप पहुँचे। उसी प्रकार इन समीक्षकों ने भी काव्य और साहित्य को एक सार्वजनिक भूमिका देने का प्रयत्न किया।

फलत: साहित्य और काव्य के प्रतिमान और समीक्षा की पदावली में काफी परिवर्तन हुआ। यद्यपि इन समीक्षकों ने आरम्भ में किसी सिद्धान्त विशेष की नियोजना और मानदण्डों का अप्रत्यक्ष रूप से विनियोग किया परन्तु आगे चल कर इन समीक्षकों ने विश्व साहित्य की भूमिका पर कुछ सैद्धान्तिक निरूपण भी किये हैं। छायावादी काव्य को उन्होंने केवल शैलीगत भूमिका पर ही नहीं देखा बल्कि उसे युगीन काव्य की प्रतिष्ठा प्रदान की। भावोत्कर्ष, कल्पना और कला की भूमि पर द्विवेदी युग के कवियों से प्रसाद, पंत, निराला जैसे कवियों का स्पष्ट अन्तर प्रदर्शित किया। जिसकी प्रतिध्वनि यह थी कि ये कवि हिन्दी काव्य के आधुनिक युग के वास्तविक उन्नायक हैं।

काव्य के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास और नयी कहानी के सम्बन्ध में भी छायावादी समीक्षकों के विचार पश्चिमी समीक्षा प्रतिमानों से प्रभावित हुए हैं किन्तु एक स्वतन्त्र कला समीक्षा का आधार मूल्य भी निर्मित हो सका है जिसे हम राष्ट्रीय समीक्षा के स्तर पर उनका नवीन प्रदेय मान सकते है। इसके पश्चात् इन समीक्षकों ने प्राचीन भारतीय साहित्य और काव्य विकास पर अपने अभिमत दिये है और भारतीय साहित्य की ऐतिहासिक रूपरेखा के निरूपण में नया योगदान दिया है। प्रबन्ध काव्य और प्रगीत काव्य के स्वतन्त्र विकास के तथ्य को शुक्लजी की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टता और गहनता के साथ समझा गया हैं। इन छायावादी समीक्षकों ने प्रगीत काव्य के महान भारतीय उन्नायक सूरदास के काव्य वैभव को प्रकट करने में अपनी साहित्यिक अभिरुचि का परिचय दिया है।

सैद्धान्तिक समीक्षा के स्तर पर छायावादी समीक्षकों के प्रकीर्ण विचार समय-समय पर उद्भावित होते रहे है। यह कहना तो कदाचित् सुसंगत न होगा कि इन समीक्षकों ने किसी समग्र साहित्य शास्त्र का प्रणयन किया है परन्तु स्वरूप और कलाओं के विविध स्वरूपों पर प्रकाश डालते हुए उनके उत्कर्ष अपकर्ष की भावुक भूमियों का उद्भावन करते हुए इन समीक्षकों ने एक नयी

सैद्धान्तिक चेतना की सृष्टि अवश्य की है। यह भी कहना अनुचित न होगा कि छायावाद युग के समीक्षक अभी हिन्दी साहित्य के मंच पर विद्यमान हैं और आशा की जाती है कि साहित्य के नये स्वरूपों, लक्ष्यों और प्रभावों के सम्बन्ध में उनके समन्वित विचार हिन्दी साहित्य समीक्षा के विकास के एक समृद्ध कड़ी के रूप में प्रस्तुत किए जा सकेंगे। इस प्रकार सैद्धान्तिक समीक्षा का क्षेत्र एक संगठित स्वरूप ग्रहण कर सकेगा।

स्वच्छन्दतावादी कवियों का समीक्षाकार्य

ऊपर हमने स्वच्छन्दतावादी या छायावादी समीक्षा के एक समग्र स्वरूप का संक्षिप्त परिचय दिया है। इसका यह अर्थ नहीं कि स्वच्छन्दतावादी समीक्षा एकदम समरस है। इस समीक्षा में अनेकानेक प्रस्थान हैं और इसकी विवेचना और निष्कर्ष एक से नहीं हैं। कुछ तो प्रसाद, निराला, पंत और महादेवीजी की समीक्षायें हैं जिनमें स्वभावत: स्फुट विचारों की प्रधानता है। ये कविगण अधिकतर अपनी-अपनी कविताओं के स्पष्टीकरण के लिए अपने साहित्यिक विवेचन प्रस्तुत करते रहे हैं। प्रसादजी की दृष्टि विशुद्ध रूप से भारतीय आधार लेकर चली है उन्होंने ऐतिहासिक स्तर पर छायावाद और रहस्यवाद को भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन से समन्वित किया है और विशेषत: शैवमत आनंद-वादी धारा का उपन्यास किया है। उनके मत में भारतीय काव्य की एक धारा आनन्दात्मक दर्शन से संभूत है और दूसरी धारा उनके विवेकात्मक दर्शन से परिचालित है। इसी प्रकार उन्होंने भारतीय साहित्य सिद्धान्तों को रस सिद्धांत को आनन्दवादीधारा का उन्मेष और अलंकारादि संप्रदायों को विवेकवादी धारा का परिणाम बताने का प्रयत्न किया है। आधुनिक छायावादी या रहस्यवादी काव्यों को उन्होंने प्राचीन आनन्दवादी काव्य धारा का ही अग्रिम विकास बताया है। उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद के बीच कोई विभेदक रेखा नहीं खींची है। प्रसादजी के इन विवेचनों में आधुनिक छायावादी काव्य को भारतीय काव्य परम्परा से सुसंबद्ध बताया गया है। परन्तु इस नवीन काव्य पर पड़ने वाले देशी विदेशी प्रभावों की विवेचना नहीं की गई।

निराला के समीक्षात्मक निबन्ध भी प्रकीर्णक ही कहे जायेंगे। विद्यापति और चंडीदास के प्रगीत काव्य की विकास रेखा का उन्होंने आंशिक उल्लेख किया है। निराला जी का विशेष ध्यान काव्य के सौन्दर्यात्मक पक्ष पर रहता आया है इसीलिए उन्होंने जो भी समीक्षायें लिखी हैं उनमें भावविन्यास और सौन्दर्य

निर्माण के सूत्रों की प्रमुखता है। श्रेष्ठ कविता निराला को सदैव आकृष्ट करती रही है उसी की विमोहक स्थापना और विवेचना में उनका ध्यान केन्द्रित था। उनकी दूसरी विचार विवेचना दिशा रवीन्द्रनाथ के काव्य से सम्बद्ध थी। रवींद्र कविता 'कानन' नामक अपनी समीक्षात्मक पुस्तक में उन्होंने अनेकानेक उदाहरण देकर रवीन्द्र के काव्य सौन्दर्य को उद्घाटित किया है। उनकी विवेचनायें साहित्य के व्यावहारिक समीक्षा पक्ष से सम्बन्धित हैं। सिद्धान्त स्थापना की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई थी। निरालाजी ने आधुनिक हिन्दी काव्य पर भी अपने अभिमत लिखे हैं और विशेषकर पंतजी की कविताओं की प्रशंसा की हैं। परन्तु पंतजी के काव्य मे कल्पना के समाहार की कमी को ही उन्होंने प्रदर्शित किया है। समग्र दृष्टि को देखने पर निराला काव्य सौन्दर्य के पारखी विवेचक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं।

श्री सुमित्रानन्दन के आलोचनात्मक निबन्ध प्राय: उनकी काव्यपुस्तक की भूमिका के रूप में उपलब्ध होते हैं। पल्लव की भूमिका में उन्होंने कविता के छन्द, लय और शब्दयोजना पर अधिक विस्तार से लिखा है परन्तु इन सबमें उनकी निजी अभिरुचियों की ही प्रधानता है। एक तटस्थ समीक्षक की विशदता और विस्तार वहां नहीं है। फिर भी पंतजी ने नयी कविता के रचनात्मक सौन्दर्य पक्षों पर अपने विचार प्रकट किए हैं। आगे चलकर पंतजी ने काव्य के वैचारिक और दार्शनिक पक्षों का ही अधिक उपस्थापन किया है परन्तु उन निबन्धों में काव्य के भाव और सौन्दर्यपक्ष के तथा काव्य में विचार और दर्शन के अन्तर्भुक्त हो जाने की चर्चायें नहीं की हैं। इस प्रकार उनके ये निबन्ध दार्शनिक अधिक और साहित्यिक कम हैं। पंतजी की भूमिकाओं में आत्मसमर्पण के तत्व भी मिलते हैं। उन्होंने अपनी प्रारम्भिक काव्य रचनाओं को एक हद तक किशोर वय के उद्गार मात्र कहा है और अपनी परवर्ती कविताओं को अधिक महत्वपूर्ण बताया है। परन्तु उनके ये विवेचन सर्वजनस्वीकृत नहीं है।

महादेवी वर्मा के समीक्षात्मक विचार भी अधिकतर उनके काव्य से ही सम्बन्धित हैं। वे उनकी काव्य पुस्तकों की भूमिका रूप में ही लिखे गये है। इन विचारों में उनकी आध्यात्मिक दार्शनिकता ही व्यक्त हो सकती है। साहित्य के कोई सुसम्बद्ध प्रतिमान उसमें निरूपित नहीं है। उनकी समस्त समीक्षाये अंतत: उनकी रहस्यवादी काव्यसृष्टि का वैशिष्ट्य दिखाने के लिये ही नियोजित किये गये हैं।

हिन्दी के इन कवि समीक्षकों ने स्वच्छन्दतावादी काव्यसमीक्षा के लिये

बहुत ही आंशिक और किसी हद तक वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं का ही निदर्शन किया है। इनके निबन्धों को पढ़ लेने पर किसी सुव्यवस्थित और समग्र समीक्षादृष्टि का परिचय नहीं मिलता।

स्वच्छन्दतावादी गद्य समीक्षक

वस्तुत: स्वच्छन्दतावादी समीक्षक के वास्तविक एवं विशद प्रतिमान गद्य लेखकों और समीक्षकों के द्वारा ही प्रकाश में लाये गये हैं। इन समीक्षकों की भी समीक्षा पद्धति और समीक्षात्मक दृष्टि एक सी नहीं है। समीक्षा की पश्चिमी शैली विशेषकर पश्चिम के प्रमुख कवियों और साहित्यकारों पर लिखे गये निबन्धों की अनुरूपता वाजपेयीजी के समीक्षात्मक निबन्धों में देखी जाती है। इन निबन्धों में कवियों के साहित्यिक और कलात्मक विशेषताओं को उनके प्रेरक उपकरणों का विचार करते हुए स्थापन किया गया है। वाजपेयीजी ने काव्य की वैचारिक, दार्शनिक, साहित्यिक और अभिव्यंजनात्मक पक्षों को समाहित कर अपनी समीक्षायें लिखी हैं। उनमें किसी एक सूत्र की प्रमुखता नहीं पायी जाती। उनकी समीक्षाओं में किसी वाद विशेष का योग भी नहीं है। जहां तक सिद्धान्त विवेचन का प्रश्न है वाजपेयीजी की समीक्षायें भारतीय सिद्धान्तों का पक्ष लेती हुई बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं। यहां हम उनके समीक्षा कार्य के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं लिखेंगे क्योंकि वे इस प्रबन्ध के निर्देशक हैं और यहां विस्तार का अवसर भी नहीं है।

द्विवेदीजी का समीक्षाकार्य

स्वच्छंदतावादी समीक्षा की एक विशेष और सुस्पष्ट धारा के आधार पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का समीक्षाकार्य परिचालित हुआ है। उन्हें मूलत: स्वच्छन्दतावादी समीक्षक माना जायगा क्योंकि उनकी समीक्षाओं में किसी क्रमागत सिद्धान्तों का आग्रह नहीं है। रचना के प्रत्यक्ष प्रभाव की भूमिका पर उन्होंने कवियों और लेखकों पर अपनी विवेचना प्रस्तुत की। परन्तु मूलत: स्वच्छन्दतावादी भूमिका पर संस्थित होते हुए भी द्विवेदीजी की काव्य समीक्षा किसी शास्त्रीय या सैद्धान्तिक आधार का निर्मित नहीं हुई। साहित्य और कला की समीक्षा में और निर्माणात्मक स्वरूपों और प्रतिमानों के विवेचन में अन्तर किया जाता है कदाचित् इसीलिए उनकी समीक्षाओं को पूर्णत: साहित्यिक कहने में भी संकोच हो सकता है। परन्तु साहित्य के अपने भाव एवं कला क्षेत्रों को छोड़कर द्विवेदीजी ने जिस मानवतावादी दृष्टि को समीक्षा क्षेत्र में

अवतरित किया है वह काम महत्वपूर्ण नहीं है। पूर्व पृष्ठों में यह कह चुके हैं कि द्विवेदीजी साहित्य और कला को साध्य न मानकर उसे मानवता के विकास का साधन मात्र मानते हैं इसी से उनकी समीक्षाओं में सामाजिक और सांस्कृतिक आधारों की प्रमुखता है। कोई काव्य या साहित्यिक रचना सामान्य मनुष्य को किस सीमा तक अनुप्रेरित कर सकती है और उसके विकास में सहायक हो सकती है। द्विवेदीजी के समीक्षा प्रतिमान साहित्य के समस्त उपकरण, उसके भावात्मक और कलात्मक पक्षों के अशेष पक्षापक्ष उनकी समीक्षा दृष्टि को केन्द्रित नहीं कर सके। उनका एक मात्र दृश्य साहित्यिक आदर्श समाज के निम्न वर्गों और परित्यक्तों के प्रति सहानुभूति का सन्देश देने वाला है। जिस प्रकार टाल्स्टाय ने अपने युग के और पूर्व युगों के समस्त साहित्यिक विवेचनों कला और सौन्दर्य के गम्भीर निर्देशों को एक झटके में छोड़कर साहित्य को लोकहितकारी स्वरूप को अपना संपूर्ण समर्थन दिया था और इस प्रकार एक मानवतावादी संदेश वाहक का पदग्रहण करने का दायित्व ग्रहण किया था प्राय: उसी प्रकार द्विवेदीजी का समीक्षा दर्शन लोकादर्शवादी कहा जा सकता है।

यहां अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं—टालस्टाय के 'कला क्या है' शीर्षक निबन्ध में जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है और उनके परवर्ती साहित्य रचना काल में जिस प्रकार की कृतियां प्रस्तुत की गई हैं उन पर यूरोपीय साहित्य समीक्षकों की सामान्य प्रतिक्रिया अच्छी नहीं है। लोग उन्हें साहित्य समीक्षक और साहित्य सृष्टा की अपेक्षा धार्मिक प्रचारक और आदर्शवादी लेखक के रूप में मान्यता देते हैं। इस आदर्शवादिता के कारण टालस्टाय की परवर्ती कृतियों में एक अवास्तविकता भी आ गई है। मनुष्य की नाना चरित रेखाओं के अङ्कन में टालस्टाय की आरम्भिक कृतियों में जो दिलचस्पी थी वह उनकी परवर्ती कृतियों में फीकी पड़ गई है। रूसी साहित्य के आधुनिक समीक्षक भी उनकी ही रचनाओं में वस्तुपक्ष और आदर्श पक्ष का पृथक्करण करते हैं और वस्तुपक्ष को महत्व देते हुए आदर्श पक्ष का तिरस्कार करते हैं। इस प्रकार टालस्टाय पर न केवल साहित्यिक समीक्षाओं के द्वारा नीतिवादिता के आरोप लगाये गये है बल्कि मार्क्सवादी समीक्षकों के द्वारा भी उनकी कृतियाँ वर्ग संघर्ष की वास्तविक प्रेरणाओं से विलग मानी गई हैं।

द्विवेदीजी की मानवतावादी समीक्षा दृष्टि के सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनकी इस दृष्टि में टालस्टाय की सी कट्टरता नहीं है। सिद्धांत की भूमिका पर वे आग्रहान्वित नहीं हैं इसीलिये उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं

में स्वच्छन्तावाद की स्वतन्त्र प्रेरणायें भी प्राप्त हो जाती हैं। यहाँ हमारा आशय यह है कि द्विवेदीजी की समीक्षाओं में विशेषकर उनकी कवियों और कृतियों की व्यावहारिक चर्चा मे किसी वाद विशेष का आग्रह नहीं है और वे आधुनिक काव्य साहित्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वतन्त्र सम्मतियाँ दे सके हैं। यद्यपि यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि साहित्य समीक्षा में उनकी प्रमुख दिलचस्पी सौन्दर्य और कला की रचनात्मक दिशाओं में न होकर उनके प्रभावात्मक और मानवतावादी पक्षों में अधिक है।

द्विवेदीजी की समीक्षायें या तो ऐतिहासिक भूमिका पर प्राचीन तथ्यों का परिचय कराने के कारण वर्णनात्मक है या फिर वे एक विशेष भावोद्रेक की सृष्टि करके प्रभावाभिव्यंजक बन जाती हैं। इससे भी यह अनुमित होती है द्विवेदीजी में साहित्य समीक्षा के विवेचन एवं विश्लेषण के गुण कम हैं। उनकी शैली मुख्यत: परिचयात्मक और प्रभावमूलक है। इस विशिष्ट शैली के कारण यद्यपि उनकी समीक्षाओं में शास्त्रीयता की विशेषतायें नहीं आयी हैं परन्तु प्रभावोत्पादन की दृष्टि से उनका महत्व कम नहीं है। द्विवेदीजी में वह परख नहीं है जो कवियों की मूल युक्ति या भावना को तथा उनकी कृतियों के मूल वैशिष्ट्य को समझ लेती है। परन्तु उनके अधिक ऊहापोह में वह नहीं पड़ती।

द्विवेदीजी के समकालीन कतिपय समीक्षकों की चर्चा हमने ऊपर की है। वास्तव में वर्तमान समय में ऊपर वर्णित स्वच्छन्दतावादी समीक्षायें प्रमुख और प्रतिनिधि कही जा सकती है। द्विवेदीजी का समीक्षा काव्य ही जैसा कि हम कह चुके हैं स्वच्छन्दतावाद की व्यापक सीमा में आता है। परन्तु इस युग में शास्त्रीय और परंपरागत समीक्षा शैली की भी एक धारा चल रही है जिसमें पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्रीचंद्रबली पांडेय आदि की समीक्षायें आती है। जहां एक ओर द्विवेदीजी शास्त्रपक्ष का और संपूर्ण कला या सौंदर्य पक्ष का विवेचन छोड़कर विशुद्ध अनुभूतिमूलक समीक्षाओं के सृष्टा रहे है वहां दूसरी ओर श्री मिश्रजी और पांडेयजी आदि की समीक्षायें परम्परागत भारतीय विवेचना पद्धति को पुष्ट करती हैं। इन दोनों अतिवादों के बीच हिंदी समीक्षा के अनेक रूपरंग दिखाई पड़ते हैं।

शास्त्रीय समीक्षकों की जो समीक्षायें वर्तमान समय में प्रकाशित हो रही हैं उनमें से कुछ तो सिद्धान्त पक्ष को लेकर हैं और कुछ व्यावहारिक समीक्षायें कवियों की या उनकी कृतियों की है। सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर हिन्दी के शास्त्रवादी

समीक्षकों ने अधिकतर व्याख्यात्मक कार्य किया है। नये तत्वों और आधुनिक युग की वैज्ञानिक उपलब्धियों का कोई विशेष योग उन समीक्षाओं में नहीं दिखाई देता फिर भी यदि प्राचीन मूल्यांकन यथातथ्य स्वरूप उद्घाटित कर दिया जाता है तो वह भी बड़े काम की चीज है। व्यावहारिक समीक्षाओं में इन शास्त्रवादी समीक्षकों और आचार्यों ने साहित्य का नया विकासोन्मुख आकलन कम ही किया है। कामायनी काव्य को लेकर जो समीक्षायें इन लोगों ने प्रस्तुत की हैं उनमें इस काव्य के महत्व को स्वीकार करने का लक्ष्य कम है, उसकी त्रुटियाँ देखने की प्रवृत्ति अधिक है। प्रत्येक समृद्ध साहित्य में एक परम्परागत पक्ष होता ही है अन्यथा कला और साहित्य के विवेचन में अराजकता और नियमहीनता फैलने का भय रहता है। अतएव हम कह सकते हैं कि इन परम्परावादी पंडित हिन्दी साहित्य के अनुशासित विकास में सम्यक् योग दिया है और साहित्य समीक्षा में प्रौढ़ तथा शास्त्र सम्मत विचारों को प्रस्थापित कर हिन्दी समीक्षा को अतिवाद की ओर जाने से बचाया है।

द्विवेदी जी का समीक्षा कार्य किसी भीं दृष्टि से अतिवादी नहीं कहा जा सकता परन्तु वह परम्पराओं से स्वतंत्र अवश्य है आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धांतों का तथा उनके विधि निरूपण का जिन नवीन समीक्षकों को पर्याप्त ज्ञान था नयी समीक्षा दृष्टियों का उन्मेष किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का महत्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से उनकी समीक्षा युगीन भूमिका पर आती है और युगीन चेतना से संपृक्त है। उनका साहित्य संबन्धी दृष्टिकोण सांस्कृतिक और मानवतावादी है। उनके समीक्षा कार्य को आधुनिक समीक्षा में हम एक स्वतंत्रधारा के विन्यास का कार्य कह सकते हैं।

आधुनिक हिन्दी शोध की पृष्ठभूमि

शोध का संबन्ध मुख्य रूप से प्राचीन इतिहास से हुआ करता है,अज्ञात या अल्पज्ञात तथ्यों को प्रकाश में लाना ही शोध का लक्ष्य हुआ करता है। प्राचीन इतिहास केवल सामाजिक या राजनीतिक ही नहीं होता वरन् राष्ट्रीय जीवन के सभी प्राचीन पक्ष इतिहास की भूमिका पर आ जाते हैं। इन्हीं विभिन्न पक्षों में एक साहित्य का पक्ष है। साहित्यिक शोध के अन्तर्गत कवियों और लेखकों की सामाजिक पृष्ठिभूमि उन–उन लोगों के वैचारिक और सांस्कृतिक आदर्श तथा साहित्यिक परम्परायें ली जाती हैं। स्वयं साहित्य के अन्तर्गत काव्यरूपों का, छंदों का और भाषा आदि के अंगों का सम्मिलिन है।अतएव साहित्यिक शोध की सीमा में भी सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के अनेकानेक पक्षों का समावेश हो जाता है।

हिन्दी में भाषा संबन्धी शोध की एक स्वतंत्र परम्परा भी है जिसकी गणना साहित्यिक शोध के बाहर भी चली जाती है। परन्तु जहां तक द्विवेदीजी का प्रश्न है उन्होंने भाषा संबन्धी शोध को भी साहित्य की सीमा में ही रखने का प्रयत्न किया है। कतिपय अन्य भाषा संबन्धी शोधकों से उनकी यह भिन्नता उल्लेखनीय है। द्विवेदीजी के इस शोधकार्य की समकक्षता में हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत अन्य शोधकत्ताओं का भी कार्य उपस्थित है अतएव तुलनात्मक दृष्टि से हम हिन्दी के साहित्यिक शोधकार्य की एक स्पष्ट रूपरेखा का निर्देश कर सकते हैं।

जैसा कि पूर्व के एक अध्याय में लिखा गया है हिन्दी का शोधकार्य भाषा के क्षेत्र में भी शिवसिंह सेंगर के पश्चात् उन्हीं के द्वारा आगे बढ़ सका है। उस आरम्भिक स्थिति में साहित्यिक शोध कतिपय कवियों की सामान्य जीवनी और उनकी रचनाओं के नामोल्लेख के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। ग्रियर्सन के भाषा संबन्धी शोधकार्य अधिक प्रौढ़ हैं और हिन्दी के भाषा संबन्धी शोध विकास में उनका काम अभी स्मरणीय है। इस क्षेत्र के अधिकांश शोधकर्त्ता ग्रियर्सन की स्थापनाओं को स्वीकार करते हैं और उन्हीं का उन्नयन और पल्लवन करते है। इस क्षेत्र में काम करने वाले लेखकों में डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनारायण तिवारी तथा उन्हीं के समकक्ष कतिपय अन्य विद्वानों के नाम लिये जा सकते हैं। हिन्दी के पूर्ववर्ती भाषाओं पर शोधकार्य करने वालों में पारनीटर का उल्लेख विशेष सम्मान के साथ किया जाता है। उन्होंने अपभ्रंश भाषाओं को लेकर विस्तृत शोधकार्य किया है। उनके पश्चात् प्राकृत पैंगलम् और हेमचन्द्र के व्याकरण, संदेशरासक आदि ग्रंथों का आधार लेकर अपभ्रंश संबन्धी शोधकार्य होता रहा है। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने भी इस भाषाकाल संबन्धी शोधकार्य को आगे बढ़ाया है। 'बौध दूहा ओ गान' के संबन्ध में डा० हरप्रसाद शास्त्री की स्थापनाओं का खन्डन भी राहुल जी ने अनेक अंशों में किया है। अभी कुछ ही दिन हुए डा० हेमचन्द्र जोशी ने प्राचीन हेमचन्द्र के व्याकरण का अनुवाद करके भाषा संबन्धी अध्ययन को एक भूमिका प्रदान की है। पुरानी हिन्दी पर चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, मोतीलाल मेनारिया और स्वयं हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का कार्य उल्लेखनीय है। हिन्दी भाषा के व्यापक विकास को लेकर डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि के शोध कार्य भी विशेष महत्व रखते हैं। पिछले कुछ वर्षो से भाषात्मक शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हो रहा है।

साहित्यिक शोध की दिशा में डा० ग्रियर्सन के पश्चात् काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों का शोध एक महत्वपूर्ण शोध कार्य हुआ

है। सभा ने इस शताब्दी के आरम्भ से ही दूर-दूर स्थलों में अपने वैतनिक और अवैतनिक प्रतिनिधि भेजकर भिन्न-भिन्न स्थानों में मिलने वाली पुस्तकों की सूची इनके लेखों का रचनाकाल और उनमें उल्लेख किये गये विषयों आदि का सर्वेक्षण करवाया था। कई वर्षों तक यह कार्य संचालित होता रहा। कदाचित् इसके प्रमुख संचालन उस समय मिश्रबन्धुओं में से एक श्री श्यामबिहारी मिश्र जी थे इस समस्त संकलित सामग्री का उपयोग उन्होंने मिश्रबन्धुविनोद ग्रंथ में किया है। इस ग्रंथ में केवल कवियों की रचनायें ही नहीं उनके सम्बन्ध में और विशेषकर उनकी कविता को लेकर कुछ साहित्यिक विचार भी प्रकट किये और इस ग्रंथ में शोध का अंश इतना ही है कि कवियों का जीवनकाल उनकी कृतियों की रचना तिथियाँ और उनकी संक्षिप्त जीवनी यत्रतत्र दी गई है।

इस संग्रहात्मक शोधकर्ता के पश्चात् कतिपय प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा की गई और तत्कालीन विद्वानों द्वारा उन ग्रन्थों का संपादन कराया गया। इन संपादित ग्रन्थों में पृथ्वीराज रासो, तुलसी ग्रंथावली, सूरसागर, बीसलदेवरासो आदि मुख्य काव्य ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों की भूमिका के रूप में शोधात्मक विवेचन और विवरण दिए गए हैं। विशेषकर पृथ्वीराज रासो, जायसी ग्रंथावली आदि की भूमिकायें शोधात्मक सामग्री से संयुक्त हैं। ये शोध मुख्यतः प्रामाणिकता, मूलपाठ और उन ग्रंथों की पूर्व परम्परा से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में आचार्य शुक्लजी ने सूफी धर्म, सूफी आख्यानों की प्रेमचर्या, सूफी प्रेम के स्वरूप, सूफी साधना के स्वरूप आदि पर ऐसे विचार दिए हैं जिससे हिन्दी के क्षेत्र में शोध की ओर प्रवृत्ति बढ़ी है। कुछ ही समय पश्चात् हिन्दी के प्रमुख कवियों की काव्य रचनाओं पर सम्पादित ग्रन्थ और उनकी विवेचनात्मक भूमिका के परम्परागत कबीर ग्रन्थावली, केशव ग्रंथावली आदि की भूमिकायें और तुलसी-दास जी की जीवनी और काव्य से सम्बन्धित डा० श्यामसुन्दरदास और बड़थ्वाल का गोस्वामी शीर्षक का तुलसीग्रन्थ इसी काल की रचनायें हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी के इस शोधात्मक कार्य के विकास में अनेक पंडित और विचारक शोधकर्ता बड़ी तत्परता से संलग्न रहे हैं। इसी समय के कुछ ही पश्चात् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी भी शोध क्षेत्र में आये और उन्होंने धार्मिक, सांस्कृतिक शोध की एक नयी प्रणाली का निर्माण किया है। जिसकी विशेषताओं की आंशिक चर्चा इस प्रकार है।

द्विवेदीजी के शोधकार्य की दिशायें

जैसा कि हम पूर्व अध्याय में कह चुके हैं द्विवेदीजी के शोधकार्य की

है। सभा ने इस शताब्दी के आरम्भ से ही दूर-दूर स्थलों में अपने वैतनिक और अवैतनिक प्रतिनिधि भेजकर भिन्न-भिन्न स्थानों में मिलने वाली पुस्तकों की सूची इनके लेखों का रचनाकाल और उनमें उल्लेख किये गये विषयों आदि का सर्वेक्षण करवाया था। कई वर्षों तक यह कार्य संचालित होता रहा। कदाचित् इसके प्रमुख संचालन उस समय मिश्रबन्धुओं में से एक श्री श्यामबिहारी मिश्र जी थे इस समस्त सकलित सामग्री का उपयोग उन्होंने मिश्रबन्धुविनोद ग्रंथ में किया है। इस ग्रथ में केवल कवियों की रचनायें ही नहीं उनके सम्बन्ध में और विशेषकर उनकी कविता को लेकर कुछ साहित्यिक विचार भी प्रकट किये और इस ग्रंथ में शोध का अंश इतना ही है कि कवियों का जीवनकाल उनकी कृतियों की रचना तिथियाँ और उनकी संक्षिप्त जीवनी यत्रतत्र दी गई है।

इस संग्रहात्मक शोधकर्ता के पश्चात् कतिपय प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा की गई और तत्कालीन विद्वानों द्वारा उन ग्रन्थों का संपादन कराया गया। इन संपादित ग्रन्थों में पृथ्वीराज रासो, तुलसी ग्रंथावली, सूरसागर, बीसलदेवरासो आदि मुख्य काव्य ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों की भूमिका के रूप में शोधात्मक विवेचन और विवरण दिए गए हैं। विशेषकर पृथ्वीराज रासो, जायसी ग्रंथावली आदि की भूमिकायें शोधात्मक सामग्री से संयुक्त हैं। ये शोध मुख्यतः प्रामाणिकता, मूलपाठ और उन ग्रंथों की पूर्व परम्परा से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में आचार्य शुक्लजी ने सूफी धर्म, सूफी आख्यानों की प्रेमचर्या, सूफी प्रेम के स्वरूप, सूफी साधना के स्वरूप आदि पर ऐसे विचार दिए हैं जिससे हिन्दी के क्षेत्र में शोध की ओर प्रवृत्ति बढ़ी है। कुछ ही समय पश्चात् हिन्दी के प्रमुख कवियों की काव्य रचनाओं पर सम्पादित ग्रन्थ और उनकी विवेचनात्मक भूमिका के परम्परागत कबीर ग्रन्थावली, केशव ग्रंथावली आदि की भूमिकायें और तुलसीदास जी की जीवनी और काव्य से सम्बन्धित डा० श्यामसुन्दरदास और बड़थ्वाल का गोस्वामी शीर्षक का तुलसीग्रन्थ इसी काल की रचनाये हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी के इस शोधात्मक कार्य के विकास में अनेक पंडित और विचारक शोधकर्ता बड़ी तत्परता से संलग्न रहे हैं। इसी समय के कुछ ही पश्चात् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी भी शोध क्षेत्र में आये और उन्होंने धार्मिक, सांस्कृतिक शोध की एक नयी प्रणाली का निर्माण किया है। जिसकी विशेषताओं की आंशिक चर्चा इस प्रकार है।

द्विवेदीजी के शोधकार्य की दिशायें

जैसा कि हम पूर्व अध्याय में कह चुके हैं द्विवेदीजी के शोधकार्य की

अनेक दिशायें हैं, उन्होंने मध्यकालीन धार्मिक विकासक्रम पर शोधात्मक विचार किया है और इस सिलसिले में नाथसंप्रदाय और मध्यकालीन धर्मसाधना पर पुस्तकें लिखी हैं। उनकी कबीर नामक पुस्तक का एक पक्ष इसी धार्मिक शोध से सम्बन्धित है। मध्यकालीन संस्कृति के कतिपय पक्ष उनकी हिन्दी साहित्य की भूमिका नाम की पुस्तक में शोध के विषय बने हैं। विशुद्ध साहित्यिक शोध के लिये उनकी 'हिन्दी का आदिकाल'पुस्तक प्रस्तुत की गई है। काव्य परम्पराओं, काव्य रूढ़ियों और भाषा के प्राचीन विकासक्रम को भी द्विवेदी जी के शोध में स्थान मिला है। इस दृष्टि से देखने पर द्विवेदीजी का शोध कार्य काफी विस्तृत और बहुमुखी है।

इस शोधकार्य के विस्तार के कारण द्विवेदीजी ने अपनी विवेचना में और निर्णयों में भी वैज्ञानिक विवेचन की प्रणाली को अधिक नहीं अपनाया है। वे ऐसे तथ्यों को प्रकाश में लाते हैं जो सामान्य तथ्य कहे जा सकते हैं। किसी विषय को लेकर उसकी सर्वाङ्गीण शोधात्मक रूपरेखा को विशुद्धता की शैली से प्रस्तुत करने का कार्य द्विवेदीजी ने कम ही किया है। जहाँ कहीं उन्होंने किसी विषय का शोधात्मक निर्देश किया है वहाँ उनकी दृष्टि अधिकतर ऐतिहासिक है परन्तु इतिहास की वैज्ञानिक छानबीन करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं है। विशुद्ध साहित्यिक शोधकार्यों मे भी द्विवेदीजी ने अनुमानों का सहारा बड़ी मात्रा में लिया है। इस कारण उनके भेदों का निष्कर्ष अन्तिम वाक्य के रूप में गृहीत नहीं हो सकेगा। एक प्रकार से उन्होंने शोध के क्षेत्र में नवीन विचारोत्तेजन के लिए जगह छोड़ रखे हैं। अतएव उनके समस्त शोधकार्य की रूपरेखा निर्णायक न होकर उद्भावना पूर्ण कही जायेगी।

समकालीन शोधकर्त्ताओं का कार्य

शोध क्षेत्र में द्विवेदीजी के कार्यों पर तुलनात्मक दृष्टि डालने के लिये हमें उन शोधकर्त्ताओं का विचार करना होगा जो द्विवेदीजी के कुछ ही अग्र-पश्चात् इस क्षेत्र में कार्य करने लगे थे। इनमें से प्रथम नाम डा० पीतांबर बड़थ्वाल का लिया जा सकता है जिन्होंने निर्गुण संतकाव्य पर तात्विक प्रकाश डालने का प्राथमिक कार्य किया था। आरम्भ में उन्होंने कबीर ग्रंथावली की भूमिका लिखने में आचार्य श्यामसुन्दरदास के साथ सहयोग दिया, यद्यपि यह भूमिका १०० पृष्ठों से अधिक की नहीं है पर इसमें कबीर की जीवनी और व्यक्तित्व ही नहीं, उनकी समकालीन सामाजिक परिस्थितियों का भी उल्लेख है और इस पृष्ठभूमि पर कबीर के काव्य का दार्शनिक और साहित्यिक अनुशीलन किया गया है।

बड़थ्वालजी ने आचार्य शुक्लजी के कबीर सम्बन्धी कतिपय निर्देशों का विरोध भी किया है और कबीर के महत्व को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी और उनके साहित्य पर फिर आचार्य श्यामसुन्दरदास के सहयोग से शोधकार्य किया परन्तु डा० बड़थ्वाल का मुख्य कार्य निर्गुण सन्तों के सम्बन्ध में है जिस पर उन्होंने अपने डी-लिट् का प्रबन्ध लिखा था। बड़थ्वाल जी का मुख्य झुकाव आध्यात्मिक साधना की ओर था अतएव उन्होंने निर्गुण सन्तों के इस पक्ष पर अधिक मनोयोग पूर्वक कार्य किया है और साधना की शब्दावलियों पर यथेष्ठ प्रकाश डाला है। साथ ही निर्गुण कवियों की जीवनी और उनकी काव्य रचनाओं का अनुशीलन भी किया है। उनका एक प्रधान कार्य 'गोरखनाथ' के काव्य का अनुशीलन करने, गोरखबानी का पुस्तक रूप में-प्रकाशन है। डा० बड़थ्वाल वस्तुमुखी शोधकर्त्ता थे परन्तु उन्होंने विशुद्ध लोकजीवन के साथ इन संतों का सम्बन्ध स्थापित करने का अधिक उद्योग-नहीं किया है। यह कार्य आगे चलकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने किया परन्तु जहाँ तक प्रामाणिक शोध प्रक्रिया का सम्बन्ध है डा० बड़थ्वाल की पद्धति वैज्ञानिक स्तर पर पहुँची हुई है।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्विवेदीजी के एक अन्य सहयोगी हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र हिन्दी के रीतिकाल को अपने शोध का प्रमुख केन्द्र बनाया। वे पाठ शोधन एवं संपादन के कार्य में आरम्भ से ही रुचि रखते थे। इस दिशा में उन्हें अपने गुरु लाला भगवानदीन से बड़ी प्रेरणा मिली थी। लाला भगवावदीन प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ तो थे ही प्राचीन काव्य की व्याख्यायें और अर्थ करने में अप्रतिम थे। केशव और बिहारी पर उन्होंने आरंभिक टीकायें लिखीं थीं और पाठ संशोधन किया था। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने उनके इस कार्य को उपबृंहित करते हुए केशव ग्रन्थावली, बिहारी की वाग्विभूति, पद्माकर पंचामृत जैसे ग्रंथों का संपादन किया और भूमिका में विशद रूप से उन कवियों की जीवनी और काव्य रचना पर प्रकाश डाला। भूषण पर भी मिश्र जी का कार्य उल्लेखनीय है। परन्तु जिस कार्य से मिश्र जी हिन्दी के एक प्रमुख शोधकर्त्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं वह है घनानन्द सम्बन्धी उनका शोधकार्य। न केवल वे एक अल्प प्रचलित कवि को सम्पूर्ण प्रकाश में लाये वरन् रीतिमुक्त कवियों की उस सम्पूर्ण परम्परा को भी रूपाहित किया जिसका उल्लेख आचार्य शुक्ल जी ने अपने इतिहास ग्रंथ में किया था। पाठशोधन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य उन्होंने अभी-अभी रामचरित मानस के 'काशीराज संस्करण' के रूप में किया है। जिस पर उनकी प्रशस्त भूमिका अभी प्रकाशित

होने वाली है। यों मिश्र जी ने 'हिन्दी साहित्य का अतीत' नाम के ग्रंथ में हिन्दी के इतिहास का आंशिक निर्माण किया है। उनकी टिप्पणियां और उनके शोधनिर्देशन काफी महत्वपूर्ण हैं।

मिश्रजी ने भी अपने शोधकार्य में शोध की वस्तुमुखी परम्परा का ही आधार लिया है। वस्तुमुखी परम्परा से हमारा आशय यह है कि कवियों एवं कृतियों का यथातथ्य जीवन निर्देश उनकी रचनाओं का शास्त्रीय साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से आकलन हैं। शास्त्रीय परम्परा का पक्ष प्रधान होने के कारण मिश्रजी के शोधकार्य में वे नवीन उद्भावनायें नहीं जो एक समाजशास्त्र या सांस्कृतिक शोधकार्य में हुआ करती हैं परन्तु साहित्यिक सौन्दर्य और मूल्यों के निर्धारण में उनकी दृष्टि काफी पैनी है। ऐतिहासिक शोध की दिशाओं में उनका परिश्रम श्लाघ्य है।

श्रीचंद्रबली पाण्डेयजी भी द्विवेदीजी के समवयस्क शोधकर्त्ताओं मे से हैं। वे भी आचार्य शुक्ल के शिष्यत्व की सीमा में रहकर काम करते रहे हैं। सबसे पहले उन्होंने 'तसव्वुफ या सूफीमत' पर अपनी विशिष्ट शोध पुस्तक का प्रणयन किया जिसमें सूफी काव्य के मौलिक स्रोतों का अनुसंधान किया गया है। शुक्लजी की ही भांति पांडेय जी ने भारतीय चिन्तन भूमिका पर सूफी चिन्तन के तुलनात्मक रूपों का निर्देश किया है और भारतीय परिस्थितियों में सूफीकाव्य के नवीन आयाम प्रस्तुत हुए उनकी प्रशंसा की है। पांडेय जी ने 'केशवदास' और 'तुलसीदास' पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर उनकी जीवनी और काव्य परम्परा का विशद रूप से निर्देश किया है। मूलत: शुक्लजी के साहित्यिक दृष्टि का इन ग्रन्थों में भी प्रसार या विस्तार दिया गया है। इसी प्रकार पाण्डेय जी ने हिन्दी के मध्यकालीन काव्य के अन्य पक्षों पर स्वतन्त्र शोधात्मक निबन्ध लिखे हैं।

परन्तु पाण्डेय जी का मुख्य कार्य भाषासम्बन्धी अनुशीलन और हिन्दी पर किए जाने वाले आरोपों का प्रत्यावर्तन रहा है। उनके भाषासम्बन्धी इस कार्य की समता का कार्य हिन्दी में कम ही दिखाई पड़ता हैं जिस प्रकार उर्दू भाषा और साहित्य के प्रचार और प्रसार में मौलाना अब्दुल हक ने स्मरणीय कार्य किया है उसी प्रकार पांडेयजी ने हिन्दी भाषा के यथार्थ राष्ट्रीय स्वरूप को अपनी भाषा सम्बन्धी शोधों द्वारा परिपुष्ट कर दिया है।

पांडेय जी निर्भीक ही नहीं वरन् अत्यन्त स्पष्ट भाषी है और कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक सीमा तक जाने वाले विद्वान रहे हैं। खंडन मंडन में भी उन्होंने

पर्याप्त दिलचस्पी दिखाई थी अतएव रचनात्मक दृष्टि से उनका शोधकार्य शोध की वैज्ञानिक शैली का अनुधावन न करके उनकी निजी शैली का प्रतिनिधित्व करता है। अन्य मतों का प्रतिवाद करने के लिए विशेष रूप से निष्णात रहे हैं। कह सकते हैं कि भारतीय अनुशीलन की पुरानी पद्धति जिस प्रकार पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की व्यवस्था थी और अन्य मत निदर्शन एक आवश्यक कार्य समझा जाता था उसी पद्धति या प्रतिमान को पांडेयजी ने अपने शोधकार्य में प्रमुख स्थान दिया है।

प्राचीन साहित्य सम्बन्धी इन शोधकर्त्ताओं के अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सूरसागर का संपादन करने और गीता प्रेस, गोरखपुर से रामचरितमानस का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने में पाठालोचन सम्बन्धी शोधकार्य आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने किया है। वाजपेयीजी ने सूरदास पर एक समीक्षा ग्रन्थ भी प्रकाशित किया जिसमें शोध सम्बन्धी कुछ तथ्य मिलते हैं परन्तु उनकी विशेष रुचि समीक्षात्मक होने के कारण उन्होंने सूरदास के काव्य सम्बन्धी जो विवेचन किया है वह कदाचित् अधिक महत्वपूर्ण कार्य है। सूरदास के काव्य को उसकी उदात्त मानसिक और कलात्मक भूमिका में ले जाकर परखा गया है। जिससे सूरदास के प्रगीत काव्य का नया सौष्ठव उद्घाटित हुआ है। वाजपेयीजी की रुचि सैद्धातिक समीक्षा सम्बन्धी शोधकार्य की ओर रही है जिसके फलस्वरूप उन्होंने भारतीय सिद्धान्त तथा अन्य कतिपय साहित्य सिद्धांतों पर अपने नये निर्देश दिए हैं जो उनकी शोधात्मक दृष्टि के परिचायक हैं। रामचरितमानस के व्याकरण को भी उन्होंने गीता प्रेस के मानस संस्करण में संयुक्त रूप से एक बड़ा निबन्ध लिखा है जो उनकी भाषा और व्याकरण सम्बन्धी विवेचन का परिचायक है। पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का क्रम विकास दिखाते हुए उन्होंने एक प्रशस्त निबन्ध भी लिखा है जो 'नया साहित्य नये प्रश्न' नाम की उनकी पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार सैद्धांतिक शोध सम्बन्धी कार्यों में उनकी अभिरुचि प्रारम्भ से ही बनी रही हैं—जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में उन्होने अपनी समीक्षा और शोध दृष्टि का परिचय दिया है।

प्राचीन शोध के लिए कुछ पक्षों पर प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० माता प्रसाद गुप्त ने उल्लेखनीय कार्य किया है। उनकी भी अभिरुचि अधिकतर पाठ शोधन की ओर रही है। उन्होंने रामचरितमानस, पद्मावत, बीसलदेव रासो आदि ग्रन्थों के शुद्ध संस्करण प्रकाशित किये हैं और उनके पाठों के सम्बन्ध में अपना अभिमत दिया है। गोस्वामी तुलसीदास पर उनका शोध प्रबन्ध विशेषत: गोस्वामीजी के ग्रंथों की रचना-तिथि के निरूपण के लिए प्रसिद्ध है। उनके ये

निरूपण जिन आधारों पर अवलम्बित हैं वे आंशिक आधार उनके निर्णयों पर हिन्दी के विद्वान् सहमत नहीं हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त पाठशोध, तिथि निरूपण सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टि का आधार लेते हैं परन्तु साहित्यिक शोध में [illegible] की प्रौढ़ता आदि के आदर्श में मूल्यवान होते हैं। इन आदर्शों का उपयोग न करने के कारण डा० गुप्त के इस विषय के शोध कोरे वैज्ञानिक हैं वास्तविकता नहीं आती। इधर कुछ समय से डा० गुप्त ने सूफी काव्य और रासो काव्य के सम्बन्ध मे भी अपने शोधात्मक विचार प्रकट किए हैं। डा० गुप्त की शोध शैली अत्यधिक यांत्रिक है अतएव अनेक बार साहित्यिक तथ्यों का उद्‌घाटन करने में पश्चात्-पद रह गई हैं। फिर भी हिन्दी के अधुनातम शोधकर्त्ताओं में गुप्त जी एक उल्लेखनीय स्थान रखते हैं।

प्रयाग विश्वविद्यालय के एक अन्य शोधकर्त्ता डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आधुनिक युग के उस संधिकाल के अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाल सके हैं जिन्हें हम सामान्यतः भारतेन्दु युग की पृष्ठभूमि कह सकते हैं। हिन्दी गद्य के सम्बन्ध मे वार्ष्णेयजी का शोधकार्य वस्तुमुखी कहा जा सकता है, परन्तु जब कभी वे वस्तु स्थापन के अतिरिक्त उस काल के भाषा या साहित्यिक अध्ययन में प्रस्तुत होते हैं तब उनके विचार उतने सर्वमान्य नहीं रह जाते। इसका कारण कदाचित यह है कि भाषा और साहित्य की स्वरूप विषयक गम्भीर अन्तर्दृष्टि उनके विचारों में यथेष्ठ यात्रा में नहीं होती। फिर भी विवरणात्मक और ऐतिहासिक तथ्यमूलक मूल्यवान शोधकार्य वार्ष्णेयजी के द्वारा किया गया है।

सन् १९०० से लेकर १९२५ तक के हिन्दी साहित्य के विवरणात्मक शोध का अच्छा कार्य डा० श्रीकृष्णलाल ने किया है। उनकी प्रमुख विशेषता विवेच्य विषय को उचित वर्गों में विभाजित कर उसका संक्षिप्त परिचय देना है। इसके साथ वे लेखकों के नामों तथा उनकी रचनाओं की तिथियों आदि का निरूपण करने में काफी परिश्रम का परिचय देते हैं। इस प्रकार की सामग्री इन २५ वर्षों की जितनी डा० कृष्णलाल ने दी है उतनी किसी ने नहीं दी। उनके व्यावहारिक वर्गीकरण भी यथेष्ठ मात्रा में उपयोगी हैं परन्तु ज्यों ही साहित्यिक विवेचन और आकलन की समस्या आती है उनके विचार और निर्णय संदिग्ध हो जाते हैं। डा० लाल ने तुलसीदास और मीरा बाई पर भी स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी हैं। इन्हें देखने पर ज्ञात होता है कि इनका साहित्यिक एकांगी है और अपर्याप्त है। रामचरितमानस की जैसी तुलना उन्होंने वाल्मीकि रामायण से की है उसमें इतिहास की परिवर्द्धित परिस्थितियों का कोई ज्ञान नहीं कराया जा सका। गोस्वामीजी के चरित्र-चित्रण पर उनके आक्षेप और भी असाहित्यिक हैं।

आचार्य शुक्ल ने राम के शील शक्ति और सौन्दर्य की जो भूमिका तुलसी के मानस से लेकर उपस्थित की है उसका अभ्याहत खण्डन करते हुए जो तर्क डा० कृष्णलाल ने दिये हैं वे नितांत असाहित्यिक और सांप्रदायिक हैं। जब तक किसी शोधकर्त्ता की साहित्यिक चेतना विकसित न हो और जब तक उसे समकालीन परिस्थितियों और तज्जन्य प्रेरणास्रोत का यथेष्ठ सहानुभूतिपूर्ण विचार न हो तब तक कोई भी साहित्यिक शोधकार्य समुन्नत नहीं कहा जा सकता।

द्विवेदीजी के अन्य समवयस्क हिन्दी शोधकर्त्ताओं में डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने विश्वविद्यालय से बाहर रहकर भी 'तुलसी दर्शन' जैसे शोधात्मक प्रबन्ध का निर्माण किया। डा० मिश्र जी की शोध प्रणाली वस्तुमुखी और विवेचनात्मक है तथा उन्होंने अपनी ऐतिहासिक दृष्टि का भी इस शोध में परिचय दिया है। डा० मिश्र, आचार्य शुक्लजी की विचार परम्परा के अनुयायी हैं अतएव वे तुलसीदास जी के ग्रंथों के दार्शनिक पक्ष का अच्छा अनुशीलन कर सके हैं। मानस के विभिन्न चरित्रों के माध्यम से भी उन्होंने गोस्वामी जी के दर्शन की खोज की है। नागपुर विश्वविद्यालय में डा० मिश्र ने एक भाषण माला प्रस्तुत की थी जिससे उनके भारतीय इतिहास और साहित्य सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान का परिचय मिलता है।

विश्वविद्यालयों से दूर रहकर उत्कृष्ट कोटि का शोधकार्य करने वालों में श्री परशुराम चतुर्वेदी का नाम भी भुलाया नहीं जा सकता। चतुर्वेदीजी की मुख्य अभिरुचि भारतीय संतकाव्य के प्रति रही है। जिसके कारण उन्होंने इस क्षेत्र के साहित्य का सर्वाङ्गीण अध्ययन और अनुशीलन किया है। चतुर्वेदीजी की दूसरी निष्ठा सूफी काव्य के प्रति रही है। हिन्दी के सूफी काव्य पर उनके शोधात्मक विचार बहुत अधिक माननीय हैं। श्री चतुर्वेदी जी की शोध शैली व्याख्यात्मक होती है। अतएव वे अपने विषय को सामान्य विद्यार्थी के लिये भी उपयोगी बना देते हैं। इस कारण उसके शोधकार्य में पर्याप्त गम्भीरता चाहे न भी होती हो किन्तु इससे उनकी शोध सम्बन्धी लगन और साधना के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। श्री चतुर्वेदी जी असाधारण अध्ययनशील और विचारशील व्यक्ति हैं उन्हें भारतीय सांस्कृतिक विकासक्रम का भी अच्छा बोध है। अतएव उनका शोधकार्य मतभेदों की सृष्टि नहीं करता, बल्कि काफी प्रौढ़ और प्रशस्त प्रतीत होता है।

आधुनिक विश्वविद्यालयीन शोध

द्विवेदीजी के शोधकार्य के तुलनात्मक स्वरूप को समझने के लिए आधु-

निक युग के उस विश्वविद्यालयीन शोधकार्य पर भी दृष्टि डालनी होगी जो प्राय: पी० एच० डी, डि० लिट, की उपाधि के लिये प्रस्तुत किये गये हैं। यह शोध-कार्य सन् १९३० के लगभग आरम्भ होकर आज तक चल रहा है और उसमें उत्तरोत्तर गति आ रही है। इस शोधकार्य में विविध तत्व हैं परन्तु स्थरीयता (Standard) का यहाँ हम इस शोधकार्य को जो विश्वविद्यालय के माध्यम से हुआ है कतिपय भागों में बाँटकर देखना चाहेंगे।

(१) हिन्दी के प्राचीन कवि और काव्य सम्बन्धी शोध

इस शोध के अन्तर्गत चन्दबरदाई, कबीर, तुलसीदास, मीराबाई, जायसी और कतिपय प्रेम मार्गीय कवि, रीतिकालीन केशवदास, बिहारी, घनानन्द, सूरदास तथा अष्टछाप के कवि, पद्माकर आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय सन्त कवियों और दरबारी कवियों का भी शोधकार्य किया गया है। इस क्षेत्र में किए गये कार्य से यह बताना तो कठिन है कि इससे इतिहास लेखन की सामग्री विकसित हुई है परन्तु भिन्न-भिन्न कवियों की साहित्यिक विशेषतायें उनका सामाजिक परिपार्श्व, उनकी वैचारिक और सांप्रदायिक रूप-रेखायें और उन पर पड़ने वाले पूर्ववर्ती प्रभावों का यथेष्ठ निर्देश किया गया है। इन शोधों में कवियों की जीवनी और उनकी काव्य कृतियों की रचना तिथियों का अनुशीलन किया गया है, यद्यपि जीवनी निर्माण का कार्य अधिक सफल नहीं हो सका है। इस क्षेत्र में यह कार्य करने की पर्याप्त सम्भावना नहीं है। संपूर्ण भारतीय भूमिका पर हिन्दी के कतिपय कवि और काव्य धाराओं का विवेचन भी इस प्राचीन शोध में नहीं के बराबर किया गया है। प्राचीन काव्य के स्वरूप उनकी परम्परा और उनकी विकास दिशा का आकलन भी न्यून मात्रा में हुआ है। अज्ञात कवियों एवं उनकी अज्ञात कृतियों की खोज भी कम हुई है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की अपेक्षाकृत न्यूनता होने के कारण प्रामाणिक पाठों का शोध भी कम हुआ है। इन सभी दिशाओं में अधिकाधिक शोधकार्य अपेक्षित बना हुआ है।

(२) प्राचीन सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण का शोध

यह भी प्राच्य शोध का एक आवश्यक अंग है जो कवियों की जीवनी की ही भाँति उनकी सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण के लिये अपेक्षित है परंतु इस क्षेत्र में भी अब तक पर्याप्त कार्य नहीं हो सका है। सामाजिक और सांस्कृतिक शोध अधिकतर आधुनिक युग से सम्बन्धित किये जा सके हैं। सांस्कृतिक

या सामाजिक पृष्ठभूमि के खोज के नाम पर अधिकतर भक्ति के विभिन्न संप्रदायों और उनकी विचारधाराओं पर अभी प्रकाश डाला गया है परन्तु सच्चे अर्थ मे उसे सांस्कृतिक खोज नहीं कहा जा सकता। लोक भाषाओं का काव्य और उसकी ऐतिहासिक निरन्तरता पर भी बहुत स्वल्प कार्य हुआ है। इस प्रकार जिसे सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक भूमिका का शोधकार्य कहा जा सकता है अब तक अधिक मात्रा में नहीं लिखा जा सका।

(३) जीवनी सम्बन्धी शोध

सूरदास, तुलसीदास, कबीर, केशवदास तथा जायसी को छोड़कर हिन्दी के प्राचीन कवियों की जीवनियों पर भी शोधकार्य की न्यूनता दिखाई देती है। प्राचीन कवियों, नये कवियों और लेखकों की जीवनियों का अनुसंधान भी अभी आरम्भिक स्थिति में है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट आदि की कुछ जीवनियां ही लिखी गई हैं। परन्तु जीवनी और लेखक की दृष्टि अभी पर्याप्त विकसित नहीं है। प्राय: लोग जीवन की कतिपय घटनाओं को ही जीवनी समझ लेते है। परन्तु जीवनी से आशय व्यक्तियों के उस आन्तरिक और दैनन्दिनी कथा जीवन से भी है जिसका आलेखन अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। हिन्दी में डायरी लेखन की प्रणाली अविकसित दशा में रहने और आत्म-जीवनी लेखन की प्रणाली भी बिरल होने के कारण जीवनी लेखन में कठिनाइयाँ आती हैं। वस्तुत: जीवनी लेखन का कार्य किसी अंतरग मित्र, प्रेयसी या पत्नी का हुआ करता है परन्तु इस प्रकार की जीवनियां लिखी नहीं गई। पत्रों द्वारा भी जीवनी के अनेक अंशों पर प्रकाश पड़ता है परन्तु हिन्दी के प्रमुख कवियों एवं लेखकों के पत्रों का संग्रह भी यथेष्ठ मात्रा में नहीं हुआ है। कवियों और लेखकों की जीवनी का अन्तरंग परिचय हुए बिना उनका समग्र साहित्यिक विवेचन करना भी कठिन है। आवश्यकता यह प्रतीत होती है कि जीवनी लेखन के क्षेत्र में अधिक मनोयोग पूर्वक और प्रामाणिक प्रकार का शोध किया जाय।

(४) आधुनिक काव्य सम्बन्धी शोध

हिन्दी के वर्तमान युग में विश्वविद्यालयों के द्वारा आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोधकार्य प्रचुर मात्रा में हो रहा है। कुछ विचारक यह समझते हैं कि आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोध मुख्यत: समीक्षात्मक है। उनके इस धारणा के मूल में शोध सम्बन्धी वह पुराना आदर्श है जिसके अनुसार शोधकार किसी अज्ञात वस्तु को प्रकाश में लाता है। यह माना जाता है परन्तु शोध सम्बन्धी यह

धारणा बहुत कुछ एकांगी है। शोध का लक्षण ज्ञान प्रसार है ज्ञान के साथ ही अनेक भूमिकायें हो सकती हैं। अज्ञात वस्तुओं को प्रकाश में लाना उनमें से केवल एक भूमिका है। वर्तमान युग का शोधकार्य इतने में ही सीमित नही रह सकता। प्राचीन कवियों एवं कृतियों का समीक्षात्मक अनुशीलन आधुनिक शोध का एक आवश्यक अंग है। प्राचीन साहित्यिक सिद्धान्तों और विभिन्न साहित्यिक संप्रदायों को नवीन वैज्ञानिक भूमिका पर उपस्थित करना नये शोध के लिये अतिशय आवश्यक हैं। प्राचीन कवियों की जीवनी उनके काव्य का अनुक्रम विवेचन भी शोध का नया विषय है। यह तो शोध सम्बन्धी प्राचीन भूमिका की ही एक आधुनिक भूमिका है। जबसे हमारा देश पश्चिम के संपर्क मे आया है तबसे काव्य सम्बन्धी हमारे आकलन में आवश्यक परिवर्तन हुए है। न केवल समीक्षण की शैली बदली है एक बड़ी मात्रा में दृष्टिकोण भी बदला है। इस दृष्टिकोण को उसकी सर्वांगीणता में उद्‌घाटित करना आधुनिक साहित्य की विवेचना की भूमि पर अधिक उपयोगी हो सकता है। भारतीय और पश्चिमी दृष्टियों के समन्वय से साहित्यिक विवेचन की नयी परम्परा रूपायित हो सकती है सैद्धांतिक भूमिका पर भी भारतीय और पश्चिमी साहित्य शास्त्र के विविध पक्षों पर नया कार्य किया जा सकता है जो अधिकांश समीक्षात्मक ही होगा। विविध कवियों और उनकी कृतियों का तुलनात्मक विवेचन भी आधुनिक शोध का एक उल्लेखनीय पक्ष है केवल एक प्रदेश के ही नहीं, विभिन्न प्रदेशों के भारतीय साहित्य की साहित्य-विधाओं की और साहित्य-धाराओं की तुलनात्मक विवेचना भी अपेक्षित है। अनेक साहित्य रूप नवयुग में विकसित हुए हैं उदाहरणार्थ नये उपन्यास, नयी कहानी, नये निबन्ध, वर्तमान युग की सृष्टि, उनका विवेचन विश्लेषण व मूल्यांकन भी अपेक्षित है। उपसाहित्य ज्ञान के सम्बर्धन में इन सबका अपना महत्व है। यदि हिन्दी का शोध कार्य इन विषयों की और उन्मुख होता है तो इसे कोरी समीक्षा कहकर शोध भूमिका से बहिष्कृत करना न केवल एक प्रतिमान या प्रतिक्रियावादी कार्य होगा बल्कि राष्ट्रीय ज्ञान विस्तार में भी बाधक बनेगा विशेषकर जब यह समीक्षात्मक अनुशीलन शोध सम्बन्धी प्रक्रियाओं का अनुसरण करते हुए किया जा रहा है। जब बहिरंग में भी यह कार्य शोध विषय का है तब इस सम्बन्ध में शंकात्मक दृष्टि का परिचय देना घड़ी के कांटों को पीछे खींचना ही कहा जायगा।

आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोधों में शोध सम्बन्धी प्रामाणिक विषयों का प्रयोग किया जा रहा है। कवि विशेष और उनकी कृति विशेष के दार्शनिक आधार का अनुशीलन हो रहा है। उनकी सामाजिक पृष्ठ भूमि प्रस्तुत की जा

रही है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से उनका योग दिखाया जा रहा है। उनकी जीवनी के अपरिचित और अज्ञात तथ्यों का व्यवस्थित रूप से अनुसंधान किया जा रहा है। आधुनिक काव्य तथा साहित्य सम्बन्धी यह शोध क्रमश: सर्वाङ्गीण भूमिका पर ग्रहण किया जा रहा है। प्राचीन कवियों की खोज में इन सारे तथ्यों का प्रयोग सुगमता पूर्वक नहीं हो पाता। विशेषकर उनकी जीवनी का निर्माण तथ्यात्मक सामग्री के अभाव में हो ही नहीं पाता। इन अभावात्मक पक्षों से सभी विचारक खिन्न हैं परन्तु विवश भी हैं। आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोधों में ये अभाव न रह जांय और हमें आगे चलकर पछताना न पड़े इस निमित्त नए साहित्य के शोध कर्त्ताओं को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। सामान्यत: यह नियम है कि किसी जीवित कवि या लेखक पर शोध कार्य करना समीचीन नहीं होता परन्तु इस नियम को हम बहुत दूर तक नहीं खींच सकते जो साहित्यकार परिपूर्ण प्रौढ़ता पर पहुँच चुके हैं और जिनके सम्बन्ध में नये विकास की सम्भावना नहीं रह गई है उन पर शोधकार्य करना अनुपादेय नहीं होगा, क्योंकि हमारा लक्ष्य साहित्यिक शोधकार्य द्वारा साहित्य परम्परा को पुष्ट करना भी है। विदेशी साहित्य का आक्रमण नवयुवक लेखकों पर होता जा रहा है। ऐसी स्थिति मे आधुनिक हिन्दी की काव्य और साहित्यिक परम्परा का स्पष्ट चित्र नये लेखकों के सम्मुख उपस्थित कर देना भी आवश्यक है। ऐसा न होने पर विदेशी प्रभावों के अनावश्यक रूप से बढ़ जाने का खतरा रहेगा और हिन्दी साहित्य की राष्ट्रीय भूमिका आवश्यक रूप से अवरुद्ध हो जायेगी। इसका प्रभाव हमारे रचनात्मक साहित्य पर भी पड़ेगा और महाकवियों और लेखकों की वह राष्ट्रीय परम्परा स्थापित नहीं हो सकेगी जो अभीष्ट है। कोई भी महत् काव्य विदेशी अनुकरण पर निर्मित नहीं होता इस तथ्य का ज्ञान नये लेखकों को होना चाहिए और यह ज्ञान आधुनिक साहित्य सम्बन्धी शोधकार्य से कराया जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के सम्बन्ध में आकलनात्मक कार्य तो किया गया है परन्तु एक-एक कवि और लेखक को लेकर उसके कर्तव्य का स्पष्ट स्वरूप हमारे समक्ष अब तक नहीं आया है। आधुनिक साहित्य के शोधकार्य में इस पक्ष पर क्रमश: ध्यान दिया जा रहा है और भारतेन्दु युग के कई लेखकों पर शोधकार्य किया भी जा चुका है। अनेक लेखकों पर भी शोध बाकी है। द्विवेदी युग के कतिपय कवियों और लेखकों पर शोधात्मक कार्य हो चुका है। रत्नाकर, श्रीधरपाठक, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि कवियों और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचन्द्र जैसे समीक्षकों और कथाकारों पर अच्छे शोधग्रंथ प्रस्तुत किये जा चुके हैं। स्वयं द्विवेदीजी पर दो तीन शोध प्रबंध निर्मित हो चुके हैं।

वर्तमान युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों और काव्यधाराओं पर कई शोधकर्त्ताओं ने कार्य किया है। इस युग के कवियों में साहित्यिकों की जीवनी का आकलन अभी पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाया है। इस कार्य पर सबसे पहले दृष्टि डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

वर्तमान युग में नाटक, उपन्यास, कहानी और कतिपय अन्य साहित्यिक विधाओं का नया विकास हो रहा है। इन विधाओं पर न केवल विकासात्मक अध्ययन और अनुशीलन की आवश्यकता है वरन् इसमें नवीन शिल्प पर भी प्रकाश पड़ना आवश्यक है।

(५) सैद्धांतिक समीक्षा

विश्वविद्यालयों में साहित्य शास्त्र और साहित्य की सैद्धान्तिक रूपरेखा पर कुछ शोधकार्य हुआ है परन्तु अधिकतर संकलनात्मक विभिन्न संप्रदायों का विकासात्मक परिचय मात्र दिया गया है। समस्त संप्रदायों के समीकरण का अवतरण कम ही हुआ है। रस सिद्धान्त को लेकर आधुनिक काल में कुछ शोधात्मक कार्य किया गया है परन्तु इसमें भी प्राचीन तथ्यों को एकत्रिक करने की शैली ही अपनाई गई है। इसी सैद्धान्तिक समीक्षा से संबद्ध विभिन्न साहित्यिक रूपों के स्वरूप और विकास का विषय भी आता है जिस पर हाल ही में दो तीन प्रबंध लिखे गये हैं। परन्तु इस क्षेत्र में अभी अत्यधिक कार्य शेष पड़ा है। प्रगीतकाव्य रूप पर अब तक एक भी संतोषजयक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत नहीं किया गया है। हाल में उपन्यासों के स्वरूप विकास पर कुछ कार्य अवश्य हुआ है। महाकाव्य के शिल्प विधान को लेकर एकाध प्रबंध प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी के छन्दशास्त्र पर दो ही प्रबंध प्रकाशित हुई हैं जिनसे इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ सका है।

वाद सम्बन्धी शोध

सैद्धान्तिक समीक्षा के एक अंग के रूप में वादों का विवेचन भी आता है। प्रत्येक वाद का एक वैचारिक आधार होता है और उस आधार का आश्रय लेकर साहित्यिक कृतियां भी उपलब्ध हैं। वाद चूंकि वैचारिक क्षेत्र की वस्तु हैं। अतएव उसका संबन्ध साहित्यिक कृतियों से सुनियोजित करके देखना भी आवश्यक होता है। हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि कतिपय आधुनिक वादों और उनसे प्रतिफलित होने वाली कृतियों का समीक्षण किया गया है। परन्तु अब तक यह कार्य अधिक प्रौढ़ स्थिति तक नहीं पहुँचा

है। हाल में आधुनिक मनोविज्ञान सम्बन्धी वादों को लेकर कुछ विवेचन हुआ है परन्तु इस दशा में अभी और भी शोधकार्य अपेक्षित जान पड़ता है।

भाषा सम्बन्धी शोध

भाषा सम्बन्धी शोधकार्य में अधिकतर हिन्दी में प्रादेशिक भाषाओं के प्रमुख विकास की ओर ध्यान दिया गया है। अवधी, ब्रजभाषा, मैथली, भोजपुरी खड़ी बोली आदि पर शोधप्रबंध लिखे गये हैं परन्तु इन भाषाओं का विभिन्न शताब्दियों में क्या स्वरूप रहा है और परवर्ती शताब्दियों में कौन से नए प्रचलन हुए हैं उनका ऐतिहासिक विवेचन दुर्लभ है। अनेक शोधकर्ताओं ने लोक साहित्य पर विचार करते हुए उन प्रदेशों की लोकभाषा पर कुछ अध्ययन लिखे हैं। परन्तु इस पद्धति से किसी लोकभाषा का समग्र ऐतिहासिक अनुशीलन नहीं हो पाता। हाल में अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, डिंगल आदि प्राचीनतर भाषाओं की भी कार्य करने की प्रवृत्ति दिखाई दी है। अभी इस दिशा में बहुत अधिक कार्य करना शेष रह गया है। प्रादेशिक भाषाओं से और आगे बढकर क्षेत्रीय बोलियों पर ही कार्य किया जाने लगा है। भारतीय विश्वविद्यालयों में भाषा सम्बन्धी स्वतन्त्र विभाग कम ही हैं। कदाचित् इसी कारण भाषाओं के अनुशीलन का कार्य अभी अपनी आरम्भिक अवस्था में पड़ा हुआ है।

शोध के क्षेत्र में द्विवेदीजी की विशेषतायें

हिन्दी के प्रमुख शोधकर्त्ताओं और विश्वविद्यालयीन शोधकार्य के परिप्रेक्ष्य में अब हम द्विवेदीजी के शोधकार्य की विशेषतायें देख सकते हैं। मूलत: द्विवेदीजी एक स्वच्छन्तावादी विचारक हैं। परन्तु वे प्राचीन साहित्य के पंडित भी हैं। उन्होंने उसका अध्ययन भी किया है। विशेषकर हिन्दी के आदि-कालीन साहित्य को उन्होंने देखा और परखा है और बहुत सी बातें प्रकाश में लाये हैं। द्विवेदीजी के मानवतावादी दृष्टि के कारण उनका शोध क्षेत्र भी अधिकतर ऐसे युगों से सम्बन्धित है जिसमें साहित्य की गतिविधि सामन्य जनता के अधिक समीप पहुँच गई थी। सिद्ध संप्रदाय, नाथसंप्रदाय, कबीर और निर्गुणकाव्य की धारा सामान्य रूप से जन साहित्य के अधिक समीप है। उसमें परिनिष्ठित साहित्य और कला के गुण अल्पमात्रा में ही पाये जाते हैं। द्विवेदीजी की अभिरुचि चूंकि लोकजीवन से सम्बन्धित रही है इसलिये उन्होंने परिनिष्ठित साहित्य की भूमिकाओं को छोड़कर उन लोक कवि और लोक साहित्य की भूमिकाओं में प्रवेश किया है जिन्हें मूलत: जनता के कवि और जनता का काव्य कहा जा सकता है।

स्वभावतः यह जनकाव्य साहित्य के इतिहास में अब तक उपेक्षित रहा है। हिन्दी के शोधकर्त्ता और आचार्य इस प्रकार के साहित्यक शोध की ओर उन्मुख नहीं हुए क्योंकि इसे वे वास्तविक साहित्य की श्रेणी में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। दूसरी बात यह भी थी कि सूर और तुलसी जैसे कवि भारतीय धर्म की स्वाभाविक विकास परंपरा में आते हैं। इसकी परंपरा शास्त्रसम्मत है। इसके विपरीत जिन कवियों और काव्य रचनाओं को द्विवेदी जी ने शोध का विषय बनाया है वे किसी सर्वसामान्य शास्त्रीय परंपरा से संपृक्त नहीं है। इस प्रकार के साहित्य को गौरव देकर और उसकी शोधात्मक छानबीन करके द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को शोध का एक नया क्षेत्र ही नहीं, साहित्य की एक नवीन दृष्टि देने का भी प्रयत्न किया है। यह उनके शोधकार्य का ऐतिहासिक महत्व है।

जब कभी द्विवेदीजी अपने अभीप्सित कवियों और काव्यधाराओं के अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं तब पृष्ठभूमि में वे उन धार्मिक और लौकिक विश्वासों को भी प्रस्तुत करते हैं जिसके आधार पर इन कवियों की श्रृंखला बन पाई है। धार्मिक विश्वासों और जीवनपद्धतियों के इस निरूपण में द्विवेदीजी शास्त्रपक्ष को आधार न बनाकर लोकपक्ष की गतिविधियों को प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार से सामान्य जनता उन्हीं आदर्शों को लेकर चली है जो इन कवियों द्वारा अभिव्यक्त किये गये हैं। जहां तक इन कवि साधकों की साधना प्रणालियों का प्रश्न है उन्होंने उसका बहुत कुछ लोक सापेक्ष्य स्वरूप प्रकट किया है। जो जनता वर्णाश्रम धर्म की निचली श्रेणी में रख दी गई थी उसकी अपनी जीवनचर्या और लौकिक तथा अध्यात्मिक आदर्श क्या थे इन प्रसंगों और प्रकरणों को द्विवेदीजी ने विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार द्विवेदीजी का शोधकार्य उस विशेष साहित्य से संबंधित है जिसका प्रसार और प्रभाव शिष्ट समाज में उतना नहीं था जितना सामान्य जनता में था। इसी आधार पर द्विवेदी जी ने उस लोकभाषा को भी नया महत्व प्रदान किया है। वह साहित्यिक न होते हुए भी अपने स्वतंत्र प्रतिमान रखती हैं। इस शोधकार्य को नवीन सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि का पर्याय माना जाय तो अनुचित न होगा।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन के आधार पर द्विवेदीजी के रासो काव्य सम्बन्धी कुछ शोधकार्य किया है यह रासो काव्य लोक काव्य की भूमिका से कुछ भिन्न है। विशेषकर पृथ्वीराजरासो की काव्य और कथारूढ़ियों के आधार पर द्विवेदीजी ने उसमें प्राचीन अंशों को ढूढ़ निकालने की चेष्टा की है। यद्यपि स्वयं भी वे पृथ्वीराजरासो के आदिम और प्रामाणिक अंश के सम्बन्ध में पूर्णतः विश्वास नहीं करते फिर भी उसका एक आनुमानिक स्वरूप उन्होंने निर्धारित

किया है जिस पर आगामी शोधकार्य के लिये पर्याप्त अवकाश है। इसी सम्बन्ध में उन्होंने पुरानी हिन्दी और अपभ्रंशकालीन भाषा स्वरूपों की खोज की है जिस पर उनके कतिपय शिष्यों ने कुछ और भी कार्य किया है। इस प्रकार हिन्दी के आदिकाल के सम्बन्ध में द्विवेदीजी की निष्पत्तियां प्रायोगिक शोध की सीमा में आती है जिनका अपना स्वतंत्र मूल्य है।

संस्कृत साहित्य से भी अभीप्सित सामग्री लेकर द्विवेदीजी ने प्राचीन कला-विलास, और काव्य रूढ़ियों आदि पर कुछ कार्य किया है जो शोध की श्रेणी में आ जाता है। यद्यपि इस शोध क्षेत्र में द्विवेदीजी शोधकार्य की अपेक्षा संग्रहकर्त्ता के कार्य को अधिक सफलता के साथ संपन्न कर सके हैं। फिर भी शास्त्रीय भूमिका पर कवि और काव्य सम्बन्धी प्राचीन निर्देश क्या रहे हैं इसका अच्छा रेखाचित्र उपस्थित किया गया है। कदाचित् द्विवेदीजी इस दिशा में इस कार्य में तत्पर हुए हैं कि वे शास्त्रीय शैली के काव्य और जनकाव्य के अन्तर को और भी स्पष्टता के साथ रूपायित कर सके हैं। कारण चाहे जो हो परन्तु इस क्षेत्र में उनके कार्य की विशेषता स्वीकार की जानी चाहिए।

द्विवेदीजी के शोधकार्य को प्राय: सांस्कृतिक भूमिका पर किया गया शोध कहा जाता है। अधिक अच्छा हो यदि हम उसे लोक संस्कृति की भूमिका पर किया गया शोध मानकर उसके विशेष अध्ययन को समझ सकें। कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी ने अपने संपूर्ण शोधकार्य द्वारा लोकसाहित्य की एक पक्की पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। वह वर्तमान लोकतंत्रात्मक जीवन व्यवस्था में विशेष मूल्य रखती है। आज हिंदी साहित्य में लौकिक संस्कृति और लोक-काव्य के शोधों की जो एक स्वतंत्रधारा चल रही है द्विवेदीजी इसके प्रमुख मार्ग निर्देशक कहे जा सकते हैं। शालीन साहित्य जो दरबारों में या शिक्षित समुदाय में महत्व रखता है अन्तत: थोड़े लोगों में ही प्रचलित हो पाता है। तुलसी और सूरदास को छोड़ दिया जाय तो इस शालीन साहित्य का क्षेत्र और विस्तार बहुत कुछ सीमित हो जाता है। रीतिकाल के कवि तो प्राय: सबके सब एक ह्रासोन्मुख जीवनचर्या के प्रतिनिधि हैं। उनका साहित्य, रस और अलंकार की दृष्टि से समृद्ध हो सका है पर जनजीवन की भूमिका पर उसका लेशमात्र भी प्रवेश नहीं है। द्विवेदीजी ने इस संपूर्ण शालीन साहित्य को एक पृथक श्रेणी में रखा। वास्तविक जनसाहित्य के स्रोतों में पैठकर उसकी प्रमुख विभूतियों को उनके संपूर्ण महत्व सहित प्रकाश में ला रखा है तो उनका यह कार्य हिन्दी साहित्य की शोधपरंपरा में एक नये प्रवर्त्तन का कार्य कहा जा सकेगा। उनके शोधकार्य के महत्व के सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं हो सकते।

९

उपसंहार और प्रदेय

व्यक्तित्व की विशेषतायें

समीक्षक और शोधकर्त्ता आचार्य द्विवेदीजी पर अपना विवेचन पूरा कर अब हम अपने प्रबन्ध का उपसंहार करना चाहते हैं। पहले अध्याय में हमने देखा है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक सामान्य ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर शिक्षा और ज्ञान लाभ के उच्चतर साधनों से बहुत कुछ बंचित रहे हैं। काफी समय तक उनका अध्ययन घर पर और ग्रामीण पाठशाला में होता रहा। परन्तु द्विवेदी जी का संकल्पशील व्यक्तित्व इतने से संतोष नहीं कर सका। फलतः उन्होंने संस्कृत और ज्योतिष में उच्च शिक्षा प्राप्त की। काशी विश्वविद्यालय पहुँचे। ज्योतिष विद्या द्विवेदीजी को अपने पूर्वजों से मिली थी। परन्तु साहित्य उनकी निजी अभिरुचि का परिणाम है। ज्योतिष में उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर के भी उन्होंने इसे अपनी आजीविका का साधन नहीं बनाया। सच पूछा जाय तो वे परम्परागत ज्योतिष पर बहुत अधिक विश्वास नहीं रखते हैं। साहित्य का अनुशीलन उन्होंने अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य बनाया है। परन्तु यहाँ भी उनकी शिक्षा, संस्कृति, साहित्य तक ही सीमाबद्ध थी। द्विवेदीजी की मनस्विता यहाँ भी परितोष न प्राप्त कर सकी और उन्होंने अंग्रेजी में हाई स्कूल की परीक्षा देकर विदेशी साहित्य के अध्ययन का द्वार भी खोल ही दिया। परिस्थितियां फिर भी उनके अनुकूल न बन सकी और वे कुछ समय तक उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर में एक सामान्य अध्यापक का कार्य ही प्राप्त कर सके। सन् १९३० के आस-पास

में रहकर द्विवेदीजी ने साहित्य के मूल्यांकन की साधना की और विशेषकर भारतवर्ष के 'मध्यकालीन साहित्य, लोक साहित्य, लोक कला आदि का अनुशीलन किया। उत्तर–भारत के विद्वान साहित्य के शिष्ट स्वरूप की ओर जितने दत्त-चित्त है शांतिनिकेतन के वातावरण में नागरिकता की ओर उतना आग्रह नहीं। भारतीय संस्कृति की मूलभूत भूमिकाओं को ढूढ़ निकालने की प्रवृत्ति अधिक थी जिनका भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। विशेषकर कवि रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी चिन्तन और मानवतावादी दृष्टि के अनुरूप शांति-निकेतन के पंडितों का विशेष अभिनिवेश है। आज हमारे द्विवेदीजी भी उन्हीं सबसे परिचालित हुए हैं।

द्विवेदीजी का अधिकांश साहित्यसर्जन शांतिनिकेतन की भूमि में हुआ था। हिन्दी साहित्य की भूमिका को अंतिम स्वरूप वहीं दिया गया। कबीर पुस्तक का निर्माण वहीं हुआ। नाथ संप्रदाय और मध्यकालीन धर्मसाधना के सूत्र वहीं से प्राप्त हुए। अशोक के फूल बाणभट्ट की आत्मकथा, वहीं की परिणतियां हैं। हम कह सकते हैं द्विवेदीजी के साहित्य का सबसे भास्वर अंश शांतिनिकेतन की देन है।

साहित्य निर्माण

यद्यपि द्विबेदीजी का मुख्य कार्य मध्यकालीन संत-साहित्य और लोक संस्कृति की विवेचना करना ही है, परन्तु वे संस्कृत साहित्य की सरणियों में भी आवागमन करते रहे हैं। प्राचीन भारत का कला विनोद उनकी ऐसी पुस्तक है जिसमें शिष्ट साहित्य के प्रणेताओं की जीवनचर्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यही नहीं उन्होंने संस्कृत साहित्य की विवेचना भी यथेष्ठ मात्रा मे की है।

विशुद्ध रूप से हिन्दी साहित्य के इतिहास पर उनकी दृष्टि कुछ समय पश्चात् गई थी और कदाचित तभी उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का अनुशीलन किया। इन साहित्यों के अनुशीलन से द्विवेदीजी को सबसे मार्मिक वस्तु प्राचीन काव्य में ही प्राप्त हुई है। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक निबन्धों पर उनका प्रभाव दिखाई देता है। इन काव्य रूढ़ियों के आधार पर द्विवेदीजी आदिकाल का इतिहास लिखने में अधिक समीप सामग्री का संकेत कर सके हैं। शांतिनिकेतन से काशी विश्वविद्यालय में आने के पश्चात् उन्होंने हिन्दी के आदि-काल के स्वरूप पर पाँच गम्भीर भाषण दिए जिनसे हिन्दी के आदिकाल के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा जैसा कि हम अन्य अध्यायों में कह चुके हैं।

आदिकाल सम्बन्धी भाषण माला से किसी प्रकार के प्रामाणिक निष्कर्ष भले ही न निकले परन्तु उनसे एक ओर तो द्विवेदीजी की सांस्कृतिक अभिरुचियों का परिचय मिलता है और दूसरी ओर नये शोधकों के विचार करने के लिये यथेष्ट सामग्री प्राप्त हुई है। जैसे कि जैन और बौद्ध साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के विद्वानों में यह भावना रही है कि आदिकाल की सृष्टि सांप्रदायिक सृष्टियाँ हैं और उन्हें साहित्य की सीमा में प्रवेश नहीं मिल सकता परन्तु द्विवेदीजी की दृष्टि उस साहित्यि कोटि की नहीं, उसमें कवियों की साहित्यिक या रसात्मक दृष्टि भी परिलक्षित होती है। रहस्यवादी सिद्ध संप्रदाय के विषय में भी द्विवेदीजी का वक्तव्य अन्य हिन्दी पंडितों के वक्तत्व से भिन्न प्रकार का है। वे सिद्ध साहित्य को हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में महत्वपूर्ण स्थान देना चाहते हैं।

हिन्दी (आदिकाल) के निर्माण करने के पश्चात् द्विवेदीजी ने अपने एक शिष्य के साथ पृथ्वीराज रासो के उस स्वरूप के निर्माण का उपाय किया जिसे वे रासो का मूलस्वरूप मानने में विश्वास रखते हैं। यद्यपि पृथ्वीराज रासो का यह संस्करण अत्यन्त लघु है और इस पर अब तक विद्वानों की स्वीकृति नहीं मिली है परन्तु एक ऐतिहासिक कल्पना को रूपाहित करने का प्रयत्न इस संग्रह में परिलक्षित करने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। अपभ्रंश साहित्य में हिन्दुओं का योगदान था। पृथ्वीराज रासो की भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदीजी के निर्देशन में ध्यान देने योग्य प्रबंध प्रकाशित हुआ है।

इतिहास लेखक

इस प्रकार का वैविध्यपूर्ण शोध कार्य करने के पश्चात् द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य नामक एक इतिहास ग्रंथ भी लिखा है। यह सही है कि इस इतिहास ग्रंथ के लिखने में द्विवेदीजी ने सम्पूर्ण अभिनिवेश नहीं दिखाया और उसे छात्रोपयोगी बनाकर इसमें विशिष्ट विवेचन को क्षीण कर दिया है फिर भी समस्त हिन्दी साहित्य पर द्विवेदीजी की एक ऐसी दृष्टि का निर्देश हो सका है जो एक सीमा तक अपनी मौलिकता रखती है। आदि कालीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर द्विवेदीजी के विचार बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं और उनकी मानवतावादी दृष्टि के परिसूचक हैं परन्तु शेष इतिहास में द्विवेदीजी कोई बड़ी मौलिकता नहीं ला सके हैं। जहाँ पर इतिहास लेखन शैली का प्रश्न है इसमें द्विवेदीजी वस्तुमुखी शैली की अपेक्षा वैयक्तिक निर्देशन शैली को अपनाते हैं। इसके कारण उनके इतिहास में एक सजीवता तो है पर एक समग्र वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित नहीं हो सका है। यदि द्विवेदीजी इस इतिहास को अधिक समय देकर

तैयार करते तो उसका ऐसा स्वरूप बन सकता था जिसे हम स्वतन्त्र इतिहास ग्रंथ तथा विशिष्ठ पद प्रधान कह सकते । आधुनिक युग के ऐतिहासिक अनुशीलन में द्विवेदीजी ने इसी एकदम स्वतन्त्र या मौलिक आधार और शैली को नहीं अपनाया फिर भी द्विवेदीजी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति कवियों और उनकी कृतियों के अन्तस्थल में प्रवेश करने में सक्षम हैं। यदि इस आधुनिक हिन्दी इतिहास का अधिक सर्वतोमुखी अध्ययन और परिशीलन किया जा सकता तो इस ग्रन्थ में कहीं अधिक प्रौढ़ता, विचार क्षमता और मौलिकता आ सकती थी।

इतिहास लेखन के पश्चात् द्विवेदीजी की समग्र कृतियाँ प्रकाश में नहीं आई। उनके स्फुट निबन्ध और भाषण अवश्य प्रकाशित हुए हैं। सुना जाता है कि उन्होंने अपना नया उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' काफी दूर तक लिख लिया है और इन दिनों वे लालित्य-मीमांसा नामक एक सौन्दर्य शास्त्र का ग्रन्थ लिख रहे हैं। इसमें भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की बिखरी हुई परम्पराओं का आकलन किया जा रहा है। हम आशा कर सकते हैं कि यह ग्रन्थ द्विवेदीजी की प्रौढ़ प्रतिभा के अनुरूप होगा और सौन्दर्यशास्त्र की शास्त्रीय परम्परा को एक स्पष्ट रूप दे सकेगा।

शान्तिनिकेतन से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर आने के पश्चात् द्विवेदीजी ने शोधकार्य में अपने विशिष्ट विद्यार्थियों को सम्पन्न कर जो कुछ कार्य किया है उसका उल्लेख हम यथास्थान कर चुके हैं। संयोगवश इन्हें काशी विश्वविद्यालय छोड़ देना पड़ा और अब ये पंजाब विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष होकर चंडीगढ़ आ गये हैं। अभी इन्हें कई वर्षों तक अध्ययन क्षेत्र में रहना है। अतएव आशा की जा सकती है कि शांतिनिकेतन में जिस व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था उसका विकास और प्रति-फलन उत्तरोत्तर होता रहेगा और द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ योगदान दे सकेगें।

शोध और समीक्षा

इस प्रकार उनकी जीवनी के विकास के साथ-साथ उनके साहित्य निर्माण का संक्षिप्त आकलन करने के पश्चात् हम विशेषकर शोध और समीक्षा के क्षेत्र में उनके कार्यों का सारांश उपस्थित करना चाहते हैं। द्विवेदीजी की समीक्षायें और शोधकार्य बहुत कुछ एक दूसरे से संग्रथित हैं बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि विशुद्ध साहित्य समीक्षा की अपेक्षा उनका झुकाव शोध की ओर अधिक रहा है। विशुद्ध समीक्षात्मक उनका कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। आधुनिक साहित्य पर उनकी समीक्षायें प्रकीर्णक प्रकार की हैं। जहाँ तक शोधकार्य का सम्बन्ध है द्विवेदीजी का

कार्य कुछ तो परिचय मूलक है उसे हम छायानुवाद भी कह सकते हैं। संस्कृत साहित्य पर लिखे गये उनके निबन्ध अधिकतर इसी श्रेणी में आते हैं। परन्तु द्विवेदीजी का वास्तविक शोध कार्य साहित्य इतिहास और संस्कृति पर है। यहाँ पर उन्होंने अपनी विशेष अभिमुखता का परिचय दिया है। आठवीं-नवीं शताब्दी से आरम्भ कर १४वीं १५वीं शताब्दियों तक प्राय: ६०० वर्षों के साहित्य का शोधन और मूल्याकन इनकी विशेष देन है। यह समग्र साहित्य अब तक प्राय: उपेक्षित रहा है। द्विवेदीजी के कार्य से इस पर अभिनव प्रकाश पड़ा है। हम पिछले अध्यायों में उनके शोध कार्य का विवरण दे चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतीय अलंकार युग के साहित्यिक और विशेषकर उसके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को एक नवीन आलोक देकर द्विवेदीजी ने बहुत कुछ ऐतिहासिक कार्य किया है। उनके विचारों से सहमत होना सर्वत्र आवश्यक नहीं है। परन्तु उनके अध्ययन और अनुशीलन का मूल्य स्वीकार करना भारतीय विद्यार्थियों के लिए अत्यावश्यक है। यह सही है कि द्विवेदीजी शोध और अनुशीलन कार्य में लोक संस्कृतिवादी आदर्श को लेकर चले हैं। इन्हीं शताब्दियो में संस्कृत का अतिशय संबृद्ध और समृद्ध साहित्य विद्यमान है जिसकी और द्विवेदीजी ने अधिक ध्यान नहीं दिया। अतएव उन शताब्दियों के समग्र सांस्कृतिक जीवन का एक पक्षहीन उद्‌घाटन द्विवेदीजी का विषय रहा है। यह पक्ष एक भाब मूलक पक्ष है। इतिहास की समग्रता कदाचित् इसमें पूर्णता से प्रतिबिंबित नहीं हो सकी है। परन्तु इस प्रकार द्विवेदीजी के प्रयासों में कोई विशेष कमी नहीं आती। उनका लक्ष्य साहित्य के माध्यम से सम्पूर्ण संस्कृति का पर्यवेक्षण करना कदाचित् नहीं था। परन्तु संस्कृति के एक विशेष युग और पक्ष की जो समग्र विवेचना द्विवेदीजी ने की है वह हिन्दी साहित्य में अपार महत्व रखती है।

यद्यपि हमारे प्रवन्ध में द्विवेदीजी का समीक्षक और शोधकर्त्ता रूप ही प्रधान है परन्तु हमने द्विवेदीजी के इतिहासकार और शैलीकार स्वरूप का विवेचन भी दो अध्यायों में किया है। एक अन्य अध्याय में हमने उनके आचार्यत्व का निर्देशन प्रस्तुत किया है। इतिहास वास्तव में समीक्षा और शोध का ही एक मिला-जुला स्वरूप है। अतएव द्विवेदीजी का इतिहास ग्रंथ भी उनके समीक्षक और शोधकर्त्ता स्वरूप का एक विस्तार है। अपने इतिहास ग्रंथ में द्विवेदीजी ने अपने मध्यकालीन शोधों का यथेष्ट उपयोग किया है। इस दृष्टि से उसमें नयी सामग्री और नया विवेचन प्राप्त होता है। हम पिछले एक अध्याय में यह भी देख चुके हैं कि द्विवेदीजी ने इतिहास लेखन में समन्वय लाने का प्रयत्न किया है। पूर्ववर्ती इतिहास लेखक अपने साहित्य की प्रवृत्तियों का इतिहास ग्रन्थों में निर्देश

करके और कवियों की चर्चा भी करते थे। इन दोनों में तारतम्य स्थापित करने में वे अंशतः सफल हुए थे। द्विवेदीजी का इतिहास यद्यपि छोटा है पर पूर्ववर्ती इतिहासों की अपेक्षा उसमें समीकरण का तत्व अधिक स्पष्ट हो सका है। इसे हम हिन्दी इतिहास लेखन में विकास की एक दिशा ही कह सकते हैं। हम द्विवेदी जी की उस आकलन प्रतिभा का भी उल्लेख कर चुके हैं जिसके द्वारा वे कवि विशेष या कृति विशेष की केन्द्रीय विशेषता का स्पर्श करते हुए और उस केन्द्र से भी अपने विवरणों की परिधि खींचते हैं। यह भी कवि विवेचन की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। इन सबके साथ द्विवेदीजी की मूल मानवतावादी दृष्टि का योग हो जाने से उनके इतिहास में एक दूसरी समग्रता भी आ गई है। इस प्रकार द्विवेदीजी का इतिहास लेखन नयी सामग्री और नयी शैली का पर्याप्त मात्रा में आनयन कर सका है।

शैलीकार

प्रचुर मात्रा में विवेचनात्मक और विचारात्मक साहित्य का निर्माण करते हुए भी द्विवेदीजी एक शैलीकार के दायित्व को भी पूरा कर सके हैं। उनकी शैली धारावाहिक भावात्मक और लोकाभिमुखी है। आचार्य शुक्ल की शैली की सी तटस्थता और अनुक्रमशीलता द्विवेदीजी में नहीं हैं। अन्य स्वच्छंद-तावादी लेखकों की सी संस्कृतगत और सुविन्यस्त शैली से भी द्विवेदीजी पृथक स्थिति रखते हैं। उन्होंने यों तो बाणभट्ट की आत्मकथा से बाण की काव्यात्मक और सामासिक शैली के उदाहरण उपस्थित किए हैं परन्तु कदाचित् यह उनकी सहज शैली नहीं है। वह केवल उनके भाषा अधिकार का द्योतन करती है। द्विवेदीजी की वास्तविक शैली उनके निबन्धों में पाई जाती है। विशेषकर वैयक्तिक निबन्धों में उनकी शैली का प्रतिनिधि स्वरूप मिलता है। उसे संक्षेप में सहज शैली का नाम लिया जा सकता है। अपने एक पिछले अध्याय में हम द्विवेदीजी की गद्यशैली का यथेष्ठ विबरण दे चुके हैं। यहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि द्विवेदी जी की एक स्वतन्त्र शैली जिसका अंतरंग और वाह्यांग विधान अन्य शैलीकारों से स्वतन्त्र है जैसा कि हम कह चुके हैं उनकी शैली का अंतरंग उनकी भाव प्रवणता से अनुशासित हैं। जहाँ तक उनके विचारात्मक और शोधात्मक निबन्ध की बात है वे भी इसी भावात्मकता से अनुप्राणित हैं। यहकदाचित् विषय स्थापन में पूर्णतः समर्थ नहीं हैं, फिर भी इस शैली का अपना गुण यह है कि इसके द्वारा केवल विद्वानों को ही नहीं साधारण पाठकों को भी आकृष्ट किया जा सकता है।

द्विवेदीजी की शैली की दूसरी विशेषता उसकी संवादात्मक प्रवृत्ति है।

द्विवेदीजी अपने पाठक को सदैव अपने सम्मुख रखकर लिखते हैं। कतिपय अन्य शैली गद्यकारों की भाँति वे आत्मोन्मुख नहीं हैं। उनकी शैली की यह वाह्यार्थ-वादिता उनको एक लोकप्रिय शैलीकार बनाने में समर्थ है।

जहां तक उनकी शैली के बहिरंग का प्रश्न है हमने यह देखा है कि द्विवेदी जी का भाषा और शब्द चयन पर बहुत अच्छा अधिकार है। इसका अच्छा उपयोग उनके साहित्यिक निर्माण में किया गया है परन्तु शब्द चयन में द्विवेदीजी न तो पवित्रतावादी हैं और न परिष्कारवादी। जो कोई शब्द उन्हें अपनी सहज शैली के लिए उपयुक्त प्रतीत होता है उसे चुन लेने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। फलत: द्विवेदीजी की शैली का बाह्य आधार व्यापक है और चयनशील भी है। इस दृष्टि से द्विवेदीजी अपने पूर्वज आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी के अधिक समीप कहे जा सकते हैं। यह अंतर फिर भी बना रहता है कि द्विवेदीजी की भाषा शैली में गतिशीलता और प्रवाह अधिक है जबकि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की शैली में अनेकरूपता है। वैसे द्विवेदीजी की शैली अधिक संयत और मन्द गति हैं, इन दोनों पंडितों की शैली में व्यंग्य और विनोद का भी प्रचुर स्थान है। परन्तु जहाँ महावीर प्रसाद द्विवेदी की शैली में व्यंग्यों का आधिक्य है द्विवेदीजी की शैली में विनोद की प्रधानता है। यह भी कहा जा सकता है कि आचार्य महा-वीर प्रसाद द्विवेदी के व्यंग और विनोद अधिक खुले हुए हैं जबकि हजारी प्रसाद द्विवेदीजी की शैली में ये अधिक प्रच्छन्न और व्यंजक होकर आये हैं।

युगीन शैलीकारों में द्विवेदीजी का उल्लेखनीय स्थान है। उनकी शैली आयास की सूचना कहीं नहीं देती। इसलिये इसे सहज कहा जा सकता है। बोल-चाल के अधिक समीप होने के कारण उनकी शैली प्रेमचन्द के भी समीप कही जा सकती हैं परन्तु प्रेमचन्द की भांति द्विवेदीजी में उर्दू का आधिक्य नहीं है और न ग्रामीण मुहावरों की अधिकता है। हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द की अपेक्षा वे हिन्दी की अपनी परम्परा के अधिक निकट हैं। द्विवेदीजी की शैली पर बंगला भाषा के साहित्यिकों का प्रभाव भी लक्षित होता है। विशेषकर उनके व्यंग्य और विनोद का स्वरूप बंगाली साहित्यिकों के सामीप्यजन्य प्रभाव का द्योतक है। यह सब होते हुए भी द्विवेदीजी की शैली आधुनिक हिन्दी के क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्र इकाई लिए हुए है और वह इकाई पर्याप्त विशिष्ट और मूल्यवान है।

आचार्यत्व

उपर्युक्त विशेषताओं से समन्वित द्विवेदीजी का साहित्यिक कार्य तथा

उनके कृतित्व और व्यक्तित्व की अन्य विशेषतायें उन्हें हिन्दी के आधुनिक आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुई हैं। हम पिछले एक अध्याय में आचार्य शब्द का अर्थ और उसकी विशेषता का परिचय दे चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में भिन्न-भिन्न विशेषताओं के आधार पर महावीर प्रसाद द्विवेदी, डा० श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल पिछली पीढ़ी के प्रमुख आचार्य कहे जा चुके हैं। इनकी तुलना में द्विवेदीजी के आचार्यत्व की कतिपय विशेषताओं का दिग्दर्शन भी कराया जा चुका है। वर्तमान पीढ़ी में द्विवेदीजी के अतिरिक्त आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी की गणना की जाती है। इन तीनों की तुलना करना यहाँ वांछनीय नहीं है परन्तु इतना तो हम देखते ही हैं कि इन तीनों के व्यक्तित्व और उनका साहित्यिक कार्य बहुत कुछ पृथक पृथक है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र शास्त्रीय पद्धति के पंडित और आचार्य हैं। उनका प्रमुख कार्य साहित्य की शास्त्रीय व्याख्या करना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रचुर शोध कार्य किया है और अपनी स्वतन्त्र स्थापनायें दी हैं। विशेषकर रीतिकालीन काव्य पर उनकी मीमांसायें उल्लेखनीय हैं। उन्होंने भी हिन्दी साहित्य का अतीत नामक इतिहास ग्रंथ लिखा और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' नामक एक पुस्तक भी लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने घनानन्द को रीतियुक्त कवि के रूप में प्रस्थापित किया है। बिहारी, केशव, भूषण और पद्माकर आदि के सम्बन्ध में उनकी स्वतन्त्र पुस्तकें प्राप्त होती हैं। साहित्य के सिद्धान्त पक्ष पर उनका वाङ्मय विमर्श प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मिश्रजी को उनकी इन्हीं कृतियों के आधार पर हम शास्त्रीय परम्परा का आचार्य कह सकते हैं। श्री आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी के सम्बन्ध में यहां विशेष कुछ कहना समीचीन नहीं जान पड़ता, विशेषकर इस कारण कि वे हमारे इस प्रबन्ध के निर्देशक भी हैं। तथापि संक्षेप में कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य और विशेषकर छायावादी काव्य को एक अभिनव साहित्यिक भूमिका देकर प्रथम बार उसका सांगोपांग विवेचन उन्होंने किया है। इसके अतिरिक्त वास्तविक रूप में भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा पद्धति को एक साथ संग्रथित कर उन्होंने हिन्दी समीक्षा में एक मौलिक प्रतिमान का आविर्भाव किया है। उन्हें आधुनिक हिन्दी का प्रथम स्वच्छंदतावादी समीक्षक कह सकते हैं। हिन्दी के विशाल आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में इतनी प्रामाणिकता और नवीनता के साथ लिखने वाले व्यक्ति को यदि आचार्यत्व की पदवी दी गई तो इसमें किसी प्रकार की असंगतता नहीं है वरन् समीक्षा में एक नये युग का विन्यास करने के कारण वह उपाधि उनके सर्वथा उपयुक्त है। आचार्य वाजपेयी जी ने प्राचीन साहित्य और विशेषत: तुलसीदास एवं सूरदास जैसे प्राचीन कवियों के ग्रन्थों का

संपादन किया और उनके काव्य पर मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। इन कारणों से पूरे हिन्दी साहित्य में उनकी एक स्वतन्त्र दृष्टि का विन्यास हो सका है। इस समय हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिये आधुनिक साहित्य पर वाजपेयी जी के वक्तव्य प्रमुख आधार का काम दे रहे हैं।

इस भूमिका पर जब हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को लाकर रखते हैं तो सबसे पहले यह अभिज्ञात होता है कि द्विवेदीजी प्रमुखतः प्राचीन साहित्य और उसके विविध स्वरूपों को प्रकाश में लाने वाले आचार्य हैं। उनका दृष्टिकोण सांस्कृतिक है, वे मानवतावादी विचारक हैं। उन्होंने साहित्य को साधन माना है साध्य नहीं, इस दृष्टि से उनका साहित्यादर्श अत्यन्त स्वतन्त्र और नवीन है। भारतीय अंधकार युग की भिन्न परम्पराओं को उन्होंने प्रकाशित किया है जो हिन्दी साहित्य के नवीन अध्येताओं के लिए काफी मूल्यवान है। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से अथवा एकदम ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर द्विवेदीजी की उद्भावनाओं और निष्कर्षों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है परन्तु लोकजीवन की भूमिका पर उन्होने प्राचीन साहित्य का जो अनुशीलन किया है वह निस्संदेह मूल्यवान है।

द्विवेदीजी केवल समीक्षक और शोधकर्त्ता ही नहीं एक स्वतन्त्र रचनात्मक कृतिकार भी हैं। यों तो उनके निबन्धों में यह रचनात्मक शक्ति परिलक्षित होती है परन्तु 'बाण भट्ट की आत्मकथा' नामक औपन्यासिक कृति में वह और भी स्पष्ट हो गई है। यह उपन्यास हिन्दी संसार में न केवल सम्मानित है बल्कि एक स्वतन्त्र पद्धति का निदर्शक माना गया है। इस उपन्यास को लिखकर द्विवेदीजी ने प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अन्तिम उल्लेखनीय युग पर एक नया आलोक केन्द्रित किया है। हर्ष-बर्द्धन के समय की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था विभिन्न धार्मिक और रहस्यवादी चिन्तनधारायें राजकीय परिवेश आदि के सम्बन्ध में द्विवेदीजी ने औपन्यासिक सीमा में यथेष्ट विवरणपूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं। यहाँ द्विवेदीजी के कलाकार रूप के साथ उनके पंडित रूप के युगपत दर्शन होते हैं।

अब तक द्विवेदीजी की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ अपनी निर्माणावस्था में हैं। एक तो वे भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास लिख रहे हैं जो हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक नयी वस्तु होगी। दूसरे वे चारुचन्दलेख नामक एक अन्य उपन्यास भी लिख रहे है जिसमें कुछ अंश पत्र-पत्रिकाओं में

प्रकाशित हुए हैं। इन दोनों ग्रन्थों के प्रणयन के पश्चात् द्विवेदीजी एक शास्त्रज्ञ विद्वान के अतिरिक्त एक विशिष्ट कलाकार के रूप में भी हमारे समक्ष आ सकेंगे। इस प्रकार द्विवेदीजी के आचार्यत्व में रचना और विचारणा के दोनों ही पक्ष समाहित हो जाते हैं जिसके कारण उनका साहित्यिक ऐश्वर्य और भी दीप्तिमान हो जाता है।

प्रदेय

द्विवेदीजी के सम्पूर्ण प्रदेय को पहले तो ऐतिहासिक भूमिका पर देखा जाना चाहिए और इसके पश्चात् उसे अपनी तार्किक भूमि पर भी देखना आवश्यक होगा। ऐतिहासिक भूमिका से हमारा आशय आधुनिक साहित्य के विकास में द्विवेदीजी के योगदान से है। तात्विक भूमिका से हमारा आशय उनकी उन साहित्यिक और वैचारिक विशेषताओं से है जिनसे उनके कार्य के स्थायी मूल्यों का आकलन हो सकेगा। हमारी यह रचना विशेषकर द्विवेदीजी के समीक्षक और शोधकर्त्ता व्यक्तित्व से है इसलिये हम यहाँ इन्हीं दो रूपों मे उनके ऐतिहासिक योगदान पर विचार करेंगे।

ऐतिहासिक प्रदेय

द्विवेदीजी के पूर्व हिन्दी में विचारकों, समीक्षकों और साहित्यिकों की एक लम्बी परम्परा चली आ रही थी। उनमें से कुछ विचारक तो विशुद्ध साहित्यिक क्षेत्र के थे, कुछ अन्य साहित्य के साथ भाषा और इतिहास के पक्षों को मिलाकर चलते रहे हैं परन्तु साहित्य के साथ सामाजिक और लोकजीवन के समस्त योग को और उस लोकजीवन की दार्शनिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों को एक साथ मिलाकर देखने का प्रयत्न अपेक्षाकृत कम किया गया था। द्विवेदीजी के साहित्य को सांस्कृतिक विकास का साधन मानकर संस्कृति के परिवेश में ही साहित्य की समीक्षा भी है। द्विवेदीजी की संस्कृति सम्बन्धी धारणा काफी विस्तृत है। उसमें समाज, सामाजिक और राजनैतिक इतिहास, धार्मिक दार्शनिक उद्भावनायें, लोकजीवन के आचार विचार और विश्वास सब एक साथ संग्रथित हैं। संस्कृति के इतने विस्तीर्ण स्वरूप को आधार बनाने के कारण द्विवेदीजी का साहित्यानुशीलन एक नयी ही भूमिका पर पहुँच गया है। इसे हम एक शब्द में समाहित साहित्य भूमिका कह सकते हैं। इस प्रकार की समग्र भूमिका हिन्दी के क्षेत्र में इसके पूर्व इतनी स्पष्ट नहीं थी। अतएव हम इसे द्विवेदीजी का उल्लेखनीय प्रदेय कह सकते हैं।

संपादन किया और उनके काव्य पर मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। इन कारणों से पूरे हिन्दी साहित्य में उनकी एक स्वतन्त्र दृष्टि का विन्यास हो सका है। इस समय हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिये आधुनिक साहित्य पर वाजपेयी जी के वक्तव्य प्रमुख आधार का काम दे रहे हैं।

इस भूमिका पर जब हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को लाकर रखते हैं तो सबसे पहले यह अभिज्ञात होता है कि द्विवेदीजी प्रमुखत: प्राचीन साहित्य और उसके विविध स्वरूपों को प्रकाश में लाने वाले आचार्य हैं। उनका दृष्टिकोण सांस्कृतिक है, वे मानवतावादी विचारक हैं। उन्होंने साहित्य को साधन माना है साध्य नहीं, इस दृष्टि से उनका साहित्यादर्श अत्यन्त स्वतन्त्र और नवीन है। भारतीय अंधकार युग की भिन्न परम्पराओं को उन्होंने प्रकाशित किया है जो हिन्दी साहित्य के नवीन अध्येताओं के लिए काफी मूल्यवान है। विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से अथवा एकदम ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर द्विवेदीजी की उद्भावनाओं और निष्कर्षों के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है परन्तु लोकजीवन की भूमिका पर उन्होने प्राचीन साहित्य का जो अनुशीलन किया है वह निस्संदेह मूल्यवान है।

द्विवेदीजी केवल समीक्षक और शोधकर्त्ता ही नहीं एक स्वतन्त्र रचनात्मक कृतिकार भी हैं। यों तो उनके निबन्धों में यह रचनात्मक शक्ति परिलक्षित होती है परन्तु 'बाण भट्ट की आत्मकथा' नामक औपन्यासिक कृति में वह और भी स्पष्ट हो गई है। यह उपन्यास हिन्दी संसार में न केवल सम्मानित है बल्कि एक स्वतन्त्र पद्धति का निदर्शक माना गया है। इस उपन्यास को लिखकर द्विवेदीजी ने प्राचीन भारतीय सम्यता और संस्कृति के अन्तिम उल्लेखनीय युग पर एक नया आलोक केन्द्रित किया है। हर्ष-बर्द्धन के समय की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था विभिन्न धार्मिक और रहस्यवादी चिन्तनधारायें राजकीय परिवेश आदि के सम्बन्ध में द्विवेदीजी ने औपन्यासिक सीमा में यथेष्ट विवरणपूर्ण चित्र उपस्थित किए हैं। यहाँ द्विवेदीजी के कलाकार रूप के साथ उनके पंडित रूप के युगपत दर्शन होते हैं।

अब तक द्विवेदीजी की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ अपनी निर्माणावस्था में हैं। एक तो वे भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास लिख रहे हैं जो हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक नयी वस्तु होगी। दूसरे वे चारुचन्दलेख नामक एक अन्य उपन्यास भी लिख रहे है जिसमें कुछ अंश पत्र-पत्रिकाओं में

प्रकाशित हुए हैं। इन दोनों ग्रन्थों के प्रणयन के पश्चात् द्विवेदीजी एक शास्त्रज्ञ विद्वान के अतिरिक्त एक विशिष्ट कलाकार के रूप में भी हमारे समक्ष आ सकेंगे। इस प्रकार द्विवेदीजी के आचार्यत्व में रचना और विचारणा के दोनों ही पक्ष समाहित हो जाते हैं जिसके कारण उनका साहित्यिक ऐश्वर्य और भी दीप्तिमान हो जाता है।

प्रदेय

द्विवेदीजी के सम्पूर्ण प्रदेय को पहले तो ऐतिहासिक भूमिका पर देखा जाना चाहिए और इसके पश्चात् उसे अपनी तार्किक भूमि पर भी देखना आवश्यक होगा। ऐतिहासिक भूमिका से हमारा आशय आधुनिक साहित्य के विकास में द्विवेदीजी के योगदान से है। तात्विक भूमिका से हमारा आशय उनकी उन साहित्यिक और वैचारिक विशेषताओं से है जिनसे उनके कार्य के स्थायी मूल्यों का आकलन हो सकेगा। हमारी यह रचना विशेषकर द्विवेदीजी के समीक्षक और शोधकर्त्ता व्यक्तित्व से है इसलिये हम यहाँ इन्हीं दो रूपों मे उनके ऐतिहासिक योगदान पर विचार करेंगे।

ऐतिहासिक प्रदेय

द्विवेदीजी के पूर्व हिन्दी में विचारकों, समीक्षकों और साहित्यिकों की एक लम्बी परम्परा चली आ रही थी। उनमें से कुछ विचारक तो विशुद्ध साहित्यिक क्षेत्र के थे, कुछ अन्य साहित्य के साथ भाषा और इतिहास के पक्षों को मिलाकर चलते रहे है परन्तु साहित्य के साथ सामाजिक और लोकजीवन के समस्त योग को और उस लोकजीवन की दार्शनिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों को एक साथ मिलाकर देखने का प्रयत्न अपेक्षाकृत कम किया गया था। द्विवेदीजी के साहित्य को सांस्कृतिक विकास का साधन मानकर संस्कृति के परिवेश में ही साहित्य की समीक्षा भी है। द्विवेदीजी की संस्कृति सम्बन्धी धारणा काफी विस्तृत है। उसमें समाज, सामाजिक और राजनैतिक इतिहास, धार्मिक दार्शनिक उद्भावनायें, लोकजीवन के आचार विचार और विश्वास सब एक साथ संग्रथित हैं। संस्कृति के इतने विस्तीर्ण स्वरूप को आधार बनाने के कारण द्विवेदीजी का साहित्यानुशीलन एक नयी ही भूमिका पर पहुँच गया है। इसे हम एक शब्द में समाहित साहित्य भूमिका कह सकते हैं। इस प्रकार की समग्र भूमिका हिन्दी के क्षेत्र में इसके पूर्व इतनी स्पष्ट नहीं थी। अतएव हम इसे द्विवेदीजी का उल्लेखनीय प्रदेय कह सकते हैं।

मानवतावादी दर्शन

अपने समस्त साहित्यिक काल में द्विवेदीजी की एक अन्तर्निहित दृष्टि भी दिखाई देती है वह दृष्टि एक शब्द में मानवतावादी है। यों तो मानवतावाद शब्द के अनेकानेक रूपों और प्रकारों पर पंडितों ने विचार किया है पर द्विवेदोजी जिस मानवतावादी दृष्टिकोण को उपस्थित कर सके हैं वह बहुत कुछ नियत परिभाषा का दृष्टिकोण नहीं है। उनमें मानवतावादी विशिष्ट सामाजिक वर्गों और शास्त्र सम्मत प्रतिमानों के प्रभावों का स्वीकरण नहीं है बल्कि व्यापक लोकजीवन और विशेषकर बहुसंख्यक अन्त्यज वर्गों की निर्माणात्मक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराना ही उन्हें अभीष्ट है। मानवतावाद के इस आदर्श को अपना लेने के कारण द्विवेदीजी एक प्रकार से साहित्य की शालीन और परम्परागत मान्यताओं से कुछ दूर भी चले गये हैं परन्तु इसी कारण ये ऐसे तथ्यों का भी संग्रह कर सके हैं जो दूसरी दृष्टि से अधिक मूल्यवान है।भारतीय इतिहास केवल राजाओं और पंडितों का इतिहास नहीं है। उसमें उन असंख्य, अनाम और अपरिचित वर्गों और जातियों का भी योगदान है जिसका हमें सम्यक् बोध नहीं था। इस प्रकार द्विवेदीजी ने मानवतावादी आदर्श इतिहास का एक नए प्रकार से उद्घाटन कर दिया है। व्यावहारिक रूप में संत कवियों की जीवनी और उनका काव्य विभिन्न संप्रदायों की दार्शनिक और अध्यात्मिक मान्यताओं और विश्वासों को सहृदयता से देखने और समझने का कार्य हिन्दी के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने सम्पन्न किया है। उनकी इसी मानवतावादी धारणा के कारण इतिहास, समाजशास्त्र, धर्म, अध्यात्म सभी पक्षों को एक नया अर्थ और एक नयी दीप्ति मिल सकी है। क्रमागत साहित्यिक आदर्शों में जिन अनेकानेक कृतियों को साम्प्रदायिक समझकर छोड़ दिया था उन्हें द्विवेदीजी ने नये सिरे से प्रकाश में ला रखा है। भले ही साहित्यिक भूमिका पर उन कृतियों का अधिक मूल्य न हो पर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तथ्यों के अनुशीलन के लिये ऐसी कृतियों का अपना स्वतन्त्र स्थान है। इस प्रकार द्विवेदोजी ने अपने प्रयत्नों से हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्रों में चिन्तन की एक नयी भूमिका प्रदान की है। यह उनका दूसरा मूल्यवान प्रदेय है।

भारतवर्ष में अनेक भाषायें प्रारम्भ से ही प्रचलित हैं। अनेक जातियां और वर्ग यहाँ विकसित और वर्द्धमान हुए हैं। इस विविधता को आधार बनाकर विभिन्न पंडितों ने एक एक भाषा क्षेत्र के साहित्य का अनुशीलन किया था। विविधता में एकता लाने वाले सीमित दृष्टि को विस्तार देने वाले उपकरण

सामान्यतः साहित्यिकों की दृष्टि में नहीं आये थे। द्विवेदीजी ने समस्त भारतीय साहित्य और वाङ्मय को एक इकाई के रूप में देखने का प्रयत्न किया है। हिंदी, गुजराती, मराठी, बंगला, राजस्थानी प्रदेशों में जो एक सी सांस्कृतिक गतिविधियाँ पूर्वकाल में प्रचलित थीं उनका समाहार करके उन्हें एक समन्वित भूमिका पर ला रखने का उद्योग भी एक मूल्यवान कार्य कहा जायेगा। द्विवेदीजी ने प्राचीन साहित्य के शोध में इसी दृष्टि का प्रयोग किया है। फलतः वे बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ, निर्गुण, सगुण भक्ति के संप्रदायों को एक ही भारतीय भूमिका पर रखकर देखने में संलग्न हुए हैं। हिन्दी के संघ, गुजराती के संघ अलग अलग नहीं हैं केवल उनकी भाषा अलग है। संतप्त की भूमिका पर वे समान हैं। यही नहीं एक ही संप्रदाय का विकास गुजरात, राजस्थान और उत्तरभारत में तथा एक ही नाथ संप्रदाय का विकास विभिन्न प्रदेशों में हुआ था। जब तक इस भारतीय एकता का बोध नहीं हो जाता तब तक भारतीय साहित्य को विभिन्न इकाइयों में बाँटकर पढ़ने में हमें उनके समग्र मूल्यों का ज्ञान नहीं हो सकेगा। द्विवेदीजी की व्यापक दृष्टि इस महत्वपूर्ण तथ्य को अच्छी तरह समझकर आत्मसात् कर सकी थी। तभी उनकी समीक्षाओं और शोधों में प्रादेशिक भाषाओं की इकाई उतनी मुखर नहीं है जितनी एक सार्वदेशिक भूमिका का संस्थापन। हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी की इस सार्वदेशिक सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्न प्रादेशिक साहित्यों में समान प्रेरणा सुत्रों को ढूंढने में अधिक सहायता मिलेगी। स्वतः द्विवेदीजी का अध्ययन अभी आंशिक रूप से इस समग्रता का परिचय दे पाया है परन्तु इस दृष्टि का आधार लेकर नये युग और नयी पीढ़ियों के विद्यार्थी भारतीय साहित्य का समग्रता पूर्ण अध्ययन और अनुशीलन करने में समर्थ हो सकेंगे ऐसी आशा की जा सकती है।

तात्विक प्रदेय

साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत रस अलंकार आदि के विभिन्न संप्रदाय प्रचलित हैं और विभिन्न आचार्य अपने-अपने संप्रदायों के पक्ष में पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं। इन समस्त संप्रदायों का समाहार संस्कृत साहित्यशास्त्र में उपलब्ध है। आचार्य सम्मट इसी समन्वय के प्रमुख प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। रस, अलंकार, रीति, गुण आदि साहित्यिक मत यद्यपि मूलतः मानव जीवन के कलात्मक पक्ष से सम्बन्धित हैं परन्तु अनेक बार इन तत्वों का मानवीय सम्बन्ध लोगों की दृष्टि से ओझल हो जाता है और तब साहित्यिक विवेचनों में गड़बड़ी आने लगती है। होता यह है कि मानवीय भाव भूमिका तथा मानवीय संस्कृति

और आदर्शों और उसके विकासमान मूल्यों से सम्बन्ध विच्छेद कर ये रस अलंकार आदि कोरी शास्त्रीय भूमिका पर आधारित हो जाते हैं और तब एक प्रकार से कृत्रिम काव्य का और कला का सृजन होने लगता हैं। यूरोप में कला के लिए कलावाद का आन्दोलन इसी का निदर्शक है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि रस अलंकार आदि साहित्यिक परम्परागत तथ्यों और तत्वों के सम्बन्ध छूट जाने पर साहित्यिक प्रतिमान लुप्त होने लगते हैं और वैसी स्थिति में कला और साहित्य की परम्परायें टूट जाती हैं और एक विशृंखलता उत्पन्न होती है। यह एक विचित्र द्वन्द्वात्मक स्थिति है कि एक ओर इन साहित्यिक मूल्यों को छोड़ा भी नहीं जा सकता और दूसरी ओर इन मूल्यों को एकमात्र ही तत्व मान लेने पर मानवीय विकास से साहित्य का सम्बन्ध उच्छिन्न हो जाता है। एक या दूसरी ओर अति की दिशा में जाने पर विशृंखलता का उत्पन्न होना अवश्यं-भावी है। संस्कृत साहित्य के शास्त्रीय युगों में कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब साहित्यिक कृतियों का सम्बन्ध मानवीय जीवन प्रवाह से कटकर अलग हो गया है। ऐसे अवसरों पर केवल आलंकारिक और चमत्कार पूर्ण साहित्य की सृष्टियां होती रही हैं। इसी प्रकार ऐसे युग भी साहित्यिक इतिहास में प्राप्त होते हैं जब साहित्य का सम्बन्ध साहित्य की सुदृढ़ परम्पराओं से टूट गया है। वैसी स्थिति में लोक साहित्य की सृष्टि होने लगती है जिसमें सौन्दर्य और रस के पक्ष तिरोहित हो जाते हैं। इस द्वन्द्वात्मक परिस्थिति से प्रत्येक दूरदर्शी चिंतक को गुजरना पड़ता है। इस समस्या का हल कदाचित् यह है कि साहित्य चिंतक और विचारक कला के मानवीय पक्ष और उसकी सौन्दर्य भूमिका को समन्वित करके आगे बढ़ें। वास्तव में आधुनिक युग में कला और साहित्य की यह एक विशेष समस्या रही है। कुछ विचारक साहित्य को उपदेशात्मकता की ओर खीच ले गये हैं और कुछ विचारक उसे विशुद्ध कला की दृष्टि से देखना चाहते हैं। उपदेशात्म-कता का आधिक्य साहित्य को उसकी प्रवाह क्षमता से दूर फेंक देना और युगीन भावनाओं और चेतनाओं से रिक्त कला और साहित्य भी अतिशय एकांत और निष्प्राण हो जायेंगे। ऐसे ही अवसरों पर ऐसे समीक्षकों की आवश्यकता पड़ती है जो एक ओर कला का सम्बन्ध जीवन से और दूसरी ओर जीवन का विनियोग कला के माध्यम से करा सके।

आचार्य द्विवेदीजी ने अपने युग के इस साहित्य की इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को समझा था और उन्होंने इनमें सामंजस्य लाने का उद्योग भी किया है। यह सही है कि युगीन भूमिका पर द्विवेदीजी का यह समन्वयात्मक प्रयास साहित्य के जीवन पक्ष की ओर कुछ अधिक झुक गया है और साहित्य तथा

कला की अपनी परम्परायें कुछ उपेक्षित हुई हैं। फिर भी द्विवेदीजी का प्रयत्न उस दिशा में हैं जो युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप है। प्रजातन्त्रात्मक अवस्था में प्रगतिशील मानव जीवन की आवश्यकतायें सर्वोपरि होती हैं। जहां-जहाँ साहित्य वर्गीय भूमिका ग्रहण करता है और सामान्य जनता से दूर चला जाता है वहाँ वहाँ साहित्य के समीक्षक को उसकी वर्गीयता और विशेषाधिकार की असमानता कर उसे जनजीवन के अधिक समीप लाना पड़ता है। द्विवेदीजी का दूसरा साहित्यिक प्रयत्न इसी प्रगतिशील दिशा की ओर है। यदि उन्होने युगीन चेतना का साथ देते हुए साहित्य के परम्परागत मानों की किसी हद तक उपेक्षा की है तो यह उनका एक अवश्यंभावी दिशा निर्देश भी कहा जा सकता हैं। परन्तु रसों और अलंकारों की व्याख्या करते हुए द्विवेदीजी ने अनेक बार उसके मानवीय आधार के साथ-साथ उसकी परम्परागत सौन्दर्य और आनन्द भूमिकाओं का उल्लेख किया है। उन्होंने इन शब्दों से किसी प्रकार तिरस्कृत नहीं होने दिया। अतएव हम कह सकते हैं कि आधुनिक साहित्य की एक विषम और जटिल समस्या का समाधान करते हुए द्विवेदीजी ने संतुलन खोया नहीं है। जहाँ एक ओर उन्होंने निर्गुण संप्रदाय की साहित्यिक परम्पराओं से अल्प परिचित कबीर जैसे कवियों को असाधारण महत्व दिया है वहाँ उन्होंने संस्कृत साहित्य के काव्य ग्रन्थों के प्रति यथेष्ठ सम्मान व्यक्त किया हैं। द्विवेदीजी की ये समन्वयात्मक दृष्टि युगीन विकास के अनुरूप तो है ही, वह साहित्यिक समीक्षण का एक संतुलित प्रतिमान भी प्रस्तुत करती है। इसे हम तात्विक भूमिका पर द्विवेदी जी का एक प्रदेय ही मानेंगे।

शान्तिनिकेतन में प्रमुखत: कवींद्र रवींद्र के संपर्क में रहते हुए और बंगाल की विद्वन-मंडली का साहचर्य प्राप्त करते हुए द्विवेदीजी ने साहित्य को आध्यात्मिक मूल्यों के साधन के रूप में भी ग्रहण किया है। रवींद्रनाथ महान रहस्यवादी और दार्शनिक कवि हैं। उन्होंने शांतिनिकेतन में ऐसे पंडितों का समुदाय स्थापित किया था जो भारतीय अध्यात्म की अनेक गुत्थियों को सुलझा कर उपस्थित कर सकें। रवि बाबू ने उपनिषदों, गीता तथा अन्य अध्यात्म ग्रन्थों के साथ-साथ कबीर जैसे आध्यात्मिक साधकों के चरित्र का यथेष्ट पारायण किया था। उन्होने कबीर की पदावली का एक अंग्रेजी अनुवाद भी अपनी ही लेखनी से प्रस्तुत किया था। उन्हीं के साहचर्य और संपर्क से भारतीय कला के क्षेत्र में भी एक विशाल परिवर्तन घटित हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लेकर नन्दलाल वसु और अन्य कलाकारों के द्वारा जिस इण्डियन आर्ट की संस्थापना हुई उसका बहुत कुछ श्रेय शांतिनिकेतन को है। साहित्यिक क्षेत्र में रवींद्रनाथ का प्रभाव प्राय: समस्त भारतीय भाषाओं पर पड़ा था। स्वल्पाधिक मात्रा में सारे भारत

में रवींद्रनाथ की रहस्यवादी काव्य साधना का अनुसरण भी हुआ है। द्विवेदीजी इस महान राष्ट्रीय साहित्यिक और कलात्मक प्रवर्तन का सीधा साक्षात्कार कर सके हैं अतएव उनके ऊपर भारतीय नवोत्थान की इस कला साधना का प्रभाव न पड़ता यह सम्भव नहीं था। द्विवेदीजी के समस्त साहित्य में अध्यात्म पक्ष को जो सुस्थिर और सुदृढ़ भूमिका मिलती है वह इस भारत व्यापी नव्यकला साहित्योत्थान का प्रतिरूप ही है। हिन्दी के स्वच्छंदतावादी काव्य के नाम पर प्रचलित प्रसाद, निराला और पंत की काव्य सृष्टियां विशुद्ध स्वच्छंदतावादी न होकर अध्यात्मोन्मुख बनी हुई हैं। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और विचारणा में इन कवियों के प्रति एक नैसर्गिक आत्मीयता का होना आवश्यक था। हम यह देखते भी हैं कि उन्होंने हिन्दी के छायावादी कवियों पर सहानुभूतिपूर्ण टिप्पणियां लिखी हैं इसके विपरीत वे तथाकथित प्रगतिवादी और पश्चिमवादी प्रभाव से आपन्न प्रयोगवादी साहित्य को अपनी संपूर्ण सहानुभूति दे सके हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी की अध्यात्मोन्मुख साहित्यिक चेतना कबीर से प्रसाद तक प्रसरित दिखाई पड़ती है। एक ही अपवाद प्रेमचन्द जी का मिलता है जिनमें सामाजिक जीवन और संघर्षों की प्रचुरता मिलती है। द्विवेदीजी ने अपने आध्यात्मिक संस्कारों के साथ प्रेमचन्द जी का भी स्वागत किया है। यह उनकी व्यापक सहानुभूतियों का परिचायक तत्व है। द्विवेदीजी के अध्यात्म और रहस्यवाद में इस संघर्षशील समाज सुधारक लेखक के लिये भी स्थान है। इससे उन की आध्यात्मिकता की गहराइयों और विस्तार का बोध होता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य में एक साथ प्रसाद, पंत, और प्रेमचन्द के लिये जो प्रशंसात्मक वक्तव्य दिये हैं उन्हें तात्विक भूमिका पर उनका अन्य प्रदेय कहा जायगा। दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली साहित्य सरणियों का समान सहानुभूति से आकलन और आशंसा करने वाले समीक्षक बिरले ही होते हैं परन्तु द्विवेदीजी के व्यक्तित्व में इतने व्यापक संस्कार संयोजित हो चुके हैं कि वे रहस्यवादी काव्य और समाजवादी उपन्यास लेखन को विकास की एक ही धारा में सन्निहित कर सके है। गंगा और यमुना का यह संगम जिस पवित्र त्रिवेणी का निर्माण करता है उसमें द्विवेदीजी ने जी खोलकर स्नान किया है।

द्विवेदीजी का एक अन्यतम प्रदेय यह भी है कि वे एक समीक्षक और शोधकर्त्ता ही नहीं रचनाशील साहित्यकार भी हैं। हिन्दी में पिछली पीढ़ी तक प्राय: सभी समीक्षक स्वतन्त्र रचनाकार भी रहे हैं। उदाहरण के लिये मिश्रबन्धु एक समीक्षक और इतिहास लेखक ही न थे कवि और औपन्यासिक भी थे। इसी प्रकार कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी सक्रिय साहित्य रचयिता

थे। इस परम्परा के अंतिम व्यक्ति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे जिन्होंने अपने गम्भीर समीक्षा कार्य के साथ-साथ बुद्ध चरित जैसा काव्य ग्रन्थ भी लिखा। अनेकानेक छोटी बड़ी कवितायें और निबन्ध भी लिखे। वे कहा करते थे कि मुझे स्वतंत्र लेखन में जितता आनन्द आता है उतना बौद्धिक समीक्षा कार्य में नहीं। परन्तु यह परम्परा वर्तमान युग में आकर बहुत कुछ क्षीण हो गयी है। आधुनिक समीक्षकों ने थोड़ी बहुत स्वतन्त्र रचनायें तो प्रस्तुत की हैं परन्तु वे मुख्यत: विवेचक और विश्लेषक बन बैठे हैं। परिस्थितियों के दबाव ने उन्हें इस विशेषज्ञता की ओर खींच रखा है। साहित्य में यह एक उल्लेखनीय प्रश्न रहा है कि केवल विवेचना क्या साहित्यकार का एकमात्र धर्म हो सकता है और क्या कोरा विवेचन साहित्य के साथ न्याय कर सकता है? योरोपीय साहित्य में भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है। उनके यहाँ कवि समीक्षकों की एक समृद्ध परम्परा हैं परन्तु वर्तमान समय में सबके सब समीक्षक कवि या उपन्यासकार नहीं हैं। यदि टी० यस० इलियट विचारक होने साथ-साथ एक श्रेष्ठ कवि भी हैं तो आई० ए० रिचर्डस विशुद्ध समीक्षक हैं। इनके पूर्व के समीक्षकों की दो श्रेणियां रही हैं। एक वह जो कवि समीक्षकों की है और दूसरी वह जो केवल विचार-कर्त्ताओं की है। यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकता है कि विचारक या समीक्षक साहित्य के मर्म के साथ न्याय करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु कदाचित् यह आदर्श स्थिति कही नहीं जा सकती। साहित्य का तत्व और मर्म जानने के लिए साहित्यिक और रचनात्मक निर्माण की भी आवश्यकता है। वैसा न होने पर साहित्यिक विचारों में वैज्ञानिकता भले ही बढ़ जाय परन्तु साहित्यिक सौन्दर्य सम्पूर्णत: शायद ही उद्घाटित हो सके।

द्विवेदीजी के साथ यह सुयोग देखा जाता है कि वे कोरमकोर एक समीक्षक और शोधकर्त्ता ही नहीं हैं। उन्होंने भावात्मक भूमिका पर एक मानवतावादी दर्शन अपना रखा है, जिसके कारण उनके समस्त समीक्षा और शोधकार्य में एक स्वतन्त्र अर्थवक्ता भी आ गई है। परन्तु इससे भी अधिक विशेषता यह है कि वे एक स्वतन्त्र रचयिता और कलाकार भी हैं। उन्होंने कोई काव्यकृति नहीं लिखी परन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा नामक उपन्यासिक कृति तैयार की है जो काव्य का पूरा आनन्द देती है। इस प्रकार द्विवेदीजी ने साहित्यिक विचारणा, भावात्मक दर्शन और रचनाशील साहित्य की त्रिविध क्षमताओं से संपन्न होकर आधुनिक समीक्षकों की अपेक्षा एक व्यापक साहित्यकार और समीक्षक का प्रदेय पूरा किया है। वर्तमान समय में जब साहित्यिक विवेचन में वैज्ञानिकता का आग्रह बढ़ रहा है द्विवेदीजी की समीक्षायें एक प्रसन्न और

भावज्ञ साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रतिफलन करती है। बहुत से वैज्ञानिक किन्तु स्वदेशीय समीक्षकों की अपेक्षा द्विवेदीजी अधिक व्यापक साहित्यिक और मानवीय भूमिका पर अपना कार्य संपन्न कर सके हैं। आज की साहित्यिक समीक्षा जब विज्ञान की शुष्क भूमि पर प्रवेश कर रही है तब द्विवेदीजी की समीक्षायें एक हरे-भरे संसार का प्रत्यय देती है। यह निश्चय नहीं कि हिन्दी समीक्षा भविष्य में कौन-सा रूप ग्रहण करेगी। परन्तु आशंका यह अवश्य है कि वह कोरी वैचारिक मरीचिकाओं में भटक न जाये। द्विवेदीजी का समीक्षा-कार्य इस प्रकार की आशंकाओं का प्रतिवाद करने के लिये एक सामयिक और तात्विक ज्योति संकेत देती है और हम यह भी आश्वासन पाते हैं कि साहित्य समीक्षा की नई वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक खाइयों और गड्ढों के बीच द्विवेदीजी का समीक्षा और शोध कार्य एक वाद रहित और नि:संशय साहित्यिक राजपथ को निर्मित कर उस पर भविष्य के साहित्यिकों को सुविधा पूर्वक तथा निरापद चलने का आह्वान करता रहेगा।

लेखक की कृतियाँ

समीक्षात्मक ग्रंथ

१ सूरसाहित्य
२ नखदर्पण में हिन्दी कविता
३ सूर और उनका काव्य
४ साहित्य का साथी
५ आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार
६ मृत्युजयी (रवीन्द्रनाथ)

शोधात्मक कृतियाँ

७ कबीर
८ मध्यकालीन धर्मसाधना
९ नाथसंप्रदाय
१० हिन्दी साहित्य का आदिकाल

ऐतिहासिक कृतियाँ

११ हिन्दी साहित्य की भूमिका
१२ हिन्दी साहित्य

निबन्धात्मक कृतियाँ

१३ अशोक के फूल
१४ हमारी साहित्यिक समस्यायें
१५ विचार और वितर्क
१६ साहित्य का मर्म
१७ विचार प्रवाह
१८ कल्पलता

छायानुवाद

१९ प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद

२० प्राचीन भारत के कलात्मक विलास
२१ प्रबन्ध चिन्तामणि
२२ पुरातन प्रबन्ध संग्रह
२३ प्रबन्ध कोश
२४ विश्व परिचय
२५ मेरा बचपन
२६ लाल कनेर
२७ रवीन्द्रनाथ की कवितायें

सम्पादित ग्रंथ

२८ सन्देशरासक
२९ संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो
३० नाथ सिद्धों की वाणियाँ

कथा-साहित्य

३१ बाणभट्ट (की आत्मकथा)
३२ चारुचन्द्रलेख
३३ मेघदूत (एक पुरानी कहानी)

अनुपलब्ध व अप्रकाशित पुस्तकों के नाम

३४ लालित्य मीमांसा (प्रेस में)
३५ सन्तों का सूक्ष्मवेद
३६ अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य
३७ कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्रसाधन सामग्री
३८ भारत नाटक परम्परा और दशरूपक (प्रेस में)

सहायक पुस्तकें

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास
२ तुलसीदास
३ जायसी ग्रंथावली
४ भ्रमर गीतसार

आचार्य श्यामसुन्दरदास

५ भाषा रहस्य
६ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
७ भाषा-विज्ञान
८ कबीर दोहावली

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

९ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी
१० नया साहित्य-नए प्रश्न
११ आधुनिक साहित्य
१२ महाकवि सूरदास
१३ आधुनिक काव्य रचना और विचार

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

१४ हिन्दी साहित्य का अतीत
१५ हिन्दी का समसामयिक साहित्य

डा० पीताम्बरदास बड़थ्वाल

१६ हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय
१७ सूरदास

डा० चन्द्रबली पाण्डेय

१८ तुलसीदास
१९ केशवदास
२० विचार और विमर्श

डा० नगेन्द्र

२१ विचार और विश्लेषण
२२ विचार और विवेचन
२३ विचार और अनुभूति

डा० भगवत्स्वरूप मिश्र

२४ हिन्दी समीक्षा का उद्भव और विकास

डा० मुन्शीराम शर्मा

२५ सूरदास और भगवद्भक्ति

२६ भारतीय साधना और सूर साहित्य
२७ सूर सौरभ

डा० हरिवंशलाल शर्मा

२८ सूर काव्य की आलोचना
२९ सूर और उनका काव्य

डा० रामकुमार वर्मा

३० हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
३१ हिन्दी साहित्य का इतिहास
३२ सन्त कबीर

शचीरानी गुर्टू

३३ हिन्दी के आलोचक

रामचन्द्र तिवारी

३४ हिन्दी गद्य के निर्माता

श्री व्यथित हृदय

३५ हमारे गद्यकार

डा० शिवकुमार शर्मा

३६ हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ

डा० रामाधार शर्मा

३७ हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा

डा० विपिनबिहारी त्रिवेदी

३८ चन्दबरदाई और उनका काव्य

रामगोपालसिंह चौहान

३९ हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ

सत्यकाम वर्मा

४० हिन्दी साहित्यावलोकन

सिंहासनराम सिद्धेश

४१ हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार
४२ हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग

जयनाथ नलिन

४३ हिन्दी के निबन्धाकार

पत्र-पत्रिकायें

१ धर्मयुग, फरवरी १९६२
२ आलोचना—आलोचनांक
३ सरस्वती सम्बाद
४ विशाल भारत, मार्च १९५४
५ विशाल भारत, अगस्त, १९४७
६ विश्वभारती पत्रिका
७ साहित्य सन्देश, १९५५
८ अजन्ता, १९५३
९ सम्मेलन पत्रिका, सं० २०१०
१० सरस्वती संवाद, अप्रेल-मई-जून, १९६२
११ साहित्य सन्देश सितम्बर १९५२
१२ सरस्वती संबाद, जून, १९५९
१३ साहित्य संदेश, अप्रेल, १९५२
१४ सरस्वती संवाद, १९५७
१५ साहित्य संदेश, दिसम्बर १९५२
१६ साहित्य संदेश, मई १९५३
१७ सरस्वती, फरवरी १९५५
१८ अवन्तिका, १९५३
१९ संगम, जनवरी १९४९
२० साहित्य संदेश, मार्च, १९५७
२१ साहित्य सन्देश, दिसम्बर १९५४
२२ प्रतीक
२३ सम्मेलन पत्रिका, सं० २०११
२४ नया समाज, सन् १९५४
२५ नया समाज, सन् १९५५
२६ हिन्दी अनुशीलन, मार्च १९६२